आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध

महाकवि स्वयम्भू

[अपभ्रंश-भाषा के महान् कवि के जीवन-वृत्त, कृतियों और उनके काव्य-गुणों का समीक्षात्मक अध्ययन]

लेखक
डा० संकटा प्रसाद उपाध्याय,
एम० ए०, पी-एच० डी०
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
गवर्नमेंट डिग्री कालिज, पिथौरागढ़

भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़

प्रकाशक : भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़

मुद्रक : आदर्श प्रेस, अलीगढ़
प्रथम संस्करण : अप्रेल १९६९
मूल्य : रु० १२·५० पै०

प्रस्तावना

कुछ समय से अपभ्रंश भाषा और साहित्य के अध्ययन की ओर हिन्दी के विद्वानों, शोध-कर्त्ताओं और विद्यार्थियों का ध्यान आकृष्ट हुआ है और यह देखकर प्रसन्नता होती है कि वाङ्मय के इस उपेक्षित अंग के अनुशीलन में हमारे शोधार्थी उत्तरोत्तर अधिक संख्या में प्रवृत्त हो रहे हैं। अपभ्रंश भाषा हिन्दी की अग्रजा है और हिन्दी-साहित्य की अनेक परम्पराओं का मूल उत्स अपभ्रंश-साहित्य में मिलता है। अतएव यह स्वाभाविक है कि हिन्दी की पूर्व-पीठिका के रूप में अपभ्रंश भाषा और साहित्य का अध्ययन-अनुशीलन हमारे शोध-कर्त्ताओं का प्रिय विषय हो। वास्तव में इस कार्य की ओर हमारा ध्यान और पहले जाना चाहिए था।

अपभ्रंश पर अब तक जितने ग्रन्थ प्रकाश में आये हैं वे मुख्यत: या तो अपभ्रंश भाषा की प्रकृति और विकास से सम्बन्धित हैं या उसके साहित्य के सामान्य सर्वेक्षण से। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में डा० संकटा प्रसाद उपाध्याय ने पहली बार यह प्रयत्न किया है कि अपभ्रंश के एक कवि को लेकर उसकी कृतियों के सूक्ष्म-गहन अध्ययन के आधार पर उनके काव्य-गुणों का मूल्यांकन किया जाय। स्वयंभू की प्रबन्ध-प्रतिभा अप्रतिम है। अपनी इसी प्रतिभा के बल पर उन्होंने 'पउमचरिउ' तथा 'रिट्ठणेमिचरिउ' दो अमर महाकाव्यों की रचना कर अपभ्रंश भाषा को अभूतपूर्व गौरव से मंडित किया है। डा० उपाध्याय ने इन दोनों महाकाव्यों का अध्ययन अपने शोध-प्रबन्ध में प्रस्तुत किया है। जैसा कि उन्होंने स्पष्ट किया है, इस कार्य में उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। 'पउमचरिउ' के तीसरे खंड के प्रकाशन के लिए उन्हें दीर्घ काल तक प्रतीक्षा करनी पड़ी और 'रिट्ठणेमिचरिउ' का अध्ययन तो उसकी पांडु-लिपियों के आधार पर ही सम्भव हुआ।

इस संदर्भ में डा० उपाध्याय का अध्यवसाय और परिश्रम निस्सन्देह प्रशंसनीय है। 'महाकवि स्वयंभू' का अवलोकन करने से लेखक की शोध-प्रवृत्ति और सूक्ष्म विवेचन-शक्ति का पता चलता है। स्वयंभू के काव्य-गुणों की समीक्षा में लेखक ने शास्त्रीय मानदंडों का सफलता-पूर्वक उपयोग किया है। 'पउमचरिउ' एवं 'रिट्ठणेमिचरिउ' के काव्यात्मक तथा मार्मिक स्थलों के चयन और निरूपण में भी उन्हें अभीष्ट सफलता मिली है।

मुझे आशा है कि 'महाकवि स्वयंभू' के प्रकाशन से अपभ्रंश साहित्य के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा को बल मिलेगा और जिज्ञासु पाठक तथा विद्वान् अध्येता इस उपयोगी कृति से अवश्य लाभान्वित होंगे।

नगेन्द्र

गणतंत्र दिवस '६८ — दिल्ली विश्वविद्यालय

कृतज्ञता-प्रकाशन

जिस समय आदरणीय डाक्टर कोछड़ के निर्देशन में महाकवि स्वयंभू के कृतित्व के विषय में यह शोध-कार्य मैंने हाथ में लिया उस समय उनके दो महाकाव्यों, "पउमचरिउ" और "रिट्ठणेमिचरिउ" में से "पउमचरिउ" का केवल दो-तिहाई भाग सम्पादित होकर प्रकाशित हो चुका था। उसका शेष तिहाई भाग शीघ्र प्रकाशित होगा, ऐसी आशा थी। "रिट्ठणेमिचरिउ" के विषय में भी विश्वास किया जाता था कि उसका सम्पादन शीघ्र ही पूरा हो जायगा और प्रकाशित होकर वह काव्य-समीक्षा के लिए सुलभ हो सकेगा। पर यह आशा पूरी नहीं हुई, विश्वास फलीभूत नहीं हुआ। पउमचरिउ का तीसरा भाग दीर्घ प्रतीक्षा के पश्चात् प्रकाशित हुआ और रिट्ठणेमिचरिउ तो आज भी उस शुभ दिन की बाट देख रहा है जब उसे प्रकाश में आने का अवसर मिलेगा।

शोध-कार्य किसी के लिए कभी निष्कंटक नही रहा। कठिनाइयाँ हर एक के मार्ग में होती हैं। परन्तु मेरी कठिनाई अपने ढंग की विचित्र कठिनाई रही है। मेरे लिए वह सामग्री ही दुर्लभ थी जिसका अध्ययन करके स्वयंभू के काव्य-गुणों का मूल्यांकन करना मेरे शोध का विषय था।

'रिट्ठणेमिचरिउ' की पाण्डुलिपि प्राप्त करने के लिये मुझे कितने ही विद्वानों से लिखा-पढ़ी करनी पड़ी। इसके लिए मुझे बम्बई और पूना का भी चक्कर लगाना पड़ा। अन्त में शान्ति निकेतन के डाक्टर रामसिंह तोमर की कृपा से ग्रन्थ की पाण्डुलिपि मुझे देखने और अध्ययन करने के लिए प्राप्त हुई। डा० तोमर ने न केवल रिट्ठणेमिचरिउ की पाण्डुलिपि को मेरे लिए सुलभ बनाया, वरन् मेरे शान्ति-निकेतन के निवास-काल में उन्होंने हर प्रकार से मेरी सहायता की। मेरी निवास-भोजन-व्यवस्था से लेकर पाण्डुलिपि को पढ़ने और अर्थ समझाने तक में उन्होंने अपना अमूल्य समय प्रदान किया। डा० तोमर का सहानुभूतिपूर्ण साहाय्य न प्राप्त होता तो रिट्ठणेमिचरिउ की प्राप्ति और उसका अध्ययन असम्भव ही था।

रिट्ठणेमिचरिउ की पाण्डुलिपि की खोज मे जब मुझे बम्बई और पूना की यात्रा करनी पड़ी तो अवसर से लाभ उठाकर मैं "पउमचरिउ" के विद्वान् सम्पादक डा० हरिवल्लभ चूनीलाल भायाणी से मिला। डा० भायाणी लगातार कई दिनों तक अपभ्रंश-भाषा और साहित्य तथा विशेषकर पउमचरिउ के सम्बन्ध में मेरी कठिनाइयों का समाधान करते रहे। उनका वह समय बहुत व्यस्तता का समय था। फिर भी डाक्टर भायाणी जिस धैर्य और उदारता के साथ मेरी कठिनाइयों को सुनते और जिस सहृदयता से उनके समाधान मे घंटो अपना समय लगाते उसके लिए मैं उनका चिर-ऋणी रहूँगा।

बम्बई-यात्रा का एक दूसरा लाभ भी मुझे हुआ। वहाँ मैंने प्राकृत के प्रख्यात विद्वान् और "प्राकृत साहित्य" के लेखक डाक्टर जगदीशचन्द्र जैन के दर्शन किये। रिट्ठणेमिचरिउ की पाण्डुलिपि मुझे बम्बई में नही प्राप्त हो सकी परन्तु जैन कृष्ण-कथा-सम्बन्धी पर्याप्त सामग्री मुझे डा० जैन के यहाँ देखने को मिली। डाक्टर जैन के इस विषय के अध्ययन से मैंने पूरा लाभ उठाया। एतदर्थ उनके प्रति आभार प्रकट करना मेरा कर्तव्य है।

श्रद्धेय डा० हरिवंश कोछड़ को, जिनके प्रोत्साहन से इस कार्य में मैंने हाथ लगाया था और जिनके आशीर्वाद से ही यह पूरा हो सका है, धन्यवाद देकर क्या कभी उऋण हो सकता हूं ? वह मेरे लिए उस मूल अवलम्ब-स्थल के सदृश रहे हैं जहाँ से निराश या निरुत्साह होकर लौटने का प्रश्न ही नहीं उठता । मृदुता और सहृदयता से भरे हुए उनके अगाध पांडित्य को इस अवसर पर मैं अपनी श्रद्धापूर्ण प्रणति ही निवेदित कर सकता हूं ।

साहित्य-वाचस्पति डा० नगेन्द्र जी के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करना मैं अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूं कि उन्होंने अपने अत्यन्त व्यस्त समय में से अवकाश निकाल पुस्तक पर समीक्षात्मक दृष्टि डाली और उसकी प्रस्तावना लिखने की कृपा की ।

अपने अनन्य मित्र डा० कृपाराम बघवाल का मैं आभारी हूं जिनकी प्रेरणा से मैं शोध-कार्य में प्रवृत्त हुआ और जो आद्योपान्त मेरा उत्साह-वर्धन और मार्ग-प्रदर्शन करते रहे । इस कार्य में जिन अन्य मित्रों से मुझे समय-समय पर साहाय्य प्राप्त हुआ है उनमें श्री प्रेमचन्द्र शुक्ल, श्री चन्द्रिका प्रसाद श्रीवास्तव एवं श्री हीरालाल शुक्ल मेरे विशेष धन्यवाद के पात्र हैं । कई वर्षों तक चलने वाले शोध-कार्य के इस अनुष्ठान को पूरा करने में मेरी पत्नी से मुझे सतत सहायता और प्रेरणा मिली है । उन्हें धन्यवाद देना औपचारिकता मात्र होगी ।

पुस्तक में कहीं-कहीं मुद्रण की अशुद्धियाँ रह गई हैं । एक त्रुटि विशेष रूप से उल्लेख्य है । अपभ्रंश के उद्धरणों में व्यंजनों के ऊपर जहाँ ह्रस्व ए की मात्रा छपनी चाहिए थी वहाँ, टाइप के अभाव में, ऐ और कहीं-कहीं ऐं की मात्रा छपी मिलेगी । उदार पाठकों से प्रार्थना है कि पढ़ने में इसे सुधार लें ।

अन्त में भारत प्रकाशन मन्दिर के स्वामी श्री बद्रीप्रसाद शर्मा तथा आदर्श प्रेस के व्यवस्थापक श्री चन्द्रप्रकाश शर्मा के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन मेरा कर्त्तव्य है जिनके सहयोग से इस शोध-प्रबन्ध का प्रकाशन सम्भव हुआ है और जिन्होंने इसे सुन्दर रूप देने के सभी प्रयत्न किये हैं ।

—लेखक

* * * *

विषय-सूची

* * * *

अध्याय 1

अपभ्रंश-साहित्य और स्वयंभू

अपभ्रंश भाषा को साहित्यिक अभिव्यक्ति के सक्षम माध्यम बनने का गौरव विक्रम की छठीं शताब्दी में प्राप्त हुआ, पर उसके कई शताब्दी पूर्व से उसका नामोल्लेख मिलना आरम्भ हो जाता है। प्राचीन साहित्यकारों द्वारा अपभ्रंश शब्द का प्रयोग पहले उन शब्दों को अभिहित करने के लिए विशेषण रूप में हुआ जो संस्कृत व्याकरण के नियमों से व्युत्पन्न नहीं थे। यह नाम एक प्रकार की अवमानना का ही प्रतीक रहा होगा। किन्तु कालान्तर में यही उस भाषा की संज्ञा बन गया।

काल-क्रम से विचार करें तो अपभ्रंश-विषयक प्राप्त उल्लेखों में सबसे प्राचीन उल्लेख व्याडि के नाम ने सम्बद्ध है। व्याडि 'संग्रहकार' के रूप में स्मृत हैं, पर उनका संग्रह अनुपलब्ध होने के कारण यह निर्दिष्ट करना सम्भव नहीं कि उनकी किस उक्ति में और किस रूप में अपभ्रंश का उल्लेख आया है। व्याडि की चर्चा पतंजलि (२ शताब्दी ई० पू०) के 'महाभाष्य'[1] में मिलती है। इससे इतना तो सिद्ध ही है कि वह महाभाष्यकार से पहले हुए थे। कई शताब्दियों बाद भर्तृहरि (५ शती) ने भी अपने 'वाक्य पदीयम्' के एक सूत्र के वार्तिक[2] में उनका निर्देश किया है। पंडित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के अनुसार व्याडि पाणिनि की बुआ के बेटे थे और उन्होंने पाणिनि के दस लकारों में 'ट्, ङ्' की जगह 'हुष्' लगाकर नए नाम बनाए जिससे 'व्याड्युपज्ञं हुष्करणम्' की उक्ति प्रसिद्ध हुई।[3] पाणिनि का समय विद्वानों ने ईसवी पूर्व ४०० वर्ष के लगभग माना है। उपर्युक्त कथन के आधार पर व्याडि उनके समकालीन थे, इसलिए उनका समय भी ईसा के ४०० वर्ष पूर्व मानना अनुचित न होगा। इस प्रकार अपभ्रंश-शब्द का इतिहास पाणिनि काल में ही आरम्भ हो जाता है। निस्सन्देह, स्वयं पाणिनि ने अपभ्रंश का नाम कहीं नहीं लिया है। वस्तुतः पाणिनि ने प्राकृत शब्द का भी कहीं उल्लेख नहीं किया है।[4] उनके लिए संस्कृत ही 'भाषा' थी जिसका पार्थक्य यदि किसी से दिखाना था तो उसके पूर्व की छंदस् या वैदिक भाषा से और जिसे वे 'इति वेदे' कह कर सूचित करते थे। प्राकृत भाषा का अस्तित्व तब स्वीकार नहीं हुआ था। पाणिनि में 'विभाषा' का प्रयोग अवश्य मिलता है पर वह केवल 'भाषा' का वैकल्पिक रूप बताने के लिए।

संग्रहकार व्याडि द्वारा अपभ्रंश का उल्लेख परोक्ष प्रमाण पर आधारित है। प्रत्यक्ष प्रमाण का अनुगमन करें तो अपभ्रंश का सर्वप्रथम उल्लेख पातंजल महाभाष्य में प्राप्त होता है:—

१—महाभाष्यम्-किलहार्न संस्करण, भाग १, पृ० ६ और ४६८ तथा भाग ३ पृ० ३५६।

२—शब्द प्रकृतिरपभ्रंशः इति संग्रहकारो नाप्रकृतिरपभ्रंशः स्वतंत्र कश्चिद्विद्यते। वाक्य पदीयम्, प्रथम काण्ड, कारिका १४८ का वार्तिक।

३—'पुरानी हिन्दी', प्रथम संस्करण, संवत् २००५ वि०, पृ० ११७ की पाद-टिप्पणी।

४—मुरलीधर श्रीवास्तव, हिन्दी तद्भव शास्त्र, कलाकार प्रकाशन, पटना, १९६१, पृष्ठ ९।

एकस्यैव शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः । तद् यथा गौरित्यस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिकेत्येवमादयो अपभ्रंशाः । म० भा० १-१-१

महाभाष्याकार अपभ्रंश शब्दों के विरोधी[1] प्रतीत होते हैं । वह इन्हें अपशब्द कहते हैं । और इनके प्रयोग से अधर्म की आशंका करते हैं—

यथैव हि शब्द ज्ञाने धर्मः, एवमपशब्द ज्ञानेप्य धर्मः । अथवा भूयानधर्मः प्राप्नोति । भूयांसोऽपशब्दाः । अल्पीयांसः शब्दाः । म० भा० १-१-१

अर्थात् जैसे शब्दों को भली भाँति जानने में धर्म होता है उसी प्रकार अपशब्दों के जानने में अधर्म होता है, यही नहीं, धर्म की अपेक्षा अधर्म अधिक होता है । अपशब्दों की संख्या अधिक है, शब्दों की कम ।

इससे प्रतीत होता है कि पातंजल-युग में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई थीं जिनके प्रभाव से 'भाषा' में अपशब्दों की संख्या बढ़ चली थी ।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन का विचार[2] है कि अपभ्रंश से पतंजलि का तात्पर्य वैदिक और लौकिक संस्कृत से भिन्न तत्कालीन भाषा है जो कि पालि-समूह की थी । वास्तव में वैयाकरणों ने संस्कृत से इतर भाषा अथवा बोली के लिए तो प्राकृत शब्द का प्रयोग किया है लेकिन संस्कृत से इतर शब्द के लिए अपभ्रंश का ।[3] पतंजलि-काल में 'भाषा' के पद पर पालि की प्रतिष्ठा थी, अपभ्रंश का प्रयोग मुनि ने असाधु शब्दों के लिए ही किया होगा, किसी भाषा के अर्थ में नहीं । तात्पर्य यह है कि पतंजलि के समय में अपभ्रंश की स्थिति शब्द के आगे नहीं बढ़ी थी ।

जिस समय भरत (२ ईसवी शती) के 'नाट्यशास्त्र' की रचना हुई उस समय प्राकृत का युग चल रहा था । नाट्यशास्त्र में प्राकृतों को देश और प्रयोक्तानुसार ७ भाषाओं (मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, वाह्लीका, दाक्षिणात्या)[4] और ६ उपभाषाओं (शकारी, आभीरी, चाण्डाली, शावरी, द्राविडी, आंध्री)[5] में विभक्त किया गया है । साथ ही शब्द-प्रयोग की दृष्टि से इन प्राकृतों के तीन प्रकार बताए गए हैं—(१) जिसमें संस्कृत के समान शब्दों का प्रयोग हो, (२) जिसमें संस्कृत से विकृत शब्दों का प्रयोग हो तथा (३) जिसमें

१—आचार्य नरेन्द्र नाथ, प्राकृत भाषाओं का रूप-दर्शन, रामा प्रकाशन, नजीराबाद, लखनऊ, १९६२ पृ० ६ ।

२—दोहाकोश, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना, १९५७, पृष्ठ ४ ।

३—देखिए नामवर सिंह, हिन्दी के विकास मे अपभ्रंश का योग, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, पृ० ५ ।

४—मागध्यवन्तिजा प्राच्या शौरसेन्यर्धमागधी ।
वाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्त भाषाः प्रकीर्तिताः ।। नाट्यशास्त्र १७, ४९,

५—शकाराभीर चाण्डाल शबर द्रविडान्ध्रजाः ।
हीना वनेचराणां च विभाषा नाटके स्मृताः ।। वही १७, ५०—२

देशी शब्दों का प्रयोग हो।[1] अर्थात् प्राकृतों में तीन प्रकार के शब्दों का प्रयोग होता था—तत्सम, विभ्रष्ट और देशी।

भरतमुनि का 'उक्त' 'विभ्रष्ट' और कुछ नहीं, पतंजलि का 'अपशब्द या 'अपभ्रंश' ही है।[2] नाटकों की भाषा संस्कृत और विभिन्न प्राकृत की जिसमें अपभ्रंश शब्दों की छौंक लगी रहती थी। नाटकों के अतिरिक्त अन्य प्रकार की रचनाओं में भी यह प्रवृत्ति जोर पकड़ने लगी थी। विमल सूरि (३ ई० श०) रचित प्राकृत भाषा के प्रथम जैन महाकाव्य 'पउमचरिय' में अपभ्रंश शब्दों का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में मिलता है।[3] इसी शती में प्रसिद्ध जैनाचार्य पादलिप्त सूरि-रचित सर्व-प्राचीन जैन-कथा 'तरंग वइकहा' में भी, जो दुर्भाग्य से इस समय अप्राप्य है, अपभ्रंश शब्दों का प्रचुर प्रयोग बताया जाता है। किन्तु लक्ष्य करने की बात यह है कि अपभ्रंश की व्याप्ति अभी तक शब्दों तक सीमित है। अपभ्रंश में रचना के नमूने अभी नहीं मिलते। चंड (३—४ ई० शती) के 'प्राकृतलक्षण'[4] और कालिदास (५ ई० शती) के 'विक्रमोर्वशीय'[5] में पाए जाने वाले एक-दो दोहों के आधार पर अपभ्रंश में साहित्य-रचना की तिथि को पीछे खींचना ठीक नहीं होगा क्योंकि 'प्राकृतलक्षण' का रचनाकाल निर्विवाद[6] नहीं है और 'विक्रमोर्वशीय' में आए हुए अपभ्रंश पदों को कुछ विद्वान् क्षेपक[7] मानते हैं।

भरतमुनि की 'आभीरोक्तिः'[8] को दंडी के 'आभीरादिगिरः' काव्येष्वपभ्रंशइति स्मृताः' (काव्यादर्श, १—४६) के साथ मिलाकर देखने से यह भ्रम हो सकता है कि आभीर की भाषा के रूप में अपभ्रंश की प्रतिष्ठिा भरत के समय में हो चुकी थी। वास्तविकता यह है कि बीज वपन होने पर भी अभी तक अपभ्रंश विकसित भाषा नहीं बन पाई थी।

इस तथ्य को सभी स्वीकार करते हैं कि अपभ्रंश का आविर्भाव आभीर-जाति के भारत में प्रवेश के साथ आरम्भ हुआ। आभीर-जाति लगभग १५० वर्ष ई० पू०[9] इस देश की सीमा में प्रविष्ठ हुई और आधुनिक पाकिस्तान के पश्चिमोत्तर भाग में बस गई। फिर अपने पूर्वी

१—त्रिविधं तच्च विज्ञेयं नाट्ययोगे समासतः।
समान शब्दं विभ्रष्टं देशीगतमथापि च॥ वही १७, २—३
हरवंश कोछड़, अपभ्रंश साहित्य, भारती साहित्य मंदिर,
दिल्ली, पृ० २ से उद्धृत।

२—तद्भव-शास्त्र, पृष्ठ २५।

३—ए० बी० कीथ: ए हिस्ट्री ग्राव संस्कृत लिटरेचर, १९५६ पृ० ३४

४—काल लहेविणु जोइग्रा, जिवं जिवं मोहु गलेइ।
तिवं तिवं दंसणु लहइ जो णिग्र में ग्रप्प मुणेइ॥ (प्राकृत लक्षण)

५—मइं जाणिउ मिग्र लोग्रणि णिसियरु कोइ हरेइ।
जावरण णव तीड सामलो धाराहरु बरिसेइ॥ 'विक्रमोर्वशीय'

६—जगदीश चन्द्र जैन : प्राकृत साहित्य का इतिहास, चौखम्मा विद्याभवन, वाराणसी, १९६१, पृ० ६३९।

७—'तद्भव शास्त्र', पृ० २६।

८—ग्राभीरोक्ति : शाबरी स्यात् द्राविडी द्रविडादिषु। ना० शा० १७—५५।

९—कीथ, पृ० ३३।

पड़ोसी गुर्जरों के साथ वह पूर्व की ओर फैलने लगी। उत्तर-प्रदेश के गूजर इसी गुर्जर जाति के वंशज हैं, पर मुख्यतया गुर्जर पूर्व की ओर न बढ़कर दक्षिण की ओर गए और वर्तमान गुजरात-क्षेत्र के अधिवासी बन गए। आभीर पूर्व में उत्तर-प्रदेश को बसाते हुए बिहार तक फैले। तत्कालीन प्राकृत भाषा में उनकी बोली के शब्दों का आना अनिवार्य था। मूलतः संस्कृत के होते हुए भी उन शब्दों का रूप-विधान प्राकृत और संस्कृत व्याकरण के नियमों से भिन्न और स्वतंत्र था। इन शब्दों को वैयाकरणों ने अपभ्रंश कहा। इनमें उकारान्त शब्दों की प्रमुखता थी जिसके कारण अपभ्रंश बाद में उकारबहुला कहलाई।

संस्कृत और पाली की भाँति ही प्राकृत भी श्लिष्ट भाषा थी। आभीरों के प्रभाव से उसके विश्लिष्टीकरण की प्रक्रिया अपभ्रंश में आरम्भ हुई और उसकी चरम परिणति आगे चलकर आधुनिक भाषाओं में हुई। आभीर जाति का तत्कालीन 'भाषा' अर्थात् प्राकृत पर जो प्रभाव पड़ना आरम्भ हो गया था भरत मुनि की ऊपर की 'आभीरोक्तिः' आदि उक्ति में उस प्रभाव की स्वीकारोक्ति-मात्र समझना चाहिए।

भर्तृहरि (५वीं ईसवी शती) के 'वाक्य पदीयम्' के रचनाकाल तक अपभ्रंश का निदश संस्कारहीन[१] शब्दों के ही प्रसंग में मिलता है।

भामह (६ठीं शताब्दी) प्रथम आलंकारिक हैं जिन्होंने अपभ्रंश का निर्देश भाषा रूप में करते हुए उसे काव्योपयोगी बताया है।[२] शब्द से आरम्भ कर भाषा की स्थिति प्राप्त करने में अपभ्रंश को कई शताब्दियाँ लगीं। जब अपभ्रंश शब्दों की संख्या तत्कालीन जन सामान्य की भाषा में पर्याप्त बढ़ गई होगी तो बोल चाल की भाषा का रूप बदलने लगा होगा और एक नई भाषा का रूप निखरने लगा होगा। फिर क्रमशः उसमें साहित्य-रचना की सामर्थ्य आ चली होगी। नई भाषाओं का जन्म ऐसे ही होता है, उनमें अचानक परिवर्तन नहीं घटित होता। अपभ्रंश के सम्बन्ध में महापंडित राहुल सांकृत्यायन का यह मत युक्ति-संगत प्रतीत होता है कि 'संभवतः यह परिवर्तन कुछ समय तक बहुत धीरे-धीरे होता रहा फिर एकाएक गुणात्मक परिवर्तन होकर श्लिष्ट की जगह अश्लिष्ट भाषा आन उपस्थित हुई। यह घटना छठीं शताब्दी के अन्त में किसी समय घटी। इस सारी शताब्दी को हम प्राकृत और अपभ्रंश की सीमा-रेखा मान सकते हैं, उसी तरह जिस तरह ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी को पालियों और प्राकृतों की सीमा-रेखा तथा ईसा पूर्व सातवीं शती को छान्दस् और पालियों की सीमा रेखा[३]।'

अस्तु, ६ठी शताब्दी में अपभ्रंश की प्रतिष्ठा भाषा रूप में हो गई। भामह के पश्चात्-वर्ती सभी आलंकारिक उसका उल्लेख भाषा-रूप में करते हैं। दंडी (७वीं शती) समस्त वाङ्मय को चार भागों में विभाजित कर अपभ्रंश को उसका एक भेद बताते हैं और उसे 'आभीरादिगिर' कह कर वर्णित करते हैं[४]। "हर्षचरित" के रचयिता बाण (७वीं शताब्दी)

१—शब्द-संस्कारहीनो यो गौरिति······।
तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थ निवेशिनम्॥ वाक्य पदीयम् काण्ड १, कारिका १४८।

२—शब्दार्थों सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च यद् द्विधा।
संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा॥ १, १६, २८।

३—दोहाकोश पृष्ठ ६।

४—तदेतद् वाङ्मय भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा।
अपभ्रंशश्च मिश्रं चेत्याहुरार्याश्चतुर्विधम्॥ काव्यादर्श १, ३२

ने अपने एक मित्र ईशान को "भाषा कविः" कह कर उल्लिखित किया है जिससे उनका अभिप्राय अपभ्रंश-कवि से ही है, प्राकृत-कवि से नहीं क्योंकि "प्राकृतकृत कुलपुत्रो वायु-विकारः" कह कर वे प्राकृत-कवि वायु-विकार का स्मरण अलग से करते हैं[1]। स्पष्ट है कि अब प्राकृत के स्थान पर अपभ्रंश "भाषा" का स्थान ग्रहण करने लगी थी। संस्कृत और प्राकृत का स्थान, धर्म और संस्कृत की भाषा होने के कारण, अब भी अक्षुण्ण था। पर जन-भाषा होने के कारण अपभ्रंश साहित्य क्षेत्र में अपना स्थान जमाती गई। पहले उसमें फुटकर पदों और दोहों की रचनाएँ हुईं, संस्कृत नाटकों में निम्न श्रेणी के पात्रों द्वारा उसका यत्किंचित् प्रयोग हुआ। फिर आभीर राजाओं का प्रोत्साहन, जन-समुदाय का आश्रय और जैन-बौद्ध-धर्म-प्रचारकों का अवलम्बन प्राप्त कर वह आगे बढ़ी। शीघ्र ही उसे स्वयंभू जैसा प्रतिभाशाली कवि प्राप्त हो गया जिसने भारतीय वाङ्मय के इतिहास में अपभ्रंश-युग का प्रवर्त्तन किया।

अपभ्रंश में साहित्य-रचना का युग ७वीं शताब्दी में आरम्भ हुआ। पूरे अपभ्रंश-साहित्य के काल को विद्वानों ने दो भागों में विभक्त किया है—पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती। गुलेरी जी के अनुसार "विक्रम की ७वीं से ११ वीं शती तक अपभ्रंश की प्रधानता रही, फिर वह पुरानी हिन्दी में बदल गई[2]। इस पुरानी हिन्दी के काल को अवहट्ट भाषा-काल भी कहा जाता है। अपभ्रंश और अवहट्ट के बीच विभाजक काल-रेखा खींचना कठिन है पर अधिकतर विद्वान् इस पर एक मत है कि ११वीं शती के अन्त की रचनाओं में अवहट्ट के चिह्न मिलने लगते हैं[3]। मूल "पृथ्वीराज रासो" की रचना अपभ्रंश में ही हुई थी[4]। उसके बाद संस्कृत और प्राकृत की भाँति अपभ्रंश भी क्लासिकल हो गई[5]। फलतः हेमचन्द्र ने जिस अपभ्रंश का व्याकरण १२ वीं शती में लिखा वह मर चुकी थी या उसकी काया पलट चुकी थी[6]। निष्कर्ष यह है कि मूल अथवा पूर्ववर्ती अपभ्रंश में साहित्य-रचना ११वीं शती के अन्त तक होती रही, तत्पश्चात् अवहट्ट अथवा देश्य भाषा मिश्रित अपभ्रंश का युग प्रारम्भ हो गया। अवहट्ट-युग १४ वीं शती के अन्त तक चला। तेसीतरी का मत है कि "मुक्तबोध औक्तिक" (१३८४) के रचना-काल के बाद अवहट्ट का प्रसार खींचना ठीक नहीं होगा[7]। देशी भाषाएँ जो १० वीं शती से ही रूप-ग्रहण कर रही थीं १४ वीं शती में पूर्ण समर्थ हो अवहट्ट का स्थान लेने लगीं और उनमें चंडीदास, विद्यापति आदि पैदा होने लगे।

देश भाषाओं के अधिकारारूढ़ होने पर भी अपभ्रंश में साहित्य-रचना की प्रेरणा धर्म के आग्रह से बनी रही। वस्तुतः जिस धार्मिक प्रेरणा और परम्परा-पालन के मोह ने संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के क्लासिकल बन जाने पर भी उन्हें साहित्य-क्षेत्र में १७-१८वीं शती तक

१—दोहाकोश पृष्ठ ५।

२—"पुरानी हिन्दी" पृष्ठ ११

३—शिवप्रसादसिंह : कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा, साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग, १९५५, पृष्ठ २९।

४—डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का मत, विपिनबिहारी त्रिवेदी-सम्पादित 'रेवातट' (पृथ्वीराज रासो), पृ० १२५ से उद्धृत।

५—डा० गणेश वासुदेव तगारे, हिस्टारिकल ग्रामर आव अपभ्रंश, भूमिका पृ० ४।

६—ए० बी० त्रिवेतिया: गुजराती लेंगुएज एण्ड लिटरेचर, पृ० २५।

७—कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा, पृ० २७।

बनाये रखा उन्हीं शक्तियों ने अपभ्रंश को भी 'भाषा' के आसन से अपदस्थ होने पर भी साहित्य के प्रांगण से नहीं हटने दिया ।

फिर भी काल-विस्तार की दृष्टि से अपभ्रंश-साहित्य का ठीक-ठीक आयाम बता सकना संभव नहीं । कारण, उसका पूर्ण साहित्य अभी भी प्रकाश में आना शेष है 'जिन-रत्न-कोश' (सम्पादक हरि दामोदर वेलणकर) आदि प्रकाशित ग्रन्थ-सूचियों से अपभ्रंश साहित्य के काल-विचार का सही अनुमान नहीं हो पाता । अभी भी न जाने कितने ग्रंथ जैन-भाण्डारों में अपने उद्धारकर्ता की प्रतीक्षा में पड़े हैं । श्री नामवरसिंह[1] तथा डाक्टर कोछड़[2] ने अपभ्रंश के प्राप्त प्रकाशित तथा अप्रकाशित ग्रंथों की सूचियाँ काल-क्रम से देने का प्रयत्न किया है । डा० कोछड़ की सूची के अनुसार अपभ्रंश में ग्रंथ रचना कम से कम १७०० वि० तक होती रही । उन्होंने सूची के अन्त में कुछ रचना-तिथि-हीन ग्रंथों के नाम भी दिये हैं । ये ग्रंथ १७०० वि० के पूर्व के भी हो सकते हैं और बाद के भी । किन्तु इससे इतना तो निश्चित है कि अपभ्रंश में साहित्य-रचना का उपक्रम ७वीं शती से आरम्भ होकर कम से कम १७वीं शती तक चलता रहा । एक-सहस्र-वर्ष पर्यन्त जो भाषा साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम बनी रह सकी उसमें अवश्य ही विलक्षण शक्ति रही होगी ।

काल-विस्तार की भाँति ही अपभ्रंश का क्षेत्र-विस्तार भी बहुत अधिक है । अपने प्रयोग-काल में वह समूचे उत्तरी भारत की भाषा रही । काव्य भाषा के रूप में वह गुजरात, पश्चिमी पंजाब से लेकर बंगाल तक चलती थी । देश-भेद से अपभ्रंश की बोलियों के अनेक भेद वैयाकरणों ने किए हैं । कहीं-कहीं ये भेद प्रयोक्ता जाति या वर्ग पर भी आधारित हैं । वररुचि (६–७ शती) के 'प्राकृत-प्रकाश' में केवल प्राकृत-भाषाओं का वर्णन है, यद्यपि तब अपभ्रंश का जन्म हो चुका था । वररुचि ने प्राकृत के चार भेद—प्राकृत (अर्थात् महाराष्ट्री) मागधी, शौरसेनी और पैशाची—गिनाकर छोड़ दिया । आगे चलकर हेमचन्द्र ने 'शब्दानुशासन' में प्राकृत के इन चार भेदों में ३ भेद और जोड़कर इनकी संख्या ७ की और ७वें भेद को अपभ्रंश कहा । मार्कण्डेय (१७ शताब्दी ईसवी) ने अपने 'प्राकृत सर्वस्व' में एक अज्ञात लेखक द्वारा अपभ्रंश के २७ भेद बताये जाने की चर्चा की है । पर स्वयं उन्होंने अपभ्रंश के केवल ३ भेद—नागर, व्राचड़, उपनागर—स्वीकार किए हैं । प्राकृत भाषा ने ही विकसित होकर अपभ्रंश का रूप धारण किया, इसलिए कुछ विद्वानों का मत है कि अपभ्रंश के उतने ही भेद होने चाहिए जितने प्राकृत भाषा के गिनाये गये हैं ।[3] पर यह सिद्धान्त व्यवहार में चरितार्थ नहीं हो सका ।

अपभ्रंश के सभी भेदों में नागर अथवा शौरसेनी की प्रमुखता थी । शौरसेनी का समस्त अपभ्रंश-भेदों में वही स्थान है जो महाराष्ट्री का प्राकृतों में या खड़ी बोली का आज की भारतीय भाषाओं में ।[4] डा० चाटुर्ज्या[5] का कथन तथ्यपूर्ण है कि गुजरात से लेकर बंगाल तक

१—हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृष्ठ १७७-१८२ ।

२—अपभ्रंश-साहित्य, पृ० ४०१-१३ ,

३—रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ५५ ।

४—तद्भव शास्त्र, पृ० ३१ ।

५—औरिजिन एण्ड डेवेलपमेंट आव बंगाली लैंगवेज, पृ० ११३ ।

शौरसेनी अपभ्रंश के प्रसार में राजपूतों के चरित्र, उनकी वीरता और उनके प्रभाव का जोर तो था ही साथ ही देश के बाहरी शत्रु के प्रति एक घृणा की भावना भी थी जो उनके अन्दर वीरता का संचार करती थी। इस काल में शौरसेनी अपभ्रंश राष्ट्रभाषा बन गई थी। उत्तर के अतिरिक्त भारत के अन्यान्य प्रान्तों में भी चारणों को यह भाषा सीखनी पड़ती थी और इसी में काव्य रचना करनी पड़ती थी। भावार्थ यह है कि अपभ्रंश काल में साहित्य की परिनिष्ठित भाषा शौरसेनी ही थी। जैनों-बौद्धों-हिन्दुओं सभी ने उसे अपनाया। पश्चिम से पूर्व तक उसी का प्रयोग हुआ। स्थानीय बोलियों का यत्किंचित् प्रभाव भले ही लक्षित किया जा सके, किन्तु साहित्य की भाषा के रूप में शौरसेनी की सर्व व्यापकता को असिद्ध नहीं किया जा सकता। उत्तरकालीन अपभ्रंश या अवहट्ट का मूलाधार शौरसेनी ही है। कीर्तिलता की रचना शौरसेनी के विकसित रूप अवहट्ट में हुई, यद्यपि कुछ मूर्धन्य विद्वानों को भी उसके रचना-स्थान के कारण भ्रम हुआ है कि 'कीर्तिलता' मैथिल अपभ्रंश में रचित है।[१]

अपने प्रचलन-काल में अपभ्रंश हिन्दू, जैन, बौद्ध, मुसलमान आदि सभी धर्मावलंबियों की भाषा थी। सभी ने उसकी साहित्य-समृद्धि में योग दिया। पूर्व में नालन्दा, विक्रमशिला विश्वविद्यालयों के क्षेत्र में ८वीं शताब्दी में सरहपाद से आरम्भ कर १२वीं शताब्दी तक ८४ बौद्ध-सिद्धों ने अपने अनुभूत ज्ञान का प्रकाशन अपभ्रंश के ही किसी-न-किसी रूप में किया। सिद्ध सरहपाद को अपभ्रंश का प्रथम कवि घोषित करते हैं।[२] 'बौद्ध गान औ दोहा', जिसका रचना-काल १३-१४ शताब्दी है अपभ्रंश के परवर्ती रूप अवहट्ट में निर्मित हुआ।[३] इसी पूर्वी आंचल में हिन्दू-राज्याश्रय में रहने वाले हिन्दू कवि विद्यापति ने 'कीर्तिलता' की रचना अवहट्ट में की। मध्यदेश में काशी के दामोदर पंडित-विरचित 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' की भाषा तत्कालीन अपभ्रंश है। मुसलमानों में अब्दुर्रहमान का नाम प्रसिद्ध है जिसने अपने सुविख्यात प्रेमाख्यानक काव्य 'सन्देश रासक' द्वारा अपभ्रंश-साहित्य को अनमोल रत्न दिया।

हिन्दू, बौद्ध, मुसलमानों के अतिरिक्त अपभ्रंश में सबसे अधिक साहित्य-रचना जैनों द्वारा हुई। जैनधर्म के मूल-ग्रंथ प्राकृत भाषा में लिखे गए। दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रंथ संस्कृत में हैं। किन्तु जैन धर्म के प्रचार का मुख्य श्रेय अपभ्रंश को है। इसी भाषा में जैन-कवियों ने अनेकानेक पुराण, चरित, स्तोत्र, स्तुति, कथा, आख्यान आदि लिखकर स्वधर्म प्रचार में योग दिया। डा० कोछड़ का मत है कि जैनियों द्वारा अपभ्रंश के अपनाये जाने का कारण यह था कि जैनाचार्यों ने अधिकांश ग्रंथ प्रायः श्रावकों के अनुरोध से ही लिखे। ये श्रावक तत्कालीन बोलचाल की भाषा से अधिक परिचित होते थे। अतः जैनाचार्यों द्वारा और भट्टारकों द्वारा श्रावक-गण के अनुरोध पर जो साहित्य लिखा गया वह तत्कालीन प्रचलित अपभ्रंश में ही लिखा गया। जिस तरह जैनाचार्यों और जैन-कवियों ने अपभ्रंश साहित्य की रचना में योग दिया उसी तरह उस साहित्य की सुरक्षा में जैन-भाण्डारों का हाथ रहा है। इन्हीं भाण्डारों में से प्राप्त अपभ्रंश साहित्य का अधिकांश भाग प्रकाश में आ सका है और भविष्य में भी अनेक बहुमूल्य ग्रन्थों के प्रकाश में आने की संभावना है।[४]

१—कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा, पृ० ७।
२—दोहा कोश, पृ० ८।
३—कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा, पृ० २१।
४—अपभ्रंश-साहित्य, पृ० ३५।

जैन धर्म का जन्म बिहार में हुआ और वहीं की बोल-चाल की तत्कालीन भाषा में स्वामी महावीर ने अपने उपदेश दिए। पर विविध कारणों से जैन महावलम्बियों का बढ़ाव पश्चिम की ओर होता गया और सौराष्ट्र, राजस्थान तथा महाराष्ट्र उनके मुख्य केन्द्र बन गए। पूर्ववर्ती अपभ्रंश युग की अधिकांश रचनाएँ इन्हीं प्रदेशों में हुई। स्वयंभू योगेन्द्र, धनपाल, पुष्पदन्त, मुनि कनकामर आदि अपभ्रंश के सुप्रसिद्ध कवि इन्हीं प्रदेशों में हुए थे।

जन्म, देश-काल-विस्तार तथा धर्म की दृष्टि से अपभ्रंश-साहित्य पर विचार कर लेने के उपरान्त उसके प्रसिद्ध लेखकों, उनकी रचनाओं तथा वर्णित विषय-वस्तु पर दृष्टिपात करना समीचीन होगा। अपभ्रंश में विविध साहित्य-रूप मिलते हैं। पूर्ववर्त्ती भाषाओं की भाँति हम यहाँ भी महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक काव्य, रूपक काव्य, कथा साहित्य, स्फुट साहित्य, गद्य आदि के उदाहरण पाते हैं।

महाकाव्य के रचयिताओं में स्वयंभू, पुष्पदन्त, धनपाल, धवलचन्द, रइधू, यश:कीर्ति,श्रुति-कीर्ति प्रभृति उल्लेख्य हैं। स्वयंभू के दो महाकाव्यों "पउम चरिउ" तथा 'रिट्ठ णेमि चरिउ' में क्रमशः राम और कृष्ण-कथा के जैन-रूप का काव्यमय वर्णन है। जैन धर्म का माहात्म्य प्रतिपादित करने के लिए अन्त में राम और कृष्ण जैन धर्म में दीक्षित होते दिखाए जाते हैं। पुष्पदन्त ने 'तिसट्ठी महापुरिस गुणालंकार' नामक महाकाव्य तीन खंडों में लिखा और उसमें २४ तीर्थंकरों के अतिरिक्त १२ चक्रवर्ती, ९ वासुदेव, ९ प्रति वासुदेव एवं ९ बलदेव अर्थात् सब मिलाकर ६३ महापुरुषों के जीवन चरित का वर्णन विस्तार से किया। पुष्पदन्त का यह महान् ग्रन्थ महापुराण के नाम से भी विख्यात है। इसके दो भाग हैं, आदि पुराण में प्रथम तीर्थंकर ऋषभ जिन का चरित और माहात्म्य वर्णित है, शेष २३ तीर्थंकरों और शलाका पुरुषों का वर्णन उत्तर पुराण में मिलता है।

धनपाल (१० वीं शती) ने "भविसयत्तकहा" नामक महाकाव्य की रचना की। इसमें उन्होंने किसी तीर्थंकर या शलाकापुरुष को नायक नहीं बनाया वरन् एक सामान्य वणिक् पुत्र भविष्यदत्त के आश्रय से सफल काव्य की रचना की। कवि की दृष्टि धार्मिक भावना से अछूती नहीं है, क्योंकि श्रुति पंचमी व्रत के माहात्म्य में ही कथा की अन्तिम परिणति होती है। परन्तु इसके पूर्व एक काल्पनिक कहानी का जो चढ़ाव-उतार दिखलाई पड़ता है और पात्रों का चरित जिस भाँति अंकित किया गया है, वह पाठक के लिए नया अनुभव प्रतीत होता है।

चन्दवरदाई-रचित "पृथ्वीराज रासो" बहु-श्रुत महाकाव्य है और इतिहास प्रसिद्ध हिन्दू-सम्राट पृथ्वीराज की यश-कथा पर आधारित है।

रइधू (१५ वीं शती का उत्तरार्ध) का "पद्मपुराण" राम-कथा का जैन-रूप है। धवल (१०–११ शती), यश: कीर्ति (१५०० वि०) श्रुतकीर्ति (१५५३) में से प्रत्येक ने 'हरिवंश पुराण' लिखकर कृष्ण-चरित का वर्णन किया।

अपभ्रंश-महाकाव्यों में अभी तक उपर्युक्त का ही पता लग पाया है। इनके विवेचन से स्पष्ट है कि इनमें से एक-दो को छोड़कर शेष की रचना जैन धर्मावलम्बियों द्वारा जैन धर्म का प्रभाव बढ़ाने और उसकी श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के विचार से हुई। दूसरी बात जो ध्यान आकृष्ट करती है वह यह है कि हिन्दुओं की भाँति ही जैन धर्म वालों के लिए भी राम और कृष्ण के चरित्रों के प्रति अधिक आकर्षण था। जैसा कि पहले उल्लेख हो चुका है।

जैन कवियों द्वारा गृहीत राम-कृष्ण का कथा-रूप हिन्दुओं से काफी भिन्न है। अपभ्रंश में हरिवंश पुराणों की संख्या, जिनमें बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि और उनके ज्ञाति-बन्धु कृष्ण का जीवन चरित वर्णित है, कदाचित् रामचरित-प्रधान पद्मपुराणों से अधिक है। जैन-परम्परा में राम-कथा के दो रूप मिलते हैं। एक रूप का प्रवर्तन प्राकृत कवि विमल सूरि के "पउम चरिय" में हुआ जिसका अनुगमन अपभ्रंश में स्वयंभू ने किया। दूसरा रूप गुणभद्र के उत्तरपुराण में प्रवर्तित हुआ और उसका अनुसरण अपभ्रंश में पुष्पदन्त के द्वारा उनके उत्तरपुराण में हुआ। इन दोनों कथा-रूपों के विस्तार में बहुत अन्तर दिखाई देता है।[1]

समग्र जीवन के आयाम को माप लेने वाले महाकाव्यों के अतिरिक्त अपभ्रंश में ऐसे भी काव्य-ग्रंथ प्रचुर संख्या में उपलब्ध होते हैं जो जीवन का एकांगी या एक-पक्षीय चित्र प्रस्तुत करते हैं। इनमें से अधिकांश को "चरिउ" अर्थात् चरित कहा गया है। डा० कोछड़ ने इनकी गणना खण्ड काव्यों में की है।[2]

अपभ्रंश खण्ड काव्यों की मुख्यत: दो कोटियाँ हैं—(१) शुद्ध धार्मिक दृष्टि से लिखे गए चरिउ-ग्रंथ (२) ऐहलौकिक या धार्मिक-साम्प्रदायिक भावना से रहित काव्य-ग्रंथ।

धार्मिक खण्डकाव्यों में सभी जैन धर्म से सम्बन्धित हैं। इनमें पुष्पदन्त-लिखित णायकुमार चरिउ तथा जसहर चरिउ, वीर-कविकृत जम्बुस्वामि चरिउ (१०७६ वि), नयनन्दी-रचित सुदंसण चरिउ (११००) कनकामर-कृत करकंड-चरिउ, धाहिल-रचित पउमसिरिचरिउ, पद्म-कीर्ति-कृत पास-चरिउ, श्रीधर कवि रचित पासणाद-चरिउ (११८९ वि०), हरिभद्र-कृत सनत्कुमार-चरित (१२१६ वि०), यश: कीर्ति-रचित चन्दप्पह-चरिउ रइधू-प्रणीत सन्मतिनाथ चरिउ आदि चरिउ-काव्य उल्लेखनीय हैं। नाम के अनुसार प्रत्येक कृति में किसी नायक के चरित का वर्णन हुआ है और अंत में कथा की परिणति जैन धर्म के उत्कर्ष में दिखाई गई है। पात्रों के आश्रय से प्रेम, साहस, वीरता आदि भावों का चित्रण स्थान-स्थान पर हुआ है पर अन्तत: धार्मिक दृष्टि की ही विजय होती है। कवि का दृष्टिकोण धार्मिक भावना से ओत-प्रोत लगता है जिसके कारण काव्य का रूप प्राय: दबा सा रहता है।

इसके विपरीत अपभ्रंश के लौकिक खण्डकाव्यों में, जहाँ धार्मिक भावना का प्राबल्य नहीं है, काव्य का निखार अधिक दिखाई देता है। अब्दुल रहमान रचित "संदेश रासक" में प्रेम-भावना की अनूठी अभिव्यक्ति मिलती है। संदेश रासक एक संदेश काव्य है जिसमें एक विरहिणी नायिका प्रवास गए हुए प्रिय के नाम पथिक द्वारा संदेश भेजती है और इस अनुक्रम में वर्षा, शरत, हेमन्त, शिशिर, बसंत ऋतुओं का मनोहारी वर्णन करती हुई अपनी मनोगत व्यथा का मर्म भेदी चित्रण करती है। संदेश रासक प्रेमकाव्य का अनुपम उदाहरण है। सम्भव है कि इस प्रकार के प्रेमाख्यान अपभ्रंश में और भी रचे गये हों, पर अभी तक उनका पता नहीं लग पाया है।

लौकिक खण्डकाव्यों में दूसरा उदाहरण कीर्तिलता का मिलता है। संदेश रासक की कथा कल्पित है तो विद्यापति रचित कीर्तिलता एक ऐतिहासिक चरित काव्य है। इसमें कवि ने अपने आश्रयदाता कीर्तिसिंह के पराक्रम का वर्णन किया है। रचना में वीर-रस की प्रधानता

१—विस्तार के लिए देखिए, अपभ्रंश-साहित्य, पृ० ३८

२—वही, पृष्ठ १२९।

है। राजा कीर्तिसिंह ने अपने पिता राजा गणेश्वर के विश्वासघात-पूर्ण वध का बदला लेने के लिए असलान नामक तुरुक पर आक्रमण कर किस प्रकार उसे परास्त किया, पूरे ग्रंथ में इसी का वर्णन किया गया है। घटनाओं और भावों के सजीव वर्णन की दृष्टि से कीर्तिलता अत्यन्त प्रभावकारी रचना है।

अपभ्रंश में प्राप्त लौकिक खंडकाव्यों की संख्या अभी तक संदेश रासक और कीर्तिलता तक सीमित है। आशा है अधिक खोज से इस प्रकार की और रचनाएँ भी प्रकाश में आएँगीं।

अपभ्रंश मुक्तक काव्य में जैन धर्म के साथ-साथ बौद्ध धर्म से सम्बन्धित रचनाएँ भी मिलती हैं। जैनधर्म-परक मुक्तक काव्य को आध्यात्मिक और आधिभौतिक दो भागों में विभक्त किया गया है।[1] आध्यात्मिक रचनाएँ जैनचार्यों द्वारा रचित होकर भी धार्मिक संकीर्णता, कट्टरता, द्वेष भावना से रहित हैं। इनका लक्ष्य मनुष्यों में सदाचार, सद्विचार और उच्चादर्श के प्रति अनुराग उत्पन्न कर जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना है। इनमें वाह्य आचार, कर्म कलाप, तीर्थ यात्रा आदि को गौण स्थान दिया गया है। ऐसी रचनाओं में योगीन्द्र (१००० ई०) रचित "परमप्पयासु", "योगसार", मुनि रामसिंह रचित "पाहुड दोहा", सुप्रभाचार्य-कृत "वैराग्य सार" आदि मुख्य हैं।

आधिभौतिक रचनाएँ वे हैं जिनमें सर्वसाधारण के लिए नीति, सदाचार सम्बन्धी धर्मोपदेश संग्रहीत हैं। इनमें देवसेन-कृत "सावयधम्म दोहा" एवं जीवन वल्लभकृत "उपदेश रसायन रास" सर्व प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त जिनदत्त सूरि-रचित "काल स्वरूप कुलक" सोमप्रभाचार्य-रचित "द्वादश भावना" तथा महेश्वर सूरि-कृत "संयम मंजरी" भी प्रसिद्ध उपदेशात्मक रचनाएँ हैं।

बौद्ध धर्म से सम्बन्धित मुक्तक काव्य में सिद्धों की रचनाएँ आती हैं। जैनाचार्यों की भाँति बौद्ध धर्मावलम्बियों ने अपभ्रंश में महाकाव्यों या खण्डकाव्यों की रचना नहीं की। उनकी सभी अपभ्रंश रचनाएँ दोहों और गीतों के रूप में प्राप्त होती हैं। इनमें सर्वप्रथम स्थान सरहपाद के दोहों का है जिनका सम्पादन महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने दोहाकोश के रूप में किया है।[2] सिद्धों का समय छठीं शताब्दी से १२वीं शताब्दी तक माना जाता है। इस कालावधि में ८४ सिद्ध हुए जो क्रमशः वज्रयान, सहजयान, मंत्रयान आदि कई शाखाओं-प्रशाखाओं में विभक्त होते रहे। इनकी रचनाएँ दो रूपों में मिलती हैं—कुछ में धर्म के सिद्धान्त, मत, तत्व आदि का प्रतिपादन है और कुछ में तंत्र मंत्र आदि कर्मकाण्ड का खंडन मिलता है।[3] इनकी रचनाएँ पूर्वी अपभ्रंण में है जिस कारण भिन्न-भिन्न विद्वानों ने कभी इन्हें उड़िया[4] की रचना कहा है तो कभी बंगला[5] की। श्री हरप्रसाद शास्त्री ने इन्हें बंगला की रचना मानते हुए इनका संग्रह बंगला अक्षरों में "बौद्ध गान ओ दोहा" नाम से किया है। परन्तु विस्तृत खोज के

१—अपभ्रंश साहित्यः पृ० २६७।

२—'दोहा कोश' सम्पादक, महापंडित राहुल सांकृत्यायन, प्रकाशक राष्ट्रभाषा परिषद्, बिहार, पटना।

३—अपभ्रंश साहित्य, पृ० ३००।

४—विनयतोष भट्टाचार्य : साधनमाला—गायकवाड़ सिरीज संख्या ४१, पृ० ५३।

५—हरप्रसाद शास्त्री : बौद्ध गान ओ दोहा, पृ० २४।

पश्चात् डा० प्रबोधचन्द्र बागची, डा० सुनीतिकुमार चटर्जी आदि विद्वानों का यही मत है कि बौद्ध सिद्धों की रचनाएँ अपभ्रंश भाषा में हुई हैं वास्तव में बौद्ध सिद्ध सरहपाद अपभ्रंश के प्रथम कवि हैं।[१]

अपभ्रंश के मुक्तक काव्य में धार्मिक रचनाओं के अतिरिक्त प्रेम, शृङ्गार, वीर भावादि सम्बन्धी उस फुटकर साहित्य का भी अन्तर्भाव है जो संस्कृत-प्राकृत के ग्रंथों में यत्र-तत्र विकीर्ण मिलता है। इस प्रकार का साहित्य सुभाषितों और सूक्तियों का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है। ऐसे अपभ्रंश-पद हेमचन्द्र के 'प्राकृत व्याकरण', सोमप्रभाचार्य कृत 'कुमारपाल प्रतिबोध' मेरु तुंगाचार्यकृत 'प्रबन्ध चिन्तामणि', राजशेखर सूरि कृत 'प्रबन्ध कोश', 'प्राकृत पैंगल', 'पुरातन प्रबंध संग्रह' आदि ग्रंथों में बिखरे पड़े हैं। इनके रचना-काल के विषय में निश्चय-पूर्वक कुछ कह सकना कठिन है। परन्तु इनमें वर्णित शृंगार, वीर, वैराग्य, नीति, प्राकृतिक दृश्य आदि की सरसता और उत्कृष्टता हृदयग्राही है।

संस्कृत की रूपक-काव्य-शैली के अनुगमन पर अपभ्रंश में भी रूपक-काव्य ग्रंथों की रचना हुई। इसमें अमूर्त, निराकार भावों को मूर्त, साकार रूप में चित्रित किया जाता है। क्रोध, मोह, अहंकार, प्रेम, सुख, दुःख, क्षुधा, तृषा, हर्ष, शोकादि मानवीकृत होकर काव्य के पात्र-रूप में कार्य-कलाप और वार्तालाप में प्रवृत्त होते हैं। भारतीय वाङ्मय के आदिकाल से रूपक-काव्य की शैली प्रचलित रही है। अपभ्रंश में हमें इसका सर्व प्रथम दर्शन सोमप्रभाचार्यकृत 'कुमारपाल प्रतिबोध' के अन्तर्गत जीवमनः करण संलाप कथा के रूप में होता है जहाँ इन्द्रियों को पात्र रूप में उपस्थित किया जाता है और वे देह की नगरी में अपनी लीला दिखाती हैं। हरिदेव कृत 'मयन पराजय चरिउ' दो संधियों की रूपक कृति है जिसमें जिन राज द्वारा कामराज की पराजय प्रदर्शित है। इसी प्रकार कवि वुच्चराय रचित 'मयण जुज्झ' में भगवान् पुरुदेव द्वारा मदन-पराजय का वर्णन है। अपभ्रंश के इन रूपक काव्यों की परम्परा का पालन हिन्दी में सूफी कवियों ने किया। आधुनिक युग में उस परम्परा का निर्वाह 'प्रसाद' की 'कामायनी' में हुआ है जहाँ आशा, लज्जा, काम, इडा आदि मनोवृत्तियों का मूर्त वस्तुओं की भाँति चित्रण है।

उपर्युक्त साहित्यांगों की भाँति ही अपभ्रंश का कथा-साहित्य भी पर्याप्त समृद्ध है। यों तो महाकाव्य और खण्डकाव्य में भी कथा का तत्व रहता ही है, पर यहाँ कथा-साहित्य से अभिप्राय भिन्न है। काव्य-रचनाओं में काव्यत्व का स्थान प्रधान होता है, कथा तत्व गौण माना जाता है। इसके विपरीत कथा-साहित्य का उद्देश्य भिन्न है, पद्य-बद्ध होने पर भी उसका उद्देश्य काव्य-रस का आस्वादन कराना नहीं होता, वरन् वह साधारण जनता का मनोरंजन करता हुआ उसमें किसी विशेष विचार-धारा या धार्मिक भावना का प्रचार करता है। अपभ्रंश-कथा साहित्य के द्वारा जैन लेखकों ने अपने धर्म को लोकप्रिय बनाने में बड़ा योग दिया। कोई लोक प्रसिद्ध पुरुष इन कथाओं का नायक होता है और उसके जीवन की कोई प्रसिद्ध घटना कहानी का आधार बनाई जाती है। अन्त में जैन-धर्म-दीक्षा के कारण उत्पन्न वैराग्य द्वारा नायक के जीवन का उत्कर्ष दिखाया जाता है। हरिषेण-रचित 'धम्म परिक्खा' श्रीचन्द्र कवि कृत 'कथा कोष' तथा 'रत्न करण्ड शास्त्र', अमर कीर्ति रचित 'छक्कम्मोवएस', कवि लक्ष्मण रचित 'अणुवय रयन वईड' आदि ग्रंथ कथा-साहित्य के उदाहरण हैं। इनमें एक-एक में

१—दोहाकोश, पृ० ८।

कई कथाओं का संग्रह मिलता है। इनके अतिरिक्त अनेक दिगम्बर जैन व्रत कथाओं का निर्देश भी मिलता है।[१]

इन साहित्य-प्रकारों के अतिरिक्त अपभ्रंश में काव्य-क्षेत्र के अन्तर्गत चर्चरी, रास, स्तोत्र फागु, चतुष्पदिका आदि नामों से छोटी-छोटी अनेक कृतियाँ उपलब्ध होती हैं।

गद्य-रचनाओं का अपभ्रंश में अपेक्षतया अभाव है। उद्योतन-सूरिकृत 'कुवलयमाला कथा' (वि० स० ८३५) में अपभ्रंश गद्य के कुछ वाक्य उपलब्ध होते हैं। इसी प्रकार 'कीर्तिलता' में भी अपभ्रंश-गद्य के नमूने मिल जाते हैं। 'जगत्सुन्दरी प्रयोग माला' 'आराधना' 'तत्व-विचार' 'उक्तिव्यक्ति विवृत्ति' आदि ग्रंथों में यत्र-तत्र प्राप्त अपभ्रंश गद्य के नमूने प्रमाणित करते हैं कि इस ओर भी लेखकों का ध्यान क्रमशः आकृष्ट हो रहा था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य-रूपों की विविधता और वर्णित विषय-वस्तु की दृष्टि से अपभ्रंश-साहित्य बड़ा ही समृद्ध और मनोहारी है। उसमें जैन तीर्थंकरों के अलौकिक कार्य कलापों से पूर्ण जीवन-वृत्त हैं, महापुरुषों के चरित्र हैं, प्रेमाख्यान हैं, धर्म-माहात्म्य प्रतिपादक काल्पनिक कहानियाँ हैं, उसमें बौद्ध-सिद्धों के उपदेश और रहस्यात्मक अनुभूतियाँ हैं तो उसमें ऐहिक शृंगार और लोकनीति का अद्भुत वर्णन भी है। संस्कृत की साहित्यिक परम्परा का अनुगामी और वाहक होते हुए भी उसमें नवीन उद्भावनाएँ हैं। उसमें नवीन छन्दों की योजना अपनी है। दोहा—चौपाई, पद्धरी, पज्झरिका आदि नए छंद उसके अपने हैं। वर्णन और शैली की अनेक विधाओं का आविष्कार अपभ्रंश ने अपने लिए किया। संक्षेप में, एक सुदीर्घ साहित्यिक परम्परा की कड़ी होते हुए भी अपभ्रंश की अपनी विशिष्टताएँ हैं जो उसकी स्वतंत्र सत्ता का उद्घोष करती हैं।

ऊपर के कतिपय पृष्ठों में अपभ्रंश-साहित्य के सर्वेक्षण का उपक्रम हुआ है। जिस महाकवि की वरद लेखनी ने उसे अचानक इतना ऊँचा उठाया और स्थायी गौरव के आसन पर प्रतिष्ठित किया, वह है स्वयंभू। उसकी प्रतिभा अप्रतिम है, अपभ्रंश और परवर्ती साहित्य पर उसकी अमिट छाप है। 'प्रेमी' ने उसे अपभ्रंश का प्रथम महाकवि कहा है।[२] उपलब्ध साहित्य की दृष्टि से न केवल वह अपभ्रंश का प्रथम कवि है, वरन् उसके साथ ही वह प्रथम महाकवि भी है। प्रथम कवि होना गौरवास्पद है, पर साथ ही महाकवि भी बन जाने के लिए कितनी मौलिक प्रतिभा अपेक्षित होगी, सहज अनुमेय है। महापंडित राहुल ने सरहपाद को अपभ्रंश का पहला कवि बताया है।[३] उन्होंने हर्षकालीन 'भाषा'-कवि ईशान का भी उल्लेख किया है। स्वयंभू ने, जिनका काल इनके बाद आया, इनमें से किसी की भी चर्चा नहीं की है। स्पष्टतः स्वयंभू को इन कवियों का पता नहीं था। देश-धर्म-व्यवधान इसका कारण हो सकता है।

'स्वयंभू-छंद[४]' में सब मिलाकर अपभ्रंश-रचनाओं के ८१ उदाहरण मिलते हैं। इनमें ५० उदाहरण बे-नाम के हैं। इधर की शोधों से सिद्ध हो गया है कि ये ५० छंद स्वयं स्वयंभू-रचित

१—अगरचन्द नाहटा : जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग ११, किरण १।

२—जैन साहित्य और इतिहास, १९५६, पृ० १९६।

३—दोहा-कोश, पृ० ८।

४—सम्पादक प्रो० एच० डी० वेलणकर, १९३५-३६।

हैं और उनकी रचनाओं में प्राप्य हैं।[1] शेष उदाहरणों के प्रसंग में १० अपभ्रंश कवियों के नाम मिलते हैं—चतुर्मुख, धूर्त, मारुतदेव, धनदेव, छैला, गोविन्द, सुधशील, जिनदास और विदग्ध। परन्तु 'स्वयंभू-छंद' में उद्धृत उदाहरणों के अतिरिक्त इनमें से किसी कवि की कोई अन्य रचना प्राप्त नहीं है। इसलिए यह कहना कठिन है कि इन कवियों से स्वयंभू को अपने कवि-कर्म में कितनी प्रेरणा या मार्गप्रदर्शन प्राप्त हुआ।

स्वयंभू ने अपने पूर्वगामी जिन कवियों का स्तवन किया है उनमें अपभ्रंश का कवि केवल एक है—चतुर्मुख[2]। चतुर्मुख का स्मरण हरिषेण, पुष्पदन्त और कनकामर ने भी किया है।[3] पर इस कवि का कोई ग्रंथ अब तक प्राप्त नहीं हुआ।

तात्पर्य यह है कि जिस समय स्वयंभू ने अपभ्रंश में साहित्य-रचना का कार्य प्रारम्भ किया उस समय उनके सामने किसी बड़ी रचना का आदर्श नहीं था। फुटकर रचना के नमूने जरूर रहे होंगे, जैसा कि 'स्वयंभू छंद' के उद्धरणों से सिद्ध है। सरहपाद के दोहों का भी प्रचलन मान लें तो भी अपभ्रंश में प्रबन्ध काव्य की स्थिति का कोई प्रमाण नहीं मिलता। प्रबन्धात्मक प्रतिभा के रूप में अपभ्रंश में सर्वप्रथम स्वयंभू का ही उदय हुआ। उनका महत्व इस बात में है कि उन्होंने जन सामान्य[4] की बोली को साहित्य-साधना के लिए अपनाया और अपनी अद्भुत मौलिक प्रतिभा के द्वारा उसे विलक्षण अभिव्यंजना-शक्ति से समन्वित कर एकाएक इतने उच्च स्तर तक पहुँचा दिया।

स्वयंभू का 'कविराजत्व' आगे के पृष्ठों में किंचित् उद्घाटित होगा। अपने उदयकाल से समकालीन तथा उत्तरवर्ती साहित्य पर उनका जो प्रभाव रहा है उसे उचित मान्यता अभी तक प्राप्त नहीं हो पाई है। इसीलिए महापंडित राहुल सांकृत्यायन को कहना पड़ा है कि, 'हमारे इसी युग में नहीं, हिन्दी कविता के पाँचो युगों (१—सिद्ध-सामन्त युग, २—सूफी-युग, ३—भक्त-युग, ४—दरबारी-युग, ५—नव जागरण-युग) के जितने कवियों को हमने यहाँ संगृहीत किया है उनमें यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि स्वयंभू सबसे बड़ा कवि था। वस्तुतः वह भारत के एक दर्जन अमर कवियों में से एक था। आश्चर्य और क्षोभ दोनों होता है कि लोगों ने कैसे ऐसे महान् कवि को भुला देना चाहा'।[5]

१—डॉ० भू० भायाणी : पउमचरिउ, प्रथम भाग, भूमिका, पृ० २३।

२—चउमुहएवस्स सद्दो सयम्भुएवस्स मणहरा जीहा।
(अ) सद्दालय-गोग्गहणं अज्जवि कइणो न पावन्ति ।। पउम चरिउ।
(ब) छंदणिय दुवइ धुवएहिं जडिय चउमुहेण समप्पिय पद्धडिय। रिट्ठणेमि चरिउ।

३—वही, पृ० १९९।

४—सामण्णभास छुडु सावडउ। छुडु आगम-जुत्ति का वि घडउ।
प० च० १. ३. १०।

५—हिन्दी काव्य धारा, किताब महल प्रकाशन, इलाहाबाद, १९४५, पृ० ५०।

अध्याय २

समसामयिक परिस्थितियाँ

आगे के अध्याय में दिखाया गया है कि यद्यपि स्वयंभू की जन्म तिथि का निश्चित पता नहीं है तथापि उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर उनका जीवन-काल ८ ई० शताब्दी के अन्तर्गत माना जा सकता है। प्रस्तुत अध्याय में स्वयंभू-कालीन परिस्थितियों का विवेचन किया गया है।

राजनीतिक अवस्था

गुप्त-साम्राज्य के विघटन (६ ई० श०) के पश्चात् हर्षवर्धन (६०६-४८ ई०) हिन्दू-काल का सबसे बड़ा शासक हुआ। देश से चक्रवर्तित्व की भावना गुप्तों के साथ लुप्त हो चली थी। फिर भी हर्ष ने अपनी दिग्विजय द्वारा उत्तर भारत में एक महान् साम्राज्य की स्थापना की जो उत्तर में काश्मीर और नैपाल से लेकर दक्षिण में नर्मदा और महेन्द्र पर्वत (उड़ीसा) तक और पश्चिम में सुराष्ट्र से लेकर पूर्व में प्राग्ज्योतिष (आसाम) तक फैला था। सारा आर्यावर्त हर्ष के अधीन था और उचित ही वह "सकलोत्तरापथ नाथ" कहलाता था। दक्षिण में हर्ष की दाल नहीं गली। चालुक्य-राज पुलकेशिन द्वितीय मे लोहा लेकर दक्षिण-प्रवेश का प्रयत्न हर्षवर्धन ने किया, पर नर्मदा-तट के घोर युद्ध (६०८-९ ई०) में उसे मुँहकी खानी पड़ी। नर्मदा दोनों राज्यों के बीच सीमा-रेखा मान ली गई।

हर्ष की मृत्यु के बाद ५०-६० वर्षों बाद तक कान्यकुब्ज, अथच समस्त आर्यावर्त, के राजनीतिक उत्तराधिकार का मामला बड़ा जटिल बना रहा। तब मौखरि-वंश के यशोवर्म (७२०-७४० ई०) के हाथ में राजसत्ता आई। उसने मगध, बंग, महाराष्ट्र, सुराष्ट्र, मरु, पंजाब आदि प्रदेशों पर विजय प्राप्त कर अपना आधिपत्य जमाया। राजनीतिक परिस्थिति में कुछ स्थिरता आई। पर उसके उत्तराधिकारियों में वैसा पराक्रम नहीं था। वज्रायुध और इन्द्रायुध के पश्चात् चक्रायुध के शासन काल में उत्तर भारत पर आधिपत्य प्राप्त करने के लिए अवन्ति के प्रतिहारों, बंगाल के पालों और महाराष्ट्र के राष्ट्रकूटों में वर्षों तक संघर्ष चलता रहा। अन्ततः प्रतिहार राजा नागभट द्वितीय ने चक्रायुध को परास्त (७९३-९४ ई०) कर कान्यकुब्ज पर अधिकार कर लिया। तब से अगली लगभग २ शताब्दियों तक कन्नौज प्रतिहारों की राजधानी और उत्तर-भारत का शक्ति-केन्द्र बना रहा।

नर्मदा के दक्षिण-स्थित चालुक्य और सुदूर दक्षिण के पल्लव राज्यों का जो संघर्ष पुलकेशिन द्वितीय (६०८ ई०) के समय में आरम्भ हुआ उसका क्रम आगे १००-१२५ वर्षों तक बना रहा। ७५३ ई० में चालुक्य वंश का उच्छेद कर दन्तिदुर्ग ने उसके स्थान पर राष्ट्रकूट वंश की स्थापना की। इस वंश का ध्रुव धारा वर्ष (७८३-९४) बड़ा प्रतापी हुआ। उसने काँची से कोशल (छत्तीसगढ़) और लाट तक अपना आधिपत्य बढ़ाया। तब उसने उत्तर

कन्नौज पर चढ़ाई की, वत्सराज को हराया और गंगा-यमुना के बीच भागते हुए गौड़राज धर्मपाल का छत्र छीन लिया।[१] यद्यपि ध्रुव उत्तर भारत में अपना स्थायी राज्य नहीं स्थापित कर सका, फिर भी राष्ट्रकूटों का आतंक सारे भारतवर्ष पर छा गया। उनकी प्रतिद्वन्द्विता में खड़ा होने योग्य तत्कालीन भारतीय राजाओं में कोई नहीं था। राष्ट्रकूटों के लिए यह सम्भव था कि वे समस्त भारतवर्ष में एक बार फिर एक-छत्र राज्य की स्थापना कर सकते। तब इतिहास का मार्ग कुछ और ही होता। पर राष्ट्रकूटों में दूरदर्शिता का अभाव था। एक ओर तो उन्होंने अपने देशवासियों के विरुद्ध सिन्ध के अरबों से मित्रता का सम्बन्ध बनाए रखा तथा विधर्मियों को अपने राज्य में व्यापार करने, मसजिद बनाने और अपना कानून व्यवहार में लाने की स्वतन्त्रता दी जो आगे चलकर घातक सिद्ध हुआ,[२] दूसरी ओर पारिवारिक कलह में उन्होंने अपनी शक्ति का घोर अपव्यय किया। ध्रुव धारावर्ष के पश्चात् उसके दो बेटों, स्तम्भ और गोविन्द तृतीय, में गृह-युद्ध छिड़ गया जिससे उत्तर-भारत से उनका ध्यान हट गया। परिस्थिति से लाभ उठाकर, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वत्सराज के पुत्र नागभट तृतीय ने चक्रायुध और धर्मपाल दोनों को पराजित कर कन्नौज पर अपना अधिकार दृढ़ कर लिया। उधर गोविन्द तृतीय के पश्चात् राष्ट्रकूटों में प्रथम अमोघवर्ष (८१४ ई०), तृतीय इन्द्र (मृत्यु ९४८ ई०) दो प्रसिद्ध राजा और हुए। उनके बाद राष्ट्रकूटों की शक्ति क्षीण होती गई और दशवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में उनका अन्त हो गया।

हमारे आलोच्य काल, ९ वीं ई० शताब्दी में देश के उत्तरी और दक्षिण भागों में प्रतिहार और राष्ट्रकूट ये ही दो प्रधान राजनीतिक शक्तियाँ थीं। इनके इर्द-गिर्द और भी अनेक छोटे-बड़े राज्य थे जिनको राजनीतिक सीमाएं निरन्तर परिवर्तनशील होने के कारण दुर्बोध-सी लगती हैं। पूर्व में पालों का राज्य था। धर्मपाल का उत्तराधिकारी उसका बेटा देवपाल (८१०-५१ ई०) बड़ा प्रतापी हुआ। उत्कल और प्राग्ज्योतिष को उसने अपने अधिकार में कर लिया। उत्कल पर आधिपत्य पाने के लिए तो उसे विन्ध्य-क्षेत्र में राष्ट्रकूट राजा शर्व अमोघवर्ष से भी टक्कर लेनी पड़ी। उसने हिमालय-स्थित कम्बोज राज्य को भी पराजय दी। पर देवपाल के बेटे नारायणपाल (८५४-९०८ ई०) को प्रतिहार राजा मिहिर भोज (राज्यारोहण लगभग ८३६ ई०) के हाथों हार खानी पड़ी और पालों का राज्य सिमट कर दक्षिणी-पश्चिमी बंगाल तक रह गया। पालों के दुर्बल पड़ते ही पूर्वी बंगाल में एक नया राज्य-वंश, चन्द्र-वंश, खड़ा हो गया।

पंजाब के उत्तर में काश्मीर का राज्य था। गोनन्द वंश के पश्चात् वहाँ कर्कोट अथवा नागवंश का शासन चल रहा था। पर मिहिर भोज ने राज संभालते ही प्रतिहार साम्राज्य की पश्चिमी सीमा काश्मीर के पहाड़ों से मुल्तान-सिन्ध की सीमा तक और सुराष्ट्र के समुद्र तक पहुँचा दी। फलतः उसके चपेट में काश्मीर का कर्कोट राज-वंश मिट गया और वहाँ उत्पल वंश की स्थापना हुई जो ९३८ ई० तक राज्य करता रहा।

काश्मीर के पूर्व और उत्तर-प्रदेश और बिहार के उत्तर में ५०० मील विस्तृत नेपाल का राज्य था। मौर्यों, गुप्तों और पुष्यभूतियों के समय में वह भारतीय साम्राज्य का ही अंग था।

१—जयचन्द्र विद्यालंकार : भारतीय इतिहास का उन्मीलन, १९५६, पृ० २९३।

२—राजबली पाण्डेय : भारतीय इतिहास का परिचय, १९५४, पृ० १०९।

पर हर्षवर्द्धन के पश्चात् वहाँ लिच्छवियों ने, जो पहले भी वहाँ के स्वतंत्र शासक रह चुके थे, पुनः अपना राज्य स्थापित किया। वे अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करते रहे और किसी बाहरी आक्रमणकारी का पैर अपने देश में नहीं टिकने दिया।

दक्षिण के तमिल देश में पल्लवों का राज था। ९ वीं शताब्दी के मध्य में वहाँ विजयालय नामक एक चोल सरदार ने अपनी शक्ति बढ़ाई। उसके बेटे आदित्य ने ८८० ई० में पल्लव राजा अपराजित को पराजित कर स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। आदित्य के उत्तराधिकारी प्रथम परान्तक ने (९०७-९४९) पाण्डयों की नगरी मदुरा को भी छीन कर समूचे तमिल देश को अपने राज्य में कर लिया। इसके बाद उसने सिंहल पर भी धावा मारा।

इस प्रकार ९ वीं शताब्दी में उत्तर से लेकर दक्षिण तक भारतवर्ष अनेक छोटे-बड़े राज्यों में विभक्त था जिनका एक प्रधान कार्य परस्पर युद्ध करना और एक दूसरे को मिटा देने की चेष्टा करना था। निरन्तर संघर्ष द्वारा अपने पराक्रम और शौर्य का प्रदर्शन करते हुए राज्य विस्तार करना मध्यकालीन राजाओं की मनोवृत्ति की एक प्रमुख विशेषता थी।

देश के पश्चिमोत्तर सिन्ध प्रान्त में अरबों की राज्य-स्थापना के रूप में जिस विदेशी राजनीतिक शक्ति का उदय हो रहा था उसके उन्मूलन का कोई समवेत प्रयत्न नहीं हुआ। इसका जो कुपरिणाम भावी संतति को भोगना पड़ा वह किसी से छिपा नहीं है। हजरत मुहम्मद की मृत्यु (६२२ ई०) के १०० वर्ष के भीतर इस्लाम का प्रसार पश्चिम में स्पेन से लेकर पूर्व में फारस, अफगानिस्तान और तुर्किस्तान तक हो गया था। नव दर्पोन्मत्त इस्लामी तलवार के सामने प्राचीन रोमन, मिस्री और इरानी साम्राज्य और सभ्यताएं ध्वस्त हो चुकी थीं। अफगानिस्तान के अधिकांश पश्चिमी भाग में, जहाँ की जनता पहले अधिकांशतः बौद्ध थी, इस्लामी सत्ता के स्थापित हो जाने पर अरबों की दृष्टि स्वभावतः भारत पर गई जिसके नगरों और मन्दिरों की सम्पत्ति उन्हें निमंत्रण-सा दे रही थी। खलीफा प्रथम वलीद (७०६-७१४ ई०) के समय में सिंध के ऊपर अरबों के आक्रमण आरम्भ हुए। वलीद के दामाद मुहम्मद-बिन-कासिम के अधिनायकत्व में सन् ७१२-१३ ई० में सिंध के राजा दाहिर को हराकर भारत भूमि पर अरबों के प्रथम राज्य की स्थापना हुई। अरबों ने वहाँ अपनी शासन-व्यवस्था चलाई। अरब-शासन के धर्माधारित होने के कारण सिन्ध के हिन्दुओं को घोर अपमान और तिरस्कार का जीवन बिताने को विवश होना पड़ा। दाहिर के बेटों ने एक बार सिन्ध को अरबों के शासन से मुक्त किया, पर वह मुक्ति क्षणिक साबित हुई। ७२४ ई० में फिर वहाँ अरबों का राज्य स्थापित हो गया। ७३९ ई० में एक अरब सेना कच्छ होकर मारवाड़ के भिन्न ताल नगर को ध्वंस करती हुई चित्तौड़ से उज्जैन तक आ निकली और उसे लूटने के पश्चात् गुजरात की ओर बढ़ी। उत्तर गुजरात को रौंद कर वह दक्षिण गुजरात की दिशा में अग्रसर हुई और सूरत जिले में नवसारी तक पहुँच गई।

यह सत्य है कि अरबों का साहस सिन्ध और गुजरात के आगे बढ़ने का नहीं हुआ, पर उनकी इतनी ही सफलता इस बात का अकाट्य प्रमाण है कि उस समय उत्तर भारत की राजनीतिक चेतना सुप्त पड़ी थी। अरब बार-बार की ठोकरों से भारत की सामरिक-क्षमता को टटोल रहे थे। देश के आन्तरिक विग्रह से वे परिचित हो चुके थे और अवसर की प्रतिक्षा में थे।

७५१ ई० में अरबों ने भारत के उत्तर-पश्चिम से मध्य-एशिया में घुसकर उसके प्रभुत्व के लिए चीनियों को समर-कंद के युद्ध में अन्तिम बार पछाड़ा। यह उनकी बड़ी सफलता थी जिसके आगे चलकर युगान्तरकारी परिणाम हुए। मध्य एशिया से बौद्ध-धर्म और भारतीय संस्कृति का नाम-निशान मिटने लगा और इस्लाम की छत्रछाया में पली तुर्क जाति में ऐसे दुर्दमनीय सेनानी उत्पन्न हुए जिन्होंने आगामी शताब्दियों में बार-बार भारत-भूमि को पद दलित कर उस पर अपने साम्राज्य खड़े किए। वस्तुत: खलीफा हारुल-रशीद (७८६-८०९ ई०) के पश्चात् खिलाफत साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और उसके ध्वंसावशेष पर तुर्क जाति की प्रभुता फूलने-फलने लगी। गजनी के महमूद के पिता सुबुक्तगीन से आरम्भ कर मुगल सम्राटों तक भारत के सभी विदेशी विजेताओं और शासकों में न्यूनाधिक मात्रा में तुर्क रक्त प्रवाहित था।

हमारे विवेच्य काल में पश्चिमोत्तर प्रदेश और मध्य एशिया से बौद्ध धर्म का उन्मूलन और उसके स्थान पर इस्लाम की स्थापना तथा तुर्क जाति का उदय दो प्रधान घटनाएँ हैं। इन दोनों की ओर तत्कालीन भारतीय राजाओं का ध्यान नहीं था। उनके समकालिक वाङ्मय में भी इस नवीन आपदा के प्रति चेतना का कोई आभास नहीं मिलता। एक और बात भी थी—जनता में अपने राज्य के कार्यों के प्रति घोर उपेक्षा की प्रवृत्ति उत्पन्न हो चली थी। यहाँ तक कि राजाओं को अपने राज्य की रक्षा के लिए भाड़े की सेना का आश्रय लेना पड़ता था। ९ वीं शताब्दी के आरम्भ के अभिलेखों से इसका स्पष्ट पता लगता है। बंगाल तक के राज्यों में तुर्क भड़ैत सैनिक आते थे जिन्हें यहाँ के लेखों में हूण ही कहा गया है।[१] तो क्या आश्चर्य कि बाद में तुर्कों ने इतनी आसानी से भारत पर विजय पा ली ?

सांघिक शक्ति के अभाव, सीमान्त नीति और विदेशी नीति के प्रति उदासीनता, राज्य-कार्यों में जनता की अरुचि और राजाओं की निरंकुशता तथा विलास-प्रियता का अवश्यम्भावी परिणाम यह हुआ कि मुस्लिम आक्रमण के विरुद्ध देश ठहर नहीं सका और शताब्दियों के लिए गुलाम बन गया।

सामाजिक जीवन

ऊपर नवीं शताब्दी के भारत की राजनीतिक दशा का वर्णन, उसकी पृष्ठभूमि के सहित, किया गया है। यह वृहत्तर भारत के क्रमश: सिमटने की, उसके ह्रास की, कहानी है। उसमें वस्तुत: तत्कालीन सम्पूर्ण सामाजिक जीवन का प्रतिबिम्ब मिलता है। विकेन्द्रीकरण की जो प्रवृत्ति राजनीति के क्षेत्र में लक्षित होती है उसका मूल कारण सामाजिक जीवन में निहित था। इस काल के पूर्व भारतीयों का जीवन उच्चादर्शों से प्रेरित एकता के सूत्र में बँधा था। समाज में उच्च और निम्न स्तर या वर्ग के लोग तब भी थे पर उनमें खान-पान विवाहादि सामाजिक सम्बन्धों में व्यवधान नहीं था। जातियों और वर्गों में परिवर्तन हुआ करते थे। इतिहास में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। वाकाटक-गुप्त युग में कादम्ब मयूर शर्मा के वंशज वर्मा बन गये थे। स्वयं वाकाटकों का पूर्वज ब्राह्मण था। गुप्त राजाओं का पूर्वज किस वर्ण का था, इसका निश्चित पता नहीं, पर गुप्तों, वाकाटकों और कादम्बों में बराबर विवाह-सम्बन्ध होते रहे। मध्यकाल के पूर्वांश तक भारतीयों का दूर-दूर देशों में आना-जाना बना हुआ था। खान-पान में छुआछूत का विचार होता तो वैसा पर्यटन सम्भव न होता। सामाजिक सम्बन्धों में

१—जयचन्द्र विद्यालंकार : भारत भूमि और उसके निवासी, १९३१ पृ० २१५।

संकीर्णता का प्रवेश नवीं शताब्दी के अन्त में हुआ। तदन्तर वर्ण बिलकुल जन्ममूलक माने जाने लगे और जाति की भावना ने वर्ण पर विजय पा ली। वर्णों और जातियों के स्थानीय साम्प्रदायिक, व्यावसायिक आदि भेद-उपभेद वृद्धि पाने लगे। जो हिन्दू समाज कभी एकता के आदर्श से संयुक्त था वह छोटी-छोटी अनेक इकाइयों में बँट गया, जो संकीर्णता, वर्जनशीलता और ऊँच-नीच की भावना के दृढ़ प्राचीरों से बँधकर एक दूसरे से भावनात्मक एकता खो बैठीं। खान-पान में जैन और वैष्णव आचारों के कारण छुआछूत के विचारों को बड़ा प्रोत्साहन मिला।

जाति-प्रथा का प्रभाव देश के समूचे जीवन पर पड़ा। आठवीं-नवी शताब्दी से भारतीय सागर में अरब नाविक और व्यापारी अधिक आने लगे थे। जब उच्च वर्णों के भारतीय स्वयं समुद्री यात्रा से बचने लगे और उस कार्य को करने वाले श्रमिक वर्ग को नीची निगाह से देखने लगे तब दूरगामी भारतीय नाविकों में इस्लाम के प्रचार का मार्ग प्रशस्त हो गया। इस प्रकार छुआछूत के नाम पर हिन्दू समाज विघटित होने लगा। विधर्मियों ने हिन्दुओं की इस दुर्बलता का पूरा लाभ उठाया। उनकी इसी मनोवृत्ति को लक्ष्य करके अलबरूनी ने बाद में लिखा है कि, "उन्हें (हिन्दुओं को) इस बात की इच्छा नहीं होती कि जो वस्तु एक बार भ्रष्ट हो गई उसे शुद्ध करके पुनः ग्रहण कर लें।......मूर्खता ऐसा रोग है जिसकी कोई दवा नहीं।......उनके पूर्वज ऐसे संकीर्ण विचार वाले नहीं थे जैसी कि यह वर्तमान पीढ़ी है।" तात्पर्य यह है कि मध्यकाल के आरम्भ होते ही जाति-पाँति, भोजन, विवाह, रीति-रिवाज, पूजा पद्धति आदि के भेदों से खंडित हिन्दू-समाज जर्जर होने लगा था जिसे पतन के गहरे गर्त में गिराने के लिए बाहरी आक्रमण का केवल एक धक्का पर्याप्त था। स्त्रियों की दशा अपेक्षाकृत अब भी अच्छी थी। समाज में उनका आदर होता था। माता-पिता कन्या के पालन-पोषण और शिक्षा का उचित प्रबन्ध करते थे। उदाहरणार्थ, इस काल में मण्डन मिश्र की स्त्री भारती बड़ी विदुषी थी और उसने अपने पति और शंकराचार्य के शास्त्रार्थ में मध्यस्थ का कार्य किया था। अवन्ति सुन्दरी अपने पति राजशेखर के समान ही सुन्दर कविता करती थी। भास्कराचार्य की पुत्री लीलावती ने गणित शास्त्र में प्रवीणता प्राप्त की थी। पत्नी और माता के रूप में स्त्री सम्मान की पात्री थी। राजवंशों की स्त्रियाँ राज के शासन में भाग लेती थीं। काश्मीर की रानी दिद्दा और वारंगल के काकतीय वंश की रानी रुद्राम्बा के नाम इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं। स्त्रियों में अभी तक पर्दा-प्रथा ने प्रवेश नहीं किया था। ऊँची जातियों में विधवा-विवाह निषिद्ध था, यद्यपि छोटी जातियों में इसका चलन था। सती-प्रथा जोर पर थी। कुछ स्त्रियाँ वेश्या-वृत्ति से भी जीविका कमाती थीं। सुदूर दक्षिण में देवदासी-प्रथा का उदय भी इसी काल में हुआ।

अनेक दोषों के उत्पन्न हो जाने पर भी हिन्दू समाज अभी तक बिल्कुल जड़ता-ग्रस्त नहीं हुआ था, उसमें बहुत-कुछ लचीलापन बना था। खान-पान और विवाहादि के मामलों में व्यक्तिगत स्वतंत्रता शेष थी। इस युग में भी हिन्दुओं में अन्तर्वर्ण, अन्तर्जातीय और अन्तर्धार्मिक विवाह संभव थे। ब्राह्मण कवि राजशेखर ने क्षत्रिय राजकुमारी अवन्ति सुन्दरी से विवाह किया था। कान्यकुब्ज के गहड़वाल राजा गोविन्द चन्द्र का विवाह बौद्ध राजकुमारी कुमार देवी के साथ सम्पन्न हुआ था। क्षत्रियों में स्वयंवर की प्रथा अब भी प्रचलित थी। अधिकांश विवाह वयस्क वर-कन्या के होते थे—यद्यपि छोटी लड़कियों के विवाह के उदाहरण भी सामने

आने लगे थे।[१] छुआछूत का भाव उन्नति पर था, फिर भी उच्च वर्णों और जातियों में सहभोज प्रचलित था।

किसी युग के सामाजिक जीवन का चित्र उसकी आर्थिक दशा के वर्णन बिना पूरा नहीं होता। मध्यकालीन भारत के विषय में जो सामग्री यत्र-तत्र प्राप्त है उससे प्रतीत होता है कि उस काल की ७० प्रतिशत से भी अधिक जनता की आर्थिक दशा अच्छी नहीं थी। अपनी आर्थिक प्रवृत्तियों के आधार पर उस युग का नाम सामन्त युग है। सामन्त युग में प्रजा की आर्थिक दशा का अच्छा होना ही आश्चर्य की बात होगी। देश में सम्पत्ति की कमी नहीं थी। वास्तविकता यह है कि उस काल का भारत संसार का सबसे समृद्धिशाली देश था। उसका शिल्प व्यवसाय और वाणिज्य उन्नति के शिखर पर था। पूरब, पश्चिम और उत्तर के सभी ज्ञात देशों की सम्पदा खिच-खिच कर भारत में चली आ रही थी। (यह भी तो एक कारण है कि बाहरी आक्रमणकारियों का ध्यान उस पर गया।) कृषि की दशा अत्यन्त अच्छी थी। काश्मीर के उत्पल वंशीय राजा अवन्ति वर्मा (८५५-८३ ई०) का सुप्रसिद्ध कृषि मंत्री सुय्य, जिसे प्रजा अन्नपति कहती थी, इसी काल में हुआ जिसने काश्मीर में सिंचाई की सुव्यवस्था द्वारा अन्नोत्पादन इतना बढ़ा दिया कि अनाज का भाव २०० दीनार प्रति खारी से घट कर ३६ दीनार प्रति खारी हो गया।

सारांश यह कि देश में सम्पत्ति का उत्पादन खूब हो रहा था पर उत्पादक वर्ग उसका उपभोक्ता नहीं था। देश की अपार सम्पत्ति के उपभोक्ता थे—राजा-सामन्त, पुरोहित-महंत और श्रेष्ठी-सार्थवाह। राजा प्रजा का सबसे बड़ा शोषणकर्त्ता था। उसके पीछे छोटे-बड़े शोषणकर्त्ताओं की एक लम्बी पंक्ति थी। मध्यकालीन निरीह प्रजा इनके विरोध में न तो कुछ कह सकती थी, और सच तो यह है, न उसके पास कहने को कुछ था। वह युग राजनीतिक और आर्थिक चेतना का युग न होकर भाग्यवादिता और अन्धविश्वास का युग था। एक सीमित उच्च वर्ग के वैभव-विलास पर बहुसंख्यक वर्ग का जीवन उत्सर्ग हो रहा था।

धार्मिक अवस्था

जिस समय का वर्णन यहाँ हो रहा है, उस समय देश में ब्राह्मण, बौद्ध और जैन ये ही तीन प्रधान धर्म थे। इस्लाम का प्रवेश अभी हो ही रहा था और वह केवल पश्चिमोत्तर कोने में सीमित था। राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रों की भाँति धार्मिक जीवन में भी विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति प्रमुखता प्राप्त कर रही थी। ब्राह्मण धर्म नवोत्थान पर था। अपने नये सुधारों और संस्कारों के कारण वह अधिक शक्तिशाली, व्यापक और लोकप्रिय बन रहा था। वह प्रतिद्वन्द्वी धर्मों की विशेषताओं को आत्मसात् करने में तल्लीन था। कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य इस युग के आरम्भ में महान् हिन्दू सुधारक हुए। कुमारिल ने वैदिक कर्मकाण्ड के पुनरुद्धार और यज्ञों के पुनः प्रचलन का आग्रह किया, पर वे युग-प्रवृत्ति को अपने अनुकूल न बना सके। शंकराचार्य (जन्म ७८८ ई०) अपने प्रयत्न में सफल रहे। उन्होंने दर्शन के क्षेत्र में अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन कर समाज को एक ऊंचा तत्वज्ञान दिया। उन पर बौद्ध दार्शनिक वसबन्धु की पूरी छाप थी। शंकर ने बौद्ध तथा जैन दर्शन और धर्म के बहुत से सिद्धान्तों को अपना कर सामान्य जनता के लिए उन सम्प्रदायों को अनावश्यक-सा कर दिया।

१—सी० वी० वैद्य : हिस्ट्री आफ मिडिवल हिन्दू इंडिया, भाग २, १९२४ ई०, पृ० १८३।

यह उनकी बड़ी सफलता थी। उनके प्रभाव से भगवान् बुद्ध ब्राह्मण धर्म के दस अवतारों में सम्मिलित कर लिए गए। पुरातन पंथियों ने शंकराचार्य के सुधारों के लिए उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध कह कर अपमानित करना चाहा। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दू धर्म के नव-संस्कार और रक्षा की दृष्टि से उनका कार्य ऐतिहासिक महत्व रखता है, उन्होंने भीतरी और बाहरी आघातों से लड़खड़ाते हुए हिन्दू समाज को नया सम्बल प्रदान किया। अपनी दिग्विजय के प्रतीक स्वरूप देश के चारों कोनों में उनके द्वारा स्थापित चार मठ—शृंगेरी मठ, बदरिकाश्रम, पुरी तथा द्वारिका—आज भी हिन्दू धर्म के प्रहरी का काम करते हैं।

किन्तु बौद्ध और जैन धर्मों की होड़ में सफल होकर भी ब्राह्मण धर्म आन्तरिक दुर्बलताओं का शिकार होने से नहीं बच सका। उक्त दो धर्मों की भाँति उसमें भी अनेक सम्प्रदायों के रूप में विघटन की प्रक्रिया आरम्भ हो गई थी। यही नहीं कि हिन्दू समाज वैष्णव, शैव, शाक्त, ब्राह्म, सौर, गाणपत्य आदि सम्प्रदायों में विभक्त हो चला था, वरन् इन सम्प्रदायों के भी अनेक उपसम्प्रदाय होने लगे थे। गुप्तकाल के सरल भक्ति मार्ग के स्थान पर उपासना और पूजा पाठ सम्बन्धी बहुत से बाह्याडम्बर और भ्रष्टाचार आरम्भ हो गए थे। वैष्णवों में गोपीलीला और अंतरंग समाज का उदय हुआ। शैव सम्प्रदाय में पाशुपत, कापालिक और अघोरपंथ का जन्म हुआ। शाक्त सम्प्रदाय में आनन्द भैरवी, भैरवी चक्र, सिद्धिमार्ग इत्यादि कई गुप्त, अश्लील और अनैतिक पंथों की उत्पत्ति हुई। गाणपत्य सम्प्रदाय में हरिद्रा गणपति और उच्छिष्ट गणपति जैसे अनेक घोर और अश्लील पंथ चल पड़े। ब्राह्मण धर्म क्रमशः तांत्रिक हो रहा था जिसके अधीन 'वाममार्ग' और 'अतिमार्ग' आदि कई सम्प्रदाय बनते जा रहे थे। इनकी 'साधना' की आड़ में पंचमकारों—मदिरा, मांस, मत्स्य, मुद्रा, मैथुन—का सेवन उन्मुक्त रूप में होता था। ये विभिन्न मार्ग मध्यकाल के पूर्वांश में विशेष रूप से बढ़े।

परमात्मा की भिन्न-भिन्न शक्तियों को ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, नारसिंही, ऐन्द्री आदि नाम देकर मातृका रूप में उनकी पूजा होने लगी। काली, कराली, चामुण्डा और चंडी नामक भयंकर और रुद्र शक्तियों की कल्पना की गई। आनन्द-भैरवी त्रिपुर-सुन्दरी, ललिता जैसी विषय-विलास-परक शक्तियों की भी कल्पना हुई। इनके उपासक शाक्त, शिव और त्रिपुर-सुन्दरी के योग से ही संसार की उत्पत्ति मानते थे।[१]

इस प्रकार सरल सच्चे धर्म के मार्ग से हटकर हिन्दू समाज, मध्यकाल के पूर्वांश में, 'साधना' की अंधेरी गलियों में भटक रहा था जिसकी प्रतिक्रिया उत्तर काल के भक्ति-आन्दोलन के प्रवर्तन में हुई।

बौद्ध धर्म हर्षवर्धन के समय तक यद्यपि प्रत्यक्षतः उन्नति पर था तथापि उसमें भी पतन का बीज पड़ चुका था। चीनी यात्री युवाच्वाङ् (७ वीं ई० श०) सिन्धु प्रान्त के बौद्धों के विषय में स्पष्ट कहता है कि 'वे निठल्ले कर्तव्य-विमुख और पतित हो गए थे। सिन्धु पर जब अरब आक्रमण हुआ और बौद्ध मन्दिर देवल घिर गया तो वहाँ के भिक्षु और भिक्षुणियाँ इस विश्वास में हाथ पर हाथ धर कर बैठे रहे कि जब तक मन्दिर के शिखर पर झंडा फहराता रहेगा उसे कोई क्षति नहीं पहुँच सकता। अंध-विश्वास और अकर्मण्यता का इससे बढ़कर प्रमाण क्या हो सकता है?'

१—गौरीशंकर हीराचन्द ओझा : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, १९२८ पृ० २७।

समय के साथ बौद्ध धर्म का रूप विकृत होता गया। उसकी हीनयान और महायान दो शाखाएँ पहले ही से थीं। हर्ष के समय में इनमें १८ उपशाखाएँ हो गई थीं। अब वह तेजी से तांत्रिक और वाममार्गी हो रहा था। महायान बुद्ध को उद्धारक रूप में प्रस्तुत कर जनता को अपनी ओर आकृष्ट करना चाहता था, पर उसका शून्यवाद और विज्ञानवाद बहुत नीरस और दुरूह साबित हुआ। तब उसमें महासुखवाद के सम्मिश्रण से एक नया पंथ वज्रयान निकल आया जिसने बुद्ध को 'वज्रगुरु' बना दिया और अलौकिक सिद्धियों से समन्वित कर सिद्धपुरुष के रूप में उनकी प्रतिष्ठा की। बुद्ध के समान उन 'सिद्धियों' को प्राप्त करने के लिए गुह्य साधनाओं का आविष्कार किया गया जो मंत्रों अथवा गोप्य वाक्यों के बार-बार दुहराने पर आधारित थीं। इससे मंत्रयान की उत्पत्ति हुई। ७ वीं से ८ वीं शताब्दी के बीच वज्रयान में ८४ सिद्ध हुए जिनमें से कुछ ने अपभ्रंश साहित्य की अभिवृद्धि में भी हाथ बँटाया। वज्रयान के विरोध में एक अन्य पंथ, सहजयान, की उत्पत्ति इसी काल में हुई जो बाह्य साधनाओं के स्थान पर मानसिक शक्तियों के विकास पर बल देता था। लेकिन सहजयान को भी विकृत होते देर नहीं लगी।

बौद्ध धर्म की अवनति का मूल कारण उसकी ये विकृत नवीन प्रवृत्तियाँ थीं। एक ओर तो उसका आन्तरिक पतन हो रहा था दूसरी ओर ब्राह्मण धर्म उसे आत्मसात करने पर तत्पर था। भारत में बौद्ध धर्म के अन्तिम शरणदाता बंगाल के पाल राजा थे। वहाँ पहुँच कर नैपाल और तिब्बत की जातियों के सम्पर्क से उसमें तंत्रवाद का प्रभाव अधिक बढ़ गया। मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन आदि विद्याओं से बौद्ध भिक्षु एक ओर जनता पर अपना प्रभाव दृढ़ करने का ढोंग रच रहे थे दूसरी ओर बिहारों में भिक्षुणियों के साथ उनकी विलास-लीलाओं से उनके विनाश की भूमिका तैयार हो रही थी। इस्लाम के आक्रमण के एक ही धक्के ने नालंदा और विक्रमशिला के ध्वंस के साथ उनका भी अन्त कर दिया।

जैनधर्म का उद्भव लगभग उन्हीं परिस्थितियों में हुआ था जिनमें बौद्धधर्म उत्पन्न हुआ था। पर उसके विकास-क्रम में उन वाममार्गी, गुह्यसमाजी और अतिमार्गी तत्वों का प्रवेश नहीं हो पाया था जो इस काल में ब्राह्मण और बौद्ध धर्मों की विशेषता बन गए थे। परिणामतः जैन-धर्म का रूप विनष्ट होने से बच गया।

जैनों में दिगम्बर और श्वेताम्बर दो सम्प्रदाय प्राचीन काल से चले आ रहे थे। इस काल के आते-आते उनमें अनेक शाखाएँ-उपशाखाएँ हो गईं। मन्दिर, मूर्तिपूजा, अर्चना, वंदना, समर्पण आदि भक्ति मार्गी प्रवृत्तियाँ जैनों में भी आ गईं। उनकी पूजा-पद्धति का बाह्य रूप निरन्तर बढ़ता गया। ज्ञान और तपस्या के मार्ग के बदले बहुत से अंधविश्वास भी जैन धर्म में घुस आए। कर्मकाण्ड के बाह्याडम्बरों से तत्वज्ञान उपेक्षित होने लगा। पर जिस विशेषता के कारण जैनधर्म की रक्षा हुई वह है उसका संयम, कठोर आचार-संहिता और उदासीन-वृत्ति। कठोर व्रतों के विधान से जहाँ जैन मतानुयायियों की संख्या घट रही थी वहाँ उनके कारण उसकी आन्तरिक शक्ति और दृढ़ता बढ़ भी रही थी।

जैन धर्म मगध में उत्पन्न हुआ था पर आलोच्य काल तक उसके केन्द्र धीरे-धीरे पश्चिम में खिसक कर गुजरात सुराष्ट्र और महाराष्ट्र होते हुए कर्नाटक और द्रविड़ प्रदेशों में पहुँच गए थे। दक्षिण में दिगम्बर और गुजरात राजपताना में श्वेताम्बर सम्प्रदाय का प्राधान्य था।

इस काल के राष्ट्रकूट और सोलंकी राजाओं में कुछ का जैनधर्म पर काफी अनुराग था। जैनियों ने अनेक हिन्दू राजाओं को भी प्रभावित कर उनका आश्रय प्राप्त कर लिया था। तमिल देश के अनेक राजाओं ने जैन गुरुओं को दान दिया और उनके लिए मन्दिर और मठ बनवाए। पर जब वहाँ शैव धर्म का प्रभाव बढ़ा तब जैन धर्म के दुर्दिन आ गए।

वैश्य और व्यापारी वर्ग का धर्म होने से जैनधर्म का प्रचार न्यूनाधिक मात्रा में पूरे देश में हुआ, यद्यपि उसके मुख्य केन्द्र पश्चिम और दक्षिण में ही रहे।

९ वीं शताब्दी तक भारत के धार्मिक क्षेत्र में इस्लाम का प्रभाव लगभग नहीं के बराबर था। अभी तक ब्राह्मण बौद्ध और जैन धर्मों तथा इनकी विभिन्न शाखाओं, उपशाखाओं में भारतीय जनता विभक्त थी। इनमें प्रतिस्पर्द्धा तो थी ही, प्रायः खुले संघर्ष भी हो जाते थे। अपने धर्म की श्रेष्ठता और दूसरों की बुराइयों को दिखाने की प्रवृत्ति जोर पर थी। इतना होने पर भी धार्मिक सहिष्णुता का भाव बना हुआ था और अन्य देशों की भाँति धर्म के नाम पर रक्तपात की नौबत कम आती थी। धर्म के क्षेत्र में राजनीतिक दबाव या बलात् चेष्टा का सिद्धान्त नहीं अपनाया गया था। प्रत्येक व्यक्ति को स्वेच्छा से धर्माचरण की स्वतन्त्रता थी। कन्नौज के प्रतिहार राजाओं में यदि एक वैष्णव था तो दूसरा परम शैव, तीसरा भगवती का उपासक था, चौथा परम आदित्य भक्त।[१] जैनचार्यों ने माता-पिता के विभिन्न धर्मावलम्बी होने पर भी आदर-सत्कार का स्पष्ट उल्लेख किया है।

तात्पर्य यह है कि विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में विभक्त होकर भी ९ वीं शताब्दी का भारत परस्पर सहानुभूति, सौहार्द और सहिष्णुता के ऊँचे आदर्श को भूला नहीं था।

साहित्यिक-सांस्कृतिक अवस्था

हमारे इस विवेच्य काल में देश की संस्कृति, शासन और राजनीति की मुख्य भाषा संस्कृत थी। प्रशासनिक पत्र, आदेश, प्रशस्ति, दानपत्र, साहित्य और शास्त्रीय ग्रंथ सभी संस्कृत में लिखे जाते थे। बौद्ध और जैन धर्मों के जन्मकाल से पाली-प्राकृत में साहित्य रचना की जो धारा पिछली कई शताब्दियों से न्यूनाधिक वेग से प्रवाहित हो रही थी ब्राह्मण धर्म के पुनः अभ्युत्थान से उसे संस्कृत के अवरोध का सामना करना पड़ा। बौद्धों में महायान शाखा के आचार्य संस्कृत में ग्रंथ-रचना करने लगे और जैनों को भी वृहत्तर समाज तक अपने धर्म का संदेश पहुँचाने के लिए संस्कृत का माध्यम अपनाना पड़ा। राष्ट्रकूट राजा प्रथम अमोघवर्ष (८१४ ई०) के जैन गुरू जिनसेन को अपना 'आदि पुराण' संस्कृत में लिखना पड़ा। उनके शिष्य गुणभद्र ने भी 'उत्तरपुराण' की रचना संस्कृत में की। इस तरह के और भी कितने ही उदाहरण दिए जा सकते हैं। सभी जैन-पुराण संस्कृत में ही रचित हैं।

आठवीं से अगली ११ वीं-१२ वीं शताब्दी के मध्य संस्कृत के कई प्रख्यात लेखक और शास्त्रकार इस देश में हुए। इनमें भवभूति, वाक्पतिराज, राजशेखर, क्षेमेन्द्र, विल्हण, जयदेव, भट्टनारायण, भोज, माघ, श्रीहर्ष आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्रतिहार राजा महेन्द्रपाल (८९१-९०७ ई०) के गुरू कविराज शेखर की कृतियां कर्पूर-मंजरी और विद्धशाल-मंजिका बहुत उच्चकोटि की मानी जाती हैं। उनका काव्य मीमांसा नामक रीतिशास्त्र का ग्रंथ संस्कृत-आलोचना की परम्परा में विशिष्ट स्थान रखता है।

१—गौरीशंकर हीराचन्द ओझा : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, सन् १९२८, पृ० २७।

राज शेखर के बाद संस्कृत में अलंकरण-प्रधान, पाण्डित्यपूर्ण कृत्रिम शैली का युग आरम्भ हो जाता है। कन्नौज के राजा जयचन्द्र के आश्रित श्री हर्ष के नैषधचरित में उसकी चरम परिणति मिलती है। नैषधचरित अपने पाण्डित्य के लिए संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध है, किन्तु वह अलंकारों से अति बोझिल है।

संस्कृत साहित्य अपनी सरलता, सुन्दरता और मौलिकता खो चुका था। काव्य के सहज सौन्दर्य के बदले अलंकार बढ़ने लगे थे, सरल वर्णन और व्यंजना का स्थान कष्ट कल्पना ले रही थी। अपनी बढ़ती हुई कृत्रिमा के कारण संस्कृत का लोक-सम्पर्क क्षीण होता जा रहा था।

इस अभाव की पूर्ति के लिये अपभ्रंश में साहित्य रचना का उपक्रम हुआ। अपभ्रंश भाषा का जन्म कब-का हो चुका था, इस शती की सबसे उल्लेख्य घटना लोक भाषा अपभ्रंश में साहित्य-रचना का प्रारम्भ है। अब उसकी और अधिक उपेक्षा संभव नहीं थी। संस्कृत नाटककारों ने पहले भी तुच्छ पात्रों के द्वारा उसका प्रयोग यदा-कदा किया था, पर अभी तक अधिकतर उसकी अवहेलना ही होती आई थी। जब जन-भाषा के रूप में उसने अपना स्थान दृढ़ कर लिया तो राज दरबारों में भी अपभ्रंश-कवि स्थान के अधिकारी समझे जाने लगे।[1]

जनता में अपने मत का प्रचार करने के लिए पहले सिद्धों और जैन साधुओं ने अपभ्रंश को साहित्य-रचना का माध्यम बनाया। बाद में उसमें विविध विषयों पर काव्य-रचना होने लगी। ८ वीं शती के पहले ही यह काम आरम्भ हो गया था। सिद्धों की वाणियाँ इसका प्रमाण हैं। ८ वीं शती में इसका सर्व प्रथम महाकवि स्वयंभू उत्पन्न हुआ जिसने अपभ्रंश के कई महान कवियों की एक लम्बी परम्परा का प्रवर्त्तन किया। अपभ्रंश से ही आगे चलकर आधुनिक भारतीय भाषाओं का जन्म हुआ।

साहित्य-क्षेत्र की संस्कृत की अधोमुखी प्रवृत्तियों का दर्शन हमें तत्कालीन दार्शनिक, वैज्ञानिक और कलात्मक क्षेत्रों में भी होता है। दार्शनिक विवेचन में उपनिषदों, गीता, प्रारम्भिक पालिग्रंथों और जैनागमों की सच्ची अनुभूति और सरलता का स्थान तर्क और वितंडा-वाद ने ले लिया था। ८ वीं शती के आरम्भ में ही शंकर का समकालीन काश्मीरी दार्शनिक जयंत कहता है कि, 'हम में नई वस्तु की उत्प्रेक्षा करने की क्षमता कहाँ है[2] ?' दार्शनिक विवेचना पुराने सिद्धान्तों के भाष्य, वार्तिक, वृत्ति और टीकाओं के रूप में रह गई थी। आत्मविश्वास के अभाव में मौलिक रचनात्मक शक्ति कहाँ से आती ?

विज्ञान के क्षेत्र में आर्य भट्ट की स्थापनाओं के आगे प्रगति नहीं हुई। उलटे ब्रह्मदत्त और लल्ल (७–८वीं शती) ने पृथ्वी के सूर्य के चारों ओर घूमने के आर्य भट्ट के सिद्धान्त का विरोध किया और अपने मत के प्रचार में सफल रहे जब तक कि १२ वीं शताब्दी में भास्करा-चार्य ने प्रबल तर्कों द्वारा उसकी पुनः स्थापना नहीं की।

१—इस सम्बन्ध में राज शेखर की उक्ति द्रष्टव्य है,

तस्य (राजासनस्य) चोत्तरतः संस्कृताः कवयो निविशरन्।......
पूर्वेण प्राकृताः कवयः,...पश्चिमेनापभ्रंशिनः कवयः इत्यादि।
—काव्यमीमांसा, अध्याय १०, पृ० ५४।

२—जयचन्द्र विद्यालंकारः भारतीय इतिहास का उन्मूलन, पृ० ३४५।

राजनीति और धर्मशास्त्र में इस शताब्दी में कोई मौलिक रचना नहीं हुई। दर्शन की भाँति इन विषयों में भी व्याख्या और भाष्य लिखने की प्रवृत्ति प्रधान रही।

तत्कालीन कलात्मक प्रयास भी कृत्रिम अलंकरण के प्रभाव से मुक्त नहीं रह सके। मध्यकाल में राजवंशों की ओर से स्थापत्य, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला, रंगमंच और दूसरी उपयोगी कलाओं को खूब प्रश्रय मिला क्योंकि राजाओं में युद्ध-लिप्सा के साथ सौन्दर्य-प्रेम और विलास प्रियता की मात्रा कम नहीं थी। इस युग में उत्तर से दक्षिण भारत तक अनेक मन्दिरों और देवालयों का निर्माण हुआ। हस्तलिखित पुस्तकों में इस युग के हजारों चित्र पाये जाते हैं। जैनों के कल्पसूत्रों को सचित्र करने के लिए गुजरात में एक नई शैली ही चल पड़ी। अजन्ता की अनेक गुफाओं के सुन्दरतम चित्र चालुक्य नरेशों की संरक्षा में बने थे। जब राष्ट्रकूटों ने चालुक्यों की शक्ति तोड़कर अपना राज स्थापित किया तो उन्होंने अजन्ता की बौद्ध गुफाओं के जवाब में पास ही एलोरा में अनेक हिन्दू गुफाएँ खुदवा डालीं। अजन्ता की गुफाएँ २९ थीं, एलोरा में ३९ बनीं।[1]

इस प्रकार कलात्मक निर्माण में उस युग के राजाओं में होड़-सी थी। मन्दिर-निर्माण की अनेक नई शैलियों का आविष्कार हुआ जिनमें नागर, वेसर और द्रविड़ शैलियाँ बहुत प्रसिद्ध थीं। मन्दिरों में स्थापित करने के लिए मूर्तियाँ प्रायः पत्थर की बनाई जाती थीं, पर कांसे, ताँबे और सोने की मूर्तियाँ बनाने का भी प्रचलन था। इस काल की बहुत-सी मूर्तियाँ कला का उत्तम नमूना हैं, दोष केवल इतना ही है कि युग की प्रवृत्ति के अनुसार वे अत्यधिक अलंकारों और बनावटों से दबी हुई हैं। इसी तरह इस युग की हस्तलिखित पुस्तकों में अंकित-चित्र रूढ़िग्रस्त और निर्जीव से लगते हैं, उनके अंग-प्रत्यंग जकड़े से प्रतीत होते हैं।

तात्पर्य यह है कि कलात्मक निर्माण प्रभूत मात्रा में होने पर भी इस प्रकार के नहीं हैं जो प्रेरणादायक और नवोन्मेषजनक हों।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट होगा कि जिस शताब्दी की हम यहाँ चर्चा कर रहे है उसमें अगली शताब्दियों में होने वाली भारतीय समाज की अधोगति की तैयारी लगभग पूरी हो गई थी। वृहत्तर भारत का रूप सिमटने लगा था। उसकी सीमाओं पर व्याघात आरम्भ हो गए थे। दक्षिण-पूर्व के जावा, बाली, बोर्नियो, श्याम, बर्मा, चम्पा, फूनान आदि प्रदेशों में अब भी भारतीय उपनिवेश थे और कुछ तो १३वीं शती के अन्त तक बने रहे पर देश की आन्तरिक दुर्बलता ने भारतीयों को इस योग्य नही रहने दिया कि वे अधिक काल तक बाहर के क्षेत्रों पर अपना अधिकार बनाये रख सकें। अब वहाँ हमारी सांस्कृतिक विजय के कुछ चिह्न-मात्र अवशेष रह गये हैं। पश्चिमोत्तर और मध्य-एशिया में तो हमारे सांस्कृतिक प्रसार के चिह्न भी इस्लाम के आक्रमण ने मिटा दिये।

इस युग की प्रगतिशील प्रवृत्ति केवल एक ही वस्तु में लक्षित होती है, वह है अपभ्रंश भाषा का साहित्यिक अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में अपनाया जाना। यह भी स्मरणीय है कि अगली शताब्दियों में जब हमारा देश अवनति-मुख रहा, इसी अपभ्रंश से हमारी वर्तमान देशी भाषाओं का जन्म हुआ जिसमें जनता को अपनी आन्तरिक भावनाओं को व्यक्त करने का अवसर मिला।

१—भगवतशरण उपाध्याय : सांस्कृतिक भारत, १९५५, पृ० १६०

अध्याय ३

स्वयंभू का जीवन-वृत्त एवं कृतियाँ

समय-विचार

महाकवि स्वयंभू की जन्म-तिथि का हमको निश्चित ज्ञान नहीं है। उनकी कुल-परम्परा, जन्म-स्थान, कार्य-स्थान, कार्य-विधि तथा जीवन की अन्य घटनाओं की जानकारी के लिए उपलब्ध सामग्री अत्यन्त सीमित है। स्वयंभू के अध्येताओं को इन विषयों में अनेक तर्कों और अनुमानों का सहारा लेना पड़ा है।

'पउमचरिउ' में एक स्थान पर और 'रिट्ठणेमि चरिउ' में दो स्थानों पर, अर्थात् सब मिलाकर तीन स्थानों पर कुछ महीनों, दिनों और नक्षत्रों का उल्लेख, इन कृतियों की रचना के प्रसंग में, कवि ने किया है। वे पंक्तियाँ ये हैं—

(क) जुज्झकण्डं समत्तं ।। ज्येष्ठवदि १ सोमे ।। प० च०, सन्धि ७८ ।

(ख) सोम सुयस्स य वारे त इयादि यहम्मि फग्गुणे रिक्खे ।
सिउ-णामेण य जोए समाणियं जुज्झ-कण्डं व ।।

(ग) दियहाहिवस्स वोर दसमी-दियहम्मि मूलणक्खते ।
एयारसम्मि चंदे उत्तरकण्डं समाढत्तं ।।

अंतः साक्ष्य के नाम पर स्वयंभू से उनके काल-निर्णय के सम्बन्ध में हमें केवल इतने ही संकेत प्राप्त हैं। इन उल्लेखों के अनुसार 'पउमचरिउ' का युद्ध काण्ड ज्येष्ठ वदि १ सोमवार को पूरा हुआ। 'रिट्ठणेमिचरिउ' के युद्ध-कांड की समाप्ति बुधवार ३ फाल्गुन नक्षत्र शिवयोग में हुई तथा उसका उत्तरकाण्ड रविवार १० मूल नक्षत्र एकादश चन्द्र में आरम्भ हुआ। इन उल्लेखों में कहीं भी सन्-सम्वत् का समावेश नहीं है। प्रश्न यह है कि इन तिथियों आदि की खोज किस या किन सम्वतों में की जाय। अनादि और अनंत काल-प्रवाह में उनकी असंख्य आवृत्तियाँ हुई होंगी। स्वयंभू के प्रसंगों में उनकी स्थापना का उपक्रम किस प्रस्थान-बिन्दु से हो ?

इस गुत्थी को सुलझाने के लिए पहले स्वयंभू की पूर्व और उत्तर काल-सीमाओं को निर्धारित करने का प्रयत्न किया गया है, फिर इन सीमाओं के बीच स्वयंभू की अवस्थिति पर, उपर्युक्त अन्तः साक्ष्य के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों पर भी विचार करके, कतिपय निष्कर्ष प्रस्तुत किये गये हैं।

स्वयंभू की पूर्व और उत्तर-काल-सीमाओं के निर्धारण का आधार अन्तः साक्ष्य ही है, उसकी प्रामाणिकता असंदिग्ध है।

आत्म-विनय-प्रदर्शन के निमित्त स्वयंभू ने "पउम चरिउ" के आदि में कतिपय पूर्व महाकवियों का स्मरण और गुणगान किया है।[१] इसी प्रकार 'रिट्ठणेमि चरिउ' के प्रारम्भ में भी उन्होंने इनका और कुछ अन्य कवियों का अपने ऊपर ऋण स्वीकार किया है।[२] 'स्वयंभू-छन्द' में उन्होंने प्राकृत और अपभ्रंश दोनों मिलाकर ५८ कवियों की रचनाओं से उदाहरण दिये हैं। पर दुर्भाग्य से 'स्वयंभू-छन्द' में उदाहृत कवियों के सम्बन्ध में अभी तक हमारा ज्ञान इन दृष्टान्तों तक सीमित है। अतएव 'स्वयंभू-छंद के आधार पर कवि के काल-निर्णय में कोई सहायता नहीं मिलती है। पूर्व दो कृतियों में स्मृत साहित्य महारथी अवश्य काम के हैं।

"पउम चरिउ" "रिट्ठणेमि चरिउ" में प्रशंसित भरत, व्यास, पिंगलाचार्य, इन्द्राचार्य, भामह, दण्डी, श्री हर्ष, वाण, रविषेण, चतुर्मुख आदि स्वयंभू के पूर्वगामियों में आचार्य रविषेण का समय सबसे बाद में आता है जिनके द्वारा संस्कृत-जैन-कथा-साहित्य का सबसे प्राचीन ग्रंथ "पद्मचरित" रचा गया। "पद्म चरित" के निम्नलिखित श्लोक से सिद्ध है कि उसकी रचना महावीर स्वामी के निर्वाण के १२०३ वर्ष बाद अर्थात् ई० स० ६७६-६७७ में हुई:—

द्विशताभ्यधिके समा सहस्रे समतीतेऽर्द्ध चतुर्थ वर्ष युक्ते।

जिन भास्कर वर्द्धमान सिद्धे चरितं पद्ममुनेरिदं निबद्धम ॥ १२३, १८१।

(जिन सूर्य-भगवान् महावीर-के निर्वाण होने के १२०३ वर्ष ६ माह व्यतीत होने पर पद्ममुनि का यह चरित निबद्ध किया गया।[३])

स्वयंभू की स्वीकारोक्ति के अनुसार उन्होंने "रविसेणारिय-पसाएँ" अर्थात् रविषेणाचार्य के प्रसाद से राम-कथा रूपी नदी का अवगाहन किया। इससे स्पष्ट है कि स्वयंभू का समय सन् ६७६-७७ ई० के बाद में ही होगा, उससे पूर्व नहीं हो सकता। यह स्वयंभू के काल की पूर्व-सीमा हुई।

जिस प्रकार स्वयंभू ने अपने पूर्व कवियों और आचार्यों के प्रति कृतज्ञता की विज्ञप्ति की है उसी प्रकार उनके अनेक परवर्ती कवियों ने स्वयंभू के प्रति आभार प्रकट किया है। इनमें कालक्रम से महाकवि पुष्पदन्त सबसे पहले आते हैं। उन्होंने अपने "महापुराण" में दो स्थानों पर स्वयंभू का स्मरण किया है।[४] पुष्पदन्त के "महापुराण" की रचना सन् ९५९-६० में

१—पुण रविसेणायरिय-पसाएं। बुद्धिएं अवगाहिय कइराएं॥ १, २, ९

णउ णिसुणिउ पंच-महाय-कव्वु। णउ भरहु गेउ लक्खणु वि सव्वु॥ १, ३, ७

णउ बुज्झिउ पिंगल-पत्थारु। णउ भम्मह-दण्डि-अलंकारु॥

२—इन्देण समप्पिउ वायरणु। रस भरहें वासें वित्थरणु॥

पिंगलेण छंद-पय-पत्थारु भम्मह-दंडिणिहिं अलंकारु॥

बाणेण समप्पिउ घणघणउ। तं अक्खर-डंबरु अप्पणउ॥

सिरिहरिसें णिय णिउणत्तणउ। अवरेहि मि कइहिं कइत्तणउ॥

छड्डणिय-दुवइ-धुवएंहि जडिय। चउमुहेण समप्पिय पद्धडिय॥ १, १, ६-१०

३—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९५८ संस्करण।

४—(क) चउमुहु सयंभु सिरि हरिसु दोणु। आलइउ कइ ईसाणु बाणु॥ १, १, ५

(ख) कइराउ सयंभु महायरिउ। सो सयण-सहासहिं परियरिउ॥ ६९, १, ७

प्रारम्भ हुई।[1] अतएव यह कहना युक्तिसंगत है कि स्वयंभू इस समय के पूर्व हो चुके थे। ८५८-६० ई० उनकी उत्तर काल-सीमा है।

अस्तु, यह निश्चित है कि महाकवि स्वयंभू सन् ६७६-७७ और ८५८-६० के बीच में रहे। परन्तु इससे उनके काल-निर्णय की समस्या का समाधान नहीं हो जाता, वस्तुतः अभी तो उसका स्पर्श-मात्र हुआ है। लगभग ३०० वर्षों के इस दीर्घ काल-प्रसार में उनकी ठीक समयावधि जानने के प्रयत्न अनवरत चल रहे हैं।

प्रेमी ने एक तर्क प्रस्तुत कर इस दीर्घ व्यवधान को १००-१२५ वर्षों से कम करने का प्रयत्न किया है।[2] उनके विचार से स्वयंभू रविषेण से बहुत अधिक बाद नहीं हुए। वे हरिवंश पुराण कर्ता जिनसेन से कुछ ही पहले हुए होंगे क्योंकि यदि जिनसेन स्वयंभू से काफी पहले हो गए होते तो जिस तरह उन्होंने "परमचरिउ" में रविषेश का उल्लेख किया है उसी तरह "रिट्ठणेमि चरिउ" में हरिवंश के कर्त्ता जिनसेन का उल्लेख अवश्य करते। इसी तरह आदि पुराण और उत्तर-पुराण के कर्ता जिनसेन एवं गुणभद्र का नाम भी स्वयंभू कहीं नहीं लेते। यह बात नहीं जँचती कि बाण, श्रीहर्ष आदि अजैन कवियों की चर्चा स्वयंभू करें और दोनों जिनसेन तथा गुणभद्र जैसे जैनाचार्यों को छोड़ दें। इससे तो यही अनुमान होता है कि स्वयंभू दोनों जिन सेनों और गुणभद्र से कुछ पहले हो चुके होंगे। हरिवंश की रचना सन् ७८३ ई० में समाप्त हुई थी।[3] इसलिए स्वयंभू का समय सन् ६७६-७७ और ७८३ ई० के बीच माना जा सकता है।

परन्तु अधिक पुष्ट प्रमाणों के अभाव में स्वयं प्रेमी इसे बहुत विश्वसनीय नहीं मानते। यह तो स्पष्ट ही है कि अनुल्लेख पर आधारित यह तर्क सीमित उपयोगिता रखता है। भायाणी ने भी इसे स्वीकार नहीं किया है।[4]

'पउमचरिउ' और 'रिट्ठणेमि चरिउ' में कवि द्वारा किए गए अपूर्ण समयोल्लेखों की चर्चा ऊपर हो चुकी है। स्वयंभू की पूर्व और उत्तर काल सीमाओं के अन्तर्गत सन् ७०० और ८५० ई० के मध्य इन ग्रन्थों में दी गई तिथियों के आवर्तनों का परिगणन पिल्लई-पंचांग के आधार पर डा० भायाणी ने किया है।[5] उन्होंने "रिट्ठणेमि चरिउ" के युद्धकाण्ड की समाप्ति और उत्तर काण्ड के प्रारम्भ करने की तिथियों को ध्यान में रखते हुए उनके केवल उन्हीं आवर्तनों को लिया है जिनका परस्पर-व्यवधान ५-६ वर्षों से अधिक न हो और इसलिए जो प्रस्तुत संदर्भ में उचित और संभाव्य प्रतीत हों। उल्लिखित तीनों तिथियों के आवर्तन निम्नांकित हैं:—

(१) ज्येष्ठ वदि सोमवार—३१ मई। ७१७। २७ मई ७२०। २८ मई ७४७। २१ मई ७६४। ६ जून ७६८ और १२ जून ७७१।

(२) बुधवार ३ फाल्गुन नक्षत्र शिवयोग—१५ जनवरी ७२७। १४ जुलाई ७२८। २७ जुलाई ७३५। २८ जुलाई ७६२ और १७ जनवरी ७८१।

१—प्रेमी, पृ० २४६-५०
२—प्रेमी, पृ० २१०-११।
३—प्रेमी, पृ० १४०।
४—प० च०, प्रथम भाग, प्रस्तावना, पृ० ८।
५—वही, पृ० ६।

(३) रविवार १० मूल नक्षत्र एकादश चन्द—२७ जून ७३२। ७ अगस्त ७४०। ९ फरवरी ७६६। ९ अगस्त ७६७ और १ अगस्त ७८४।

परन्तु इस जानकारी से कोई विशेष लाभ नहीं। अधिक से अधिक हम एकाध अनुमान लगा सकते हैं। उदाहरणार्थ, यह संभव है कि "पउमचरिउ" का युद्धकाण्ड २१ मई ७६४ को समाप्त हुआ हो और फिर उत्तरकाण्ड की शेष ५ संधियाँ रचने में कवि को कुछ समय और लगा हो। तब उसने "सिरि पंचमी" कहा, और "स्वयंभू छंद" को पूरा किया हो। इनसे निवृत्त हो सन् ७७४ के आस-पास उसने "रिट्ठणेमिचरिउ" की रचना में हाथ लगाया हो जिसके युद्धकाण्ड को समाप्त करते-करते, उसके कथनानुसार, ६ साल, ३ महीने, ११ दिन लगे हों।[1] इस प्रकार "रिट्ठणेमिचरिउ" का युद्धकाण्ड १७ जनवरी सन् ७८१ को समाप्त हुआ हो और थोड़े विश्राम के पश्चात् कवि १ अगस्त सन् ७८४ को उत्तरकाण्ड को पूरा करने में लग गया हो।

इस अनुमान का राहुल सांकृत्यायन के मत से मेल नहीं खाता। राहुल जी का विचार है कि स्वयंभू उत्तर के रहने वाले थे और राष्ट्रकूट राजा ध्रुवधारावर्ष (७८०-७९४ ई०) के कन्नौज-आक्रमण के समय उसके मंत्री रयडा के साथ दक्षिण गए।[2] उनका यह मत "पउमचरिउ" की दो उक्तियों पर आधारित है। "रयडा" का उल्लेख "पउमचरित" के आरम्भ में ही मिलता है। राहुल जी ने उसे इस प्रकार उद्धृत किया है :—

वेवेसाय तो विणउ परिहरमि। वीर रयडा बुत्तु कव्वु करमि॥

(तो भी मैं काव्य-व्यवसाय नहीं छोड़ पा रहा हूँ, वरन् रयडा के कहने से काव्य-रचना कर रहा हूँ।)

यह उल्लेख्य है कि राहुल जी का यह पाठ "पउम चरिउ" की पूना की प्रति पर आधारित है जिसे डा० भायाणी द्वारा सम्पादित संस्करण में स्वीकार नहीं किया गया है। भायाणी ने आमेर की प्रति का रूप दिया है जो इस प्रकार है :—

ववसाउ तो वि णउ परिहरमि वरिरेड्डावद्ध कव्वु करमि॥ १, ३, ६

मुख्य बात यह है कि यमक की दूसरी अर्धाली में "वत्तु" के स्थान पर "वद्ध" पाठ होने से अर्थ बदल जाता है—अर्थात् मैं रड्डाछन्दोबद्ध काव्य लिख रहा हूँ।

राहुल जी के मत का आधार-स्वरूप दूसरा स्थल "परम चरिउ" की २० संधि में इस प्रकार है :—

ध्रुवराय राय व तइय भुवप्पणतिणतीमु याणुपायेण।

यह पाठ-रूप भी भवाणी द्वारा स्वीकृत रूप से पर्याप्त भिन्न है, पर "ध्रुवराय" के सम्बन्ध में कोई भिन्नता नहीं है।

राहुल जी का मत मान्य हो तो स्वयंभू का उत्तर से दक्षिण जाना ८ वीं शताब्दी के अन्त में सिद्ध होता है। इससे उनका-काल ९ ई० श० के पूर्वार्ध में मानना पड़ेगा। स्वयंभू मूलतः उत्तर के थे, इस सम्बन्ध में राहुल जी ने कोई प्रमाण नहीं दिया है। उनकी भाषा ही कदाचित् इसका सबसे बड़ा प्रमाण है कि स्वयंभू का सम्बन्ध कभी-न-कभी आर्य-भाषा-भाषी

१—छव्वरिसाइं तिमासा एयारस वासरा सयम्भुस्स।
वाणावइ-संधि-करणे वोलीणो इतिओ कालो। रि० च०, संधि ९२

२—हिन्दी काव्य धारा, पृ० २३

प्रदेश से था, तभी वे द्रविड़-भाषी प्रदेश में रहकर भी आर्य भाषा अपभ्रंश में काव्य-रचना कर सके। इस विषय में आगे फिर विचार होगा।

स्वयंभू की तिथि के सम्बन्ध में एक अन्य निष्कर्ष इधर डा० भायाणी ने प्रस्तुत किया है।[1] इसके अनुसार स्वयंभू का कार्य-काल ९ ई० शती के उत्तरार्ध में पड़ता है। "पउम चरिउ" की ६९ संधि के छठे कडवक की निम्नलिखित पंक्ति इस निष्कर्ष का आधार है :—

पुणु सरि भीमरहि जलोह-फार जो सेउण-देसहों अमिय-धार ॥

(लंका से अयोध्या के मार्ग में हनुमान ने) "भीमरथी नदी के जल-प्रवाह को देखा जो सेउण-देश के लिए अमृत की धारा है।"

सेउण-देश का स्वयंभू द्वारा निर्दिष्ट किया जाना उनके काल-निर्णय में विशेष महत्व रखता है। सेउण-देश यादव-वंशीय राजा सेउणचन्द्र प्रथम द्वारा स्थापित सेउण-नगर के पार्श्ववर्ती भू-प्रदेश का नाम था। इसकी निश्चित भौगोलिक सीमाओं के विषय में विद्वानों में कुछ मतभेद रहा है। पं० भगवानलाल इन्द्र जी नासिक के २० मील दक्षिण आधुनिक सिन्नार के आस-पास इसकी स्थिति मानते हैं।[2] डा० डी० सी० गांगुली का मत है कि यह दंडक की सीमा पर स्थित था और आधुनिक दौलताबाद (जिसका प्राचीन नाम देवगिरि था) इसके अन्तर्गत था।[3] स्वयंभू के वर्णन से सेउण-देश की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। वह भीमरथी नदी से सिंचित प्रदेश था, इसीलिए कवि ने भीमरथी के जल को उसके लिए अमृत कहा है। अतः सेउण-देश की स्थिति अब तक जहाँ मानी जाती थी उससे और दक्षिण की ओर मानना ठीक होगा।

सेउण-देश की स्थिति से भी अधिक महत्व की बात हमारे लिए उसके संस्थापक सेउणचन्द्र प्रथम का समय है क्योंकि उसी पर स्वयंभू का भी काल-निर्णय निर्भर है। दुर्भाग्य से उसके विषय में कोई समसामयिक उल्लेख, ताम्र लेख या शिलालेख अभी तक नहीं प्राप्त हुआ है। पर उसके बाद के एकाधिक राजाओं के सम्बन्ध में ऐसी सामग्री मिलती है जिसके आधार पर गणना करके सेउणचन्द्र प्रथम की अवस्थिति सन् ८२५-२६ में सिद्ध की गई है।[4] अपने शासन-काल में सेउणचन्द्र ने सेउण-नगर बसाया जिसके कारण उसके आस-पास का क्षेत्र सेउण-देश कहलाया। यदि यह मान लिया जाय कि यह काम ८२५-४० ई० के बीच किसी समय हुआ तो उसकी प्रसिद्धि ८५०-६० के बीच अवश्य हो गई होगी। यही समय "पउम चरिउ" की रचना का भी मानना होगा।

वस्तुतः देखा जाय तो राहुल और भायाणी के मतों में कुछ ही वर्षों का व्यवधान पड़ता है। एक के मतानुसार स्वयंभू का रचनाकाल ९ वीं ई० शती के पूर्वार्ध में आता है, दूसरे के मत से वे ९ वीं शती के उत्तरार्ध में हुए।

यह भी तो संभव है कि स्वयंभू का कर्त्तृत्व-काल ९ वीं शती के पूर्वार्ध में ही आरम्भ हुआ

१—प० च०, भाग ३, १९६०, प्रस्तावना, पृ० ४१

२—इंडियन एन्टीक्वेरी, १२, १८८३, पृ० ११९

३—दी स्ट्रगल फार एम्पायर (दी हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ दी इंडियन पिपुल, जिल्द ५) बम्बई १९५७, पृ० १८५

४—वही।

हो और उसके उत्तरार्ध तक चलता रहा हो। दक्षिण पहुँचने पर रयडा के आदेश से उन्होंने "पउम चरिउ" आरम्भ किया हो और बीच में दो विरामों[1] के पश्चात् जब तक वे ६८ वीं संधि तक पहुंचे तब तक सेउण-देश अस्तित्व में आकर प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका हो।

प्राप्त सामग्री के आधार पर स्वयंभू के काल के सम्बन्ध में अभी इतना ही कहा जा सकता है। जब तक कोई अधिक विश्वसनीय और प्रामाणिक साक्ष्य न प्राप्त हो हमें इसी से सन्तोष करना होगा।

व्यक्तिगत परिचय

समय के समान ही स्वयंभू का व्यक्तिगत परिचय भी अधूरा है। फिर भी जो थोड़ी-बहुत जानकारी अन्तर्साक्ष्य के रूप में उनसे प्राप्त होती है वह बहुत उपयोगी है।

'पउम चरिउ' की कुछ पंक्तियों के आधार पर ज्ञात होता है कि स्वयंभू के पिता का नाम मारुतदेव और माता का पद्मिनी था।[2]

'स्वयंभू छंद' में एक दोहा[3] 'तहा य माउरदेवस्स' कह कर उद्धृत किया गया है। अनुमान है कि यह माउरदेव अन्य कोई न होकर कवि के पिता मारुतदेव ही हैं। गाथा सप्तशती की गाथा सं० २९०, २९४ और ३४६ इन्हीं की बनाई हुई बताई जाती हैं।[4]

इससे विदित होता है कि स्वयंभू को काव्य-प्रतिभा पिता से उत्तराधिकार में प्राप्त हुई थी। सुपुत्र की भाँति उन्होंने उस प्रतिभा को विकसित कर सफलीभूत किया और भावी संतति में उसका बीज वपन कर गए जिससे त्रिभुवन पिता की अधूरी कृतियों को पूर्णता प्रदान कर सका। अतएव स्वयंभू की कुल-परम्परा में कम से कम तीन पीढ़ियों के काव्यानुशीलन में प्रवृत्त होने के प्रमाण मिलते हैं।

स्वयंभू ने अपनी दो पत्नियों के नाम आदर और प्रेम से लिए हैं। एक पत्नी सामिअब्बा या अमिअब्बा (अमृताम्बा) थी जिसने विद्याधर काण्ड लिखाने में कवि की सहायता की।[5] दूसरी पत्नी आइच्चंबा (आदित्याम्बा) थी जिसकी सहायता से स्वयंभू ने अयोध्याकाण्ड लिपिबद्ध किया।[6] आइच्चंबा की प्रशंसा में कवि उसे सूर्यदेव की प्रणयिनी रत्नादेवी से उपमित करता है।

१—डा० भायाणी के मतानुसार प० च० की रचना का क्रम दो बार भंग हुआ जान पड़ता है। दे० आगे पृ० २७

२—पउमिणि-जणणि-गब्भ-संभूएं। मारुयएव-रूव-अणुराएं ॥ प० च० १, २, १०
माउर-सुअ-सिरिकइराय-तणय-कय-पोमचरिय-अवसेसं।
संपुण्णं संपुण्णं वन्दइओ लहइ संपुण्णं ॥ प० च० प्रशस्तिगाथा १६

३—लद्धउ मित्त भमंतेण रअणाअरचंदेण।
सो सिज्जंते सिज्जइ वि तह भरइ भरंतेण ॥ ४-९

४—प्रेमी, पृ० १९६.

५—णामेण सामिअब्बा सयम्भु-घरिणि महासत्ता ॥
तीए लिहावियमिणं वीसहि आसासएहिं पडिबद्धं। प० च० संधि २० अंतिम अंश।

६—आइच्चुएवि-पडिमोवमाएं आइच्चम्बिमाए।
वीअमउज्झा-कंडं सयंभु-घरिणीएं लेहवियं ॥ प० च०, संधि ४२, अंतिम अंश

पहली पत्नी के नाम के विषय में दो मत प्रचलित हैं, कोई सामिअव्वा कहता है और कोई अमिअव्वा जो अमृताम्बा का अपभ्रंश लगता है। डा० भायाणी उत्तर मत के पोषक हैं।[1]

यद्यपि स्वयंभू ने अपनी किसी और पत्नी का उल्लेख नहीं किया है पर प्रेमी जैसे कुछ विद्वानों का अनुमान है कि उनकी एक तीसरी पत्नी भी थी जिसका नाम सुअव्वा था। स्वयंभू के पुत्र त्रिभुवन स्वयंभू की एक श्लिष्ट उक्ति उपर्युक्त धारणा का आधार है। उक्ति यह है—

सव्वे हि सुआ पंजरसुअव्व पढि अक्खराइं सिक्खंति ।
कइराअस्स सुओ पुण सुअव्व-सुइ-गब्भ संभूओ ॥[2]

त्रिभुवन की इस दर्पोक्ति का आशय यह है कि सभी सुत पिंजरबद्ध शुक की भाँति पढ़े हुए अक्षर सीखते हैं, कविराज स्वयंभू का सुत त्रिभुवन सुअव्व-सुइ-गब्भ संभूत है अर्थात जिस प्रकार श्रुति से शास्त्र उत्पन्न हुए उसी प्रकार सुअव्वा के शुचि गर्भ से त्रिभुवन उत्पन्न हुआ है।

त्रिभुवन के इस कथन के अतिरिक्त स्वयंभु की तीसरी पत्नी के विषय में अन्य कोई प्रमाण प्राप्त नहीं है। अतः उनकी तीसरी पत्नी का होना असंदिग्ध रूप से मान्य हो, ऐसी बात नहीं है।

स्वयंभू ने अपने किसी पुत्र का उल्लेख नहीं किया है, यद्यपि यह निर्विवाद रूप से माना जाता है कि त्रिभुवन उनका पुत्र था जिसने उनकी तीन महान् कृतियों के अन्तिम अंशों की रचना की। त्रिभुवन ने अपने को स्वयंभू का "लहुतणओं" कहा है।[3] अन्यत्र वह अपने को स्वयंभू का "लहु अंगजाय" "लहुअजाय" आदि कहता है।[4] इससे यह निष्कर्ष स्वाभाविक है कि स्वयंभू के एकाधिक पुत्र थे। परन्तु त्रिभुवन अपने किसी अग्रज का नामोल्लेख नहीं करता। वह न तो अपनी विमाताओं का नाम लेता है और यदि ऊपर विवेचित "सुअव्व-सुइ-गब्भ-संभूओ" वाली उसकी उक्ति को अलग रख दें तो वह अपनी माता का भी कहीं स्पष्ट शब्दों में उल्लेख नहीं करता।

पिता के प्रति त्रिभुवन में अगाध श्रद्धा है। वह उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करता है और अपना नाम सदैव पितृ-नाम से सम्बद्ध करके लेता है। वह उन्हें स्वयंभूदेव, कविराज, कविराज चक्रवर्तिन, विद्वान् और छन्दस् चूड़ामणि की उपाधियों से अलंकृत करके वर्णन करता है।[5] इससे पिता के प्रति पुत्र के आदर और सम्मान-भावना की प्रतीति तो होती ही है, साथ ही तत्कालीन साहित्य-संसार में महाकवि स्वयंभू की ख्याति और प्रतिष्ठा का भी बोध होता है।

अपने प्रति भी त्रिभुवन की गर्वोक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं। एक उदाहरण ऊपर आ चुका है। "पउमचरिउ" की परिसमाप्ति पर उसकी प्रशस्तिगाथा में बार-बार वह अपनी

१—भायाणी-प्रस्तावना, पृ० १०

२—प्रशस्ति गाथा : ८।

३—जइ ण हुउ छन्दचूडामणिस्स तिहुअण-सयम्भु लहु-तणओ ।
तो पद्धडिया-कव्वं सिरि-पंचमि को समारेउ ॥ प० च० प्रशस्तिगाथा ।

४—वन्दइ आसिय-महकइ-सयम्भ-लहु-अंगजाय-विणिबद्धो ।
सिरि-पोमचरिय-सेसे पंचासीमो इमो सग्गो ॥ प०च० सन्धि ८५ ।
वन्दइआसिय-कइराय-चक्कवइ-लहुअजाय-वज्जरिए ।
रामायणस्स सेसे अट्ठासीमो इमो सग्गो ॥ प० च० सन्धि ८८ ।

५—देखिए प० च०, संधि, २१, ३१, ३३, ४७ की अन्तिम पंक्तियाँ।

प्रशंसा के पद कहता है ।[१] उसका कथन है कि यदि वह न होता तो स्वयंभूदेव के काव्यों का, कुल का और कवित्व का उद्धार कौन करता? और सब लोग तो अपने पिता के धन का उत्तराधिकार ग्रहण करते हैं, परन्तु त्रिभुवन स्वयंभू ने अपने पिता के सुकवित्व का उत्तराधिकार लिया ।[२] व्याकरण रूप जिसके दृढ़ स्कंध हैं, आगमों के अंगों की उपमा वाले जिसके विकट पद हैं, ऐसे त्रिभुवन स्वयंभु रूप वृषभ ने जिन-तीर्थ में काव्य का भार वहन किया ।[३] उस त्रिभुवन स्वयंभु के गुणों का वर्णन कौन कर सकता है जिसने बाल्यावस्था में ही अपने पिता के काव्य-भार को उठा लिया ?[४]

पिता की भाँति त्रिभुवन अपने को भी 'महाकवि' कहता है ।[५] पिता के काव्य-ग्रन्थों को पूरा करने के अतिरिक्त उसने स्वयं 'पंचमीचरिउ' नामक ग्रंथ की रचना की थी ।[६]

स्वयंभू की रचनाओं की चर्चा करते समय आगे हम देखेंगे कि त्रिभुवन ने उनके ग्रन्थों का परिवर्धन स्वेच्छा से किया था, पिता के आदेश या ग्रन्थ-पूर्ति की अनिवार्य आवश्यकता से प्रेरित होकर नहीं ।

'पउमचरिउ' की एक चौपाई में स्वयंभू ने अपने शारीरिक गठन का वर्णन किया है:—

अइ-तणुएण पईहर गत्ते छिव्वर णासे पविरल दन्ते । १, २, ११ एतदनुसार वे बहुत पतले और ऊँचे थे, उनकी नाक चपटी और दाँत विरल थे ।

स्वयंभू के वंश-गोत्र आदि का पता नहीं । वे जैन धर्मावलम्बी थे, इतना निश्चित है, पर जैनों के किस सम्प्रदाय के थे, इस विषय में निश्चयपूर्वक कुछ कहना कठिन है । पुष्पदन्त के महापुराण के १. ९. ५ के 'स्वयंभू' शब्द के टिप्पण में उन्हें पद्धड़ी-बंध-रामायण-कर्ता आपली संघीयः कहा गया है । इससे वे जैनों के यापनीय सम्प्रदाय के अनुयायी जान पड़ते हैं । दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों की प्रसिद्धि बहुत है और अब तक उनका प्रचार है, पर जैनों के तीसरे सम्प्रदाय यापनीय, आपुलीय या गोप्य का नाम अब मिट गया है । ऐसा क्यों हुआ, कहना कठिन है, पर अभी तक की खोज से यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि विक्रम की पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी तक यह सम्प्रदाय जीवित था ।[७] दिगम्बर श्वेताम्बर सम्प्रदायों के अलगाव (विक्रम सं० १३६) के कुछ ही समय बाद यह अस्तित्व में आया था । दर्शनसार के कर्ता देवसेन के कथानुसार कम से कम वि० सं० २०५ से इसका पता चलता है । कर्नाटक और उसके आसपास के क्षेत्रों में इसका प्रचार अधिक था और आश्चर्य नहीं कि कन्नड भाषा में, जिसमें जैन विद्वानों ने १२-१३ वीं शताब्दी तक एक से एक बढ़कर ग्रन्थ लिखे

१—देखिए प्रशस्तिगाथा : पद्य सं० ६ ।

२—सव्वो वि जणो गेण्हइ णिय-ताय-विढत्त-दव्व-सन्ताणं ।
तिहुयण-सयम्भुणा पुणु गहियं सुकइत्त-सन्ताणं ।। प्रशस्तिगाथा, पद्य ११ ।

३—वायरण-दढ-क्खन्धो आगम अंगो पमाण-वियड-पओ ।
तिहुयण-सयम्भु-धवलो जिण-तित्थे वहउ कव्व-भरं ।।प्रशस्तिगाथा, पद्य ६ ।

४—वही, पद्य ५ ।

५—तिहुयण-सयम्भु-महाकइ-समाणिए समवसरणं णाम सउमो सग्गो । रि०च० सन्धि, १०० ।

६—तिहुयण-सयम्भु-रइयं पंचमीचरिय महच्छरियं । प०च०, प्रशस्तिगाथा, पद्य ७ ।

७—प्रेमी, पृ० ५७ ।

हैं,[1] खोज करने पर यापनीय साहित्य प्रचुर मात्रा में मिले। यापनीय सम्प्रदाय दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों की कुछ विशेषताएँ अपने में सन्निहित किए हुए था। उदारता और सहिष्णुता में यह दोनों से बढ़कर था। वह मानता था कि स्त्रियों को उसी भव में मोक्ष हो सकता है, और सग्रंथावस्था व परशासन से भी मुक्ति-प्राप्ति सम्भव है।[2]

स्वयंभूदेव के धार्मिक और साम्प्रदायिक विचारों की उदारता और परधर्म-सहिष्णुता को दृष्टि में रखते हुए देखा जाय तो उनका अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा यापनीय संघीय होना अधिक संगत जंचता है, चाहे इसके लिए कोई प्रत्यक्ष प्रमाण न हो।[3] स्वयंभू के धार्मिक और दार्शनिक विचारों का विवेचन आगे अध्याय ८ में मिलेगा।

स्वयंभू के जन्म-स्थान का हमें पता नहीं है, यह पहले कहा जा चुका है। किस स्थान-विशेष में रहकर उन्होंने अपने काव्य-ग्रंथों का प्रणयन किया, यह भी कहीं लिखित नहीं मिलता।

पउमचरिउ की कई संधियों के अन्त में किए गए उल्लेखों के अनुसार यह ग्रंथ स्वयंभू द्वारा किसी धनंजय के आश्रय में लिखा गया था। इसी भाँति रिट्ठणेमिचरिउ की रचना उन्होंने किसी धवलइया के संरक्षण में रह कर की थी। स्वयंभू के पुत्र त्रिभुवन की उक्ति के अनुसार उसने पउमचरिउ की शेष संधियाँ (८४ से ९० तक) किसी बंदइया के आश्रय में रह कर पूरी कीं। रिट्ठणेमिचरिउ की अन्तिम संधियाँ रचते समय उसका आश्रयदाता कौन था, यह त्रिभुवन ने नहीं बताया। हो सकता है कि धवलइया ही रहा हो। धनंजय, धवलइया और बंदइया में कोई परस्पर पूर्वापर पारिवारिक सम्बन्ध था, कह सकना कठिन है, पर इन नामों का उच्चारण-साम्य ध्यान अवश्य आकृष्ट करता है। उधर स्वयंभू की स्त्रियों के नामों आइच्चंवा और अमिअव्वा का उच्चारणसाम्य भी कम उल्लेख्य नहीं है।

पुरुषों और स्त्रियों के नामकरण की यह शैली प्राचीन कन्नड की विशेषता थी।[4] अन्य साक्ष्यों के अतिरिक्त यह भी एक आधार है जिसके बल पर कहा जा सकता है कि स्वयंभू की साहित्य साधना की भूमि कन्नड-भाषी प्रदेश में ही थी। इस निष्कर्ष की पुष्टि इस बात से भी होती है कि उपर्युक्त नामों का उच्चारण-साम्य पुष्पदन्त-कथित कुडव्वा, अम्मइय, दंगइय, सीलइय आदि स्त्री-पुरुष-नामों से है, और हम यह भली भाँति जानते हैं कि पुष्पदन्त ने राष्ट्रकूट-मंत्री भरत के संरक्षण में मान्यखेट (आधुनिक मालखेड), हैदराबाद के कन्नड भाषा-भाषी केन्द्र में रह कर अपने अपभ्रंश महापुराण की रचना की थी। तात्पर्य है यह कि ये दोनों महाकवि एक ही क्षेत्र-कर्नाटक प्रदेश में कुछ आगे-पीछे हुए।

१—डा० हिरण्मय : हिन्दी और कन्नड में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन, १९५९, पृ० १८५।

२—'यापनीयास्तु वेसरा इव उभयं मन्यंते, रत्नत्रयं पूजयंति, कल्पं च वाचयंति, स्त्रीणां तद्भवे मोक्षं, केवलिजिनानां कवलाहारं, परशासने, सग्रंथानां मोक्षं च कथयंति।' श्रुतसागर कृत दर्शन प्राभृत की टीका। प्रेमी, पृ० ५९ से उद्धृत

३—भायाणी प्रस्तावना पृ० १३

४—देखिए, भायाणी, पृ० ११ पादटिप्पणी सं० ६, ९, (आठवीं-दसवीं शताब्दी के कन्नड शिला-लेख)।

स्वयंभू का साहित्य-रचना का जीवन दक्षिण भारत में व्यतीत हुआ इसके लिए कुछ प्रमाण उनके ग्रन्थों से आकलित किए जा सकते हैं। प्रथमः, इस बात की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट हुए बिना नहीं रहता कि स्वयंभू ने अपनी कृतियों में जितना वर्णन दक्षिण भारत का किया है उतना उत्तर भारत का नहीं। विन्ध्याचल उनके वर्णन की उत्तरी सीमा है। मंदाकिनी, गंगा, यमुना आदि नदियों के नाम दो-एक बार उपमा, उत्प्रेक्षा के लिए अलंकार-योजना में आ गए हैं।[1] लेकिन नर्मदा, ताप्ती और गोदावरी का नामोल्लेख कई बार न केवल अलंकार-योजना के लिए वरन् सजीव विस्तृत चित्रण के लिए हुआ है।[2] भीमरथी जैसी अपेक्षाकृत छोटी नदी का वर्णन करने से भी कवि नहीं चूकता है।[3] दक्षिण की नदियों के प्रति इस तरह का आकर्षण और उनके विस्तृत और बार-बार वर्णन की प्रेरणा व्यक्तिगत परिचय और निरीक्षण के बिना संभव न होती। विन्ध्य क्षेत्र तो विजयार्घ-श्रेणी के रूप में अनेकानेक उपाख्यानों के घटित होने का मानो रंगमंच ही है।

स्वयंभू के दक्षिण भारत से घनिष्ट परिचय का समर्थन इन विशिष्ट उदाहरणों से भी होता है। रिट्ठणेमिचरिउ में एक स्थान पर पाँचों पाण्डवों, द्रौपदी और कुन्ती को गोदावरी के ७ मुखों से उपमित किया गया है।[4] सातों ही उत्तम नगर की ओर चले, जैसे सप्तमुखी गोदावरी सागर की ओर चली हो।

दक्षिणवासी की कल्पना में ही ऐसी उपमा आ सकती है। "पउमचरिउ" के एक पद में वर्ष का चैत्र से आरम्भ और फाल्गुन से अन्त होना वर्णित है।[5] यह कवि का दक्षिणवासी होना सूचित करता है क्योंकि दक्षिण में ही चैत्रादि वर्ष का प्रचलन था।

ऊपर निर्दिष्ट हो चुका है कि "पउमचरिउ" ६९, ६, ३ में स्वयंभू ने दक्षिण की अपेक्षा-कृत छोटी नदी भीमरथी का भी वर्णन किया है और उसे सेउण देश के लिए अमृत-धार कहा है। किसी उत्तर भारतवासी कवि का ध्यान कदाचित् भीमरथी नदी और सेउण देश पर न जाता। जैसा ऊपर सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि सेउण देश सम्भवतः स्वयंभू के समय में ही अस्तित्व में आया था।[6] उसी या उसके पार्श्ववर्ती क्षेत्र में रहने के कारण कवि का ध्य.न उसके वर्णन पर सहज ही गया।

स्वयंभू यापनीय संघ के थे जो दक्षिण में और विशेषकर कर्नाटक प्रदेश में बहुत प्रभावशाली था। इसलिए भी उनका दक्षिणवासी होना प्रमाणित होता है।

अस्तु, इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए सन्देह के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता कि स्वयंभू का साहित्यिक जीवन दक्षिण भारत के कर्नाटक प्रदेश में व्यतीत हुआ। परन्तु यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है। दक्षिण के द्राविड़-भाषा क्षेत्र में रहकर स्वयंभू ने पच्छिमी भारत की आर्य भाषा अपभ्रंश में कविता कैसे की ? ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयंभू का जन्म उत्तर

१—देखिए : प० च० १५, ९, ६ । ४८, १२, ३ । ५०, ११, २ । ५१, ३, ८

२—प० च० ९, १, ९ । १३, १२, ४ । १४, २, ९ । १४, ३, १-१२

३—प० च० ६९, ६, ३

४—संचल्लइ सत्त-ह पुरवरहो गोयावरि-मुहइं व सायर हो । रि० च० २१, १८, ५

५—फग्गुणए-अवसाए चेत्त-पमुह । प० च० ७८, ४, ६

६—देखिए ऊपर पृ० ६-७

के किसी आर्य भाषा-क्षेत्र में हुआ था। चाहे वे राहुल सांकृत्यायन के मतानुसार सुदूर उत्तर से रयड्डा के साथ दक्षिण न गये हों क्योंकि इसके लिए "रयड्डा वुत्तु" के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण नहीं है[1], किन्तु उनकी भाषा की गुत्थी को सुलझाने के लिए इस तर्क का आश्रय लेना ही पड़ेगा कि स्वयंभू आर्य भाषा-भाषी प्रदेश में जन्म लेकर अपनी मातृभाषा के साथ किसी कारणवश दक्षिण गए। अधिक तर्क संगत यह जँचता है कि स्वयंभू मध्यभारत से कर्नाटक गये हों। मध्यभारत के बरार प्रदेश और दक्षिण के कर्नाटक क्षेत्र के बीच गहरे राजनीतिक और सांस्कृतिक सम्बन्धों के प्रचुर प्रमाण मिलते हैं। दोनों के बीच राजवंशों तक का आदान-प्रदान हुआ मिलता है। राष्ट्रकूटों के मुख्य वंश की राजधानी मान्यखेट (हैदराबाद) में थी। लेकिन इस वंश के प्रथम ख्याति-प्राप्ति राजा दन्तिदुर्ग के पूर्वज बरार के अन्तर्गत राज्य करते थे और पड़ोस के एलिचपुर में शासनारूढ़ राष्ट्रकूट राजा नन्नराज युद्धासुर (७वीं शती) के सम्बन्धी थे।[2] डाक्टर अल्तेकर का मत है कि दन्तिदुर्ग और उसके पूर्वज बरार के मूल निवासी नहीं थे। उनकी मातृभाषा कन्नड़ थी। इसलिए उनका अनुमान है कि "संभवतः हैदराबाद के बीदर जिला-स्थित लातूर (लट लूर) में रयी नामक कोई सामन्त-परिवार था जो बाद में एलिचपुर (बरार) या उसके आसपास चला गया, जहाँ सन् ६३१-३२ में नन्नराज राज्य कर रहा था।"

बरार और कर्नाटक के बीच यह आदान-प्रदान का घनिष्ठ सम्बन्ध शताब्दियों तक बना रहा। सम्भावना इसी बात की है कि स्वयंभू का जन्म बरार प्रदेश में हुआ और वहीं बड़े होकर उन्होंने अपनी मातृभाषा अपभ्रंश का ज्ञान प्राप्त किया, बाद में किसी संरक्षक के साथ या संरक्षण की खोज में अथवा कर्नाटक में प्रचलित यापनीय संघ के सहज आकर्षण से वे कर्नाटक में आए और वहीं बस कर साहित्य-साधना में लीन हो गए। कन्नड-भाषा-प्रदेश में रह कर अपभ्रंश में उनके कविता करने का यही समाधान है।

स्वयंभू के बाद के कवि पुष्पदन्त के विषय में भी यही तर्क समाधानमूलक माना गया है मान्यखेट, जहाँ रह कर पुष्पदन्त ने महापुराण की रचना की, निश्चय ही अपभ्रंश-भाषा-भाषी केन्द्र नहीं था, पर राष्ट्रकूटों के समय में वह महाराष्ट्र में ही गिना जाता था और राजनीतिक प्रभाव-वश अपभ्रंश की पहुँच वहाँ तक होना सम्भव था।[3] कर्नाटक तक अपभ्रंश के पहुँचने का कारण धार्मिक प्रभाव हो सकता है।

कृतियाँ

साहित्य-संसार को स्वयंभू की तीन कृतियों—पउमचरिउ, रिट्ठणेमिचरिउ एवं स्वयंभू छन्द-की निश्चित जानकारी है। इनमें पउमचरिउ और स्वयंभू छंद दो ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। रिट्ठणेमिचरिउ का सम्पादन सम्प्रति डा० रामसिंह तोमर, अध्यक्ष, हिन्दी-भवन। शान्ति निकेतन कर रहे हैं।

१—राहुल जी के मत-निर्धारण में "पउमचरिउ" की पूना-प्रति में "रयड्डावुत्तु" पर अंकित टिप्पण का बड़ा हाथ लगता है जिसमें रयड्डा को "राजश्रेष्ठि" कहा गया है।

२—डा० अल्तेकर : दी राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर टाइम्स : १९३४, पृ० ११

३—प्रेमी : पृ० २२७-२९

इनके अतिरिक्त स्वयंभू दो अन्य कृतियों के भी कर्ता कहे जाते हैं। पउमचरिउ के अन्त की प्रशस्ति में एक पद में त्रिभुवन स्वयंभू कहता है कि यदि छंद चूड़ामणि के पुत्र त्रिभुवन स्वयंभू न होते तो पद्धडियाबद्ध "सिरिपंचमी" को कौन सँवारता ?[१] इससे विदित होता है कि स्वयंभू-कृत "सिर पंचमी कहा" या "सिरि पंचमी चरिउ" नाम का भी कोई काव्य-ग्रन्थ था जिसे उनके पुत्र त्रिभुवन ने पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ की भाँति सम्वर्धित या पूर्ण किया।

रिट्ठणेमिचरिउ के एक पद के आधार पर स्वयंभू एक दूसरी अज्ञात कृति 'सुद्धयचरिय' के भी कर्ता ठहराए गए हैं। प्रसंगतः, यह उल्लेख्य है कि प्रेमी को यह पद ९९ सन्धि के अन्त में मिला है जबकि भायाणी ने इसे १०० सन्धि के प्रारम्भ में पाया है। प्रेमी स्वयंभू का कर्तृत्व रिट्ठणेमिचरिउ की ९९ सन्धि तक सीमित मानते हैं, जबकि भायाणी १०० सन्धि को स्वयंभू की रचना स्वीकार करते हैं। पर यह तो रिट्ठणेमिचरिउ विषयक विस्तार हुआ। पहले 'सुद्धयचरिय' विषयक निर्णय हो जाना चाहिए। एतद् विषयक पद यह है—

काऊण पोमचरियं सुद्धयचरियं च गुण-गणग्घवियं।
हरिवंश-मोह-हरणे सरस्सई सुढ़िय-देहव्व॥

यह पद-पाठ डा० भायाणी के अनुसार है। इसका सीधा अर्थ यह है कि पोमचरिय और सुद्धयचरिय बनाकर अब मैं हरिवंश की रचना में प्रवृत्त होता हूँ, सरस्वती मुझे सुस्थिरता दें। इससे यह निष्पन्न होता है कि स्वयंभू ने "सुद्धयचरिय" नाम का एक अन्य काव्य-ग्रन्थ भी बनाया था। अपने निष्कर्ष के समर्थन में भायाणी ने स्वयंभू के उत्तरकालीन एक अन्य महाकवि देवदत्त रचित "सुद्धयवीर कहा" का निर्देश किया है और उनका ऐसा मन्तव्य लगता है कि शायद इसी कृति के आधार पर महाकवि देवदत्त के पुत्र और वीर कवि ने अपने पिता को स्वयंभू की परम्परा में रखा है।[२]

प्रेमी ने उपर्युक्त पाठ में सुद्धयचरियं के स्थान पर सुव्वय चरियं पाठ दिया है और उसे पोमचरियं के विशेषण या पर्याय के रूप में ग्रहण किया है। उनका मत है कि मुनि सुव्रत चरित को ही संक्षेप में सुव्वयचरिय कहा है। राम लक्ष्मण आदि शलाका पुरुष बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत के तीर्थ में हुए हैं अतएव परमचरिउ मुनि सुव्रत-चरित के ही अन्तर्गत माना जाता है। प्रेमी इस पद का कर्त्ता स्वयंभू को नहीं मानते। उनका विचार है कि निश्चय यह पद त्रिभुवन स्वयंभू का लिखा हुआ है और इसमें वे कहते हैं कि पउमचरिउ की अर्थात् उसके शेष भाग की रचना तो मैं कर चुका, उसके बाद अब मैं हरिवंश में अर्थात् उसके भी शेष भाग में हाथ लगाता हूँ। यदि इस पद को हम त्रिभुवन का न मानें तो फिर इस स्थान में इसकी कोई सार्थकता ही नहीं रह जाती। हरिवंश की ९९ संधियाँ बना चुकने पर स्वयंभूदेव यह कैसे कह सकते थे कि पउमचरिउ बना कर अब मैं हरिवंश बनाता हूँ।[३]

१—देखिए : पीछे पृ० १० पाद टिप्पणी १ में उद्धृत पद।

२—वीर कवि ने कहा है कि जब स्वयंभू का जन्म हुआ तब एक कवि हुए, पुष्पदन्त के होने से दो और देवदत्त के होने से तीन। हीरालाल जैन-अपभ्रंश भाषा और साहित्य, १९४६ पृ० १२०

३—प्रेमी, १९५६ पृ० २०१।

प्रेमी के तर्क में बल है, केवल उक्त पदान्तर्गत 'च' की समस्या का समाधान नहीं होता जो पउमचरिउ और सुद्धयचरिय को दो स्वतन्त्र रचनाएँ घोषित करता है। इसका अन्तिम निर्णय तो तभी हो सकता है जब "सुद्धयचरिय" की पाण्डुलिपि कहीं से प्राप्त हो जाय।

पउमचरिउ के प्रारम्भ में आत्म परिचय देते हुए स्वयंभू अपने को "कविराज" कहते हैं।[१] इसका तात्पर्य यह है कि पउमचरिय की रचना करने के पहले ही स्वयंभू की ख्याति कविरूप में बहुत-कुछ फैल चुकी थी। सम्भव है कि उपर्युक्त दोनों अप्राप्त ग्रन्थ परमचरिउ के पहले निर्मित हुए हों और उन्हीं के कारण कवि का यश-विस्तार हुआ हो, या यह भी सम्भव है कि किन्हीं अन्य रचनाओं ने स्वयंभू को कीर्ति-सम्पन्न बनाया हो जिस कारण वे अपने को "पउमचरिउ" में "कविराज" कह कर वर्णित करते हैं।

स्वयंभू द्वारा किसी व्याकरण ग्रन्थ के लिखे जाने का भी अनुमान लगाया गया है।[२] इस अनुमान का मुख्य आधार पउमचरिउ की सांगानेर-प्रतिलिपि के प्रारम्भिक अंश में प्राप्त दो पद हैं।[3] इनका अर्थ है कि अपभ्रंश-रूप मतवाला हाथी तभी तक स्वतन्त्रता से भ्रमण करता है जब तक कि उसके सिर पर स्वयंभू-व्याकरण रूप अंकुश नहीं पड़ता। स्वयंभू-सिंह की जय हो जिसकी सच्छब्द रूप विकट दाढ़े हैं, जो छंद और अलंकार-रूप नखों से दुष्प्रेक्ष्य है और व्याकरण-रूप जिसकी अयाल है।

इधर एक और साक्ष्य मिला है जिससे स्वयंभू के व्याकरण-ग्रन्थ-कर्त्ता होने के मत को समर्थन मिलता है। प्रो० भायाणी को[४] तेरह पंथ दिगम्बर जैन बड़ा मन्दिर, जयपुर के पाण्डु-लिपि-संग्रह से एक "पउमचरिय" टिप्पण की प्राप्ति हुई है। उसमें "पउमचरिउ" की १ संधि की उत्थानिका में[५] आए हुए "पुणु" शब्द की टिप्पणी में इस प्रकार का उल्लेख है—

पुणु-पुनः संस्कृत-प्राकृत-व्याकरण-छंदो द्विसंधान भारत सूत्रकान्तरम्

उपर्युक्त तीनों स्थानों में व्याकरण शब्द की उपस्थिति से यह स्वाभाविक है कि स्वयंभू के व्याकरण-ग्रन्थ रचयिता होने का अनुमान लगाया जाय। किन्तु पूर्ण विश्वास के लिए अब भी सामग्री का अभाव है। प्रेमी और जैन ने उक्त पद्यों के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण नहीं दिया है। जयपुर-टिप्पण की विश्वसनीयता भी संदिग्ध है क्योंकि अन्य स्थानों में स्पष्टतः ही उसका मेल प्रमाणित तथ्यों से नहीं खाता। प०च० की ८४ संधि की प्रशस्ति के दूसरे पद पर जयपुर-टिप्पण में कहा गया है कि

इति कृते रामचरिते स्वयंभु महाकविर्देवलोकी बभूव।

१—बुद्धिएं अवगाहिय कइराएं। १, २, ६

२—प्रेमी, १९५६ पृ० २०७ : जैन, १९४६, पृ० ११३।

३—तावच्चिय सच्छन्दो भमइ अवब्भंस-मत्त-मायंगो।
जाव न सयम्भु-वायरण-अंकुसो तस्सिरे पडइ॥
सच्छन्द-वियट-दाढो छंदोलंकार-णहर-दुप्पिच्छो।
वायरण-केसरड्ढो संयभु-पंचाणणो-जयउ॥

४—प० च० भाग ३, १९६०, प्रस्तावना, पृ० ३६।

५—पुण आरंभिय रामकह आरिसु जोएप्पिणु। प० च० १, १, १

इस टिप्पण के अनुसार स्वयंभू का देहान्त प०च० की ८३ संधियाँ निर्मित करने के बाद हो गया। यह नितान्त अशुद्ध है क्योंकि हम भली भाँति जानते हैं कि प० च० के पश्चात् स्वयंभू ने स्वयंभू-छंद की रचना की जिसमें उदाहरण-स्वरूप उन्होंने कई पद पउमचरिउ से उद्धृत किए हैं।

तात्पर्य यह है कि जयपुर-टिप्पण को असंदिग्ध प्रमाण के रूप में स्वीकार कर स्वयंभू को किसी व्याकरण-ग्रन्थ का कर्ता नहीं मान लेना चाहिए। यह अवश्य है कि तीन-तीन स्थानों में उन्हें व्याकरण कर्ता के रूप में उल्लिखित करना एकदम उपेक्षणीय भी नहीं है।

जैन स्वयंभू को अलंकार और कोश ग्रन्थ बनाने वाला भी मानते हैं। इस विषय में भी निश्चित प्रमाणों का अभाव है, पर रिट्ठणेमिचरिउ की ६७ संधि के आदि का एक प्रशस्ति-पद्य इस सम्बन्ध में विशेष महत्वपूर्ण जँचता है—

गजंति ताम्व कइमत्त कुंजरा लक्ख-लक्खण-विहीणा।
जा सत्त-दीह-जीहं सयंभु-सीहं ण पेच्छंति॥

रि० च० संधि ६७।

(शास्त्र-लक्षण-विहीन मत्त-कवि-कुंजर तभी तक गर्जन करते हैं जब तक कि वे सप्त-दीर्घ-जिह्वा-युक्त स्वयंभु-सिंह को नहीं देखते।)

यहाँ "सप्त जिह्वा" से हम स्वयंभू की सात पुस्तकों का अर्थ लेकर उनकी गणना कर सकते हैं। १—पउमचरिउ, २—स्वयंभूछंद, ३—रिट्ठणेमिचरिउ, ये तीन तो निश्चित ही हैं। भायाणी ने ४—सुद्धयचरिय को भी निश्चित की कोटि में रखा है।[1] ऊपर उद्धृत जयपुर-टिप्पण में "द्विसंधान" से यदि टिप्पणी-कार का अभिप्राय किसी स्वतन्त्र द्विसंधानकाव्य से है तो यह कवि का पाँचवा ग्रन्थ होगा। यदि उनके द्वारा कोई व्याकरण ग्रन्थ प्रणीत हुआ था जैसा कि बार-बार कहा गया है तो यह ६ वाँ ग्रन्थ होगा। 'सिरि-पंचमी-कहा'' को उनकी सातवीं कृति मान सकते हैं या उसके स्थान पर किसी अलंकार या कोश-ग्रन्थ को रखकर गिनती पूरी करनी होगी। जब तक और विस्तृत सूचना अथवा निश्चित प्रमाण नहीं प्राप्त होता स्वयंभू की रचनाओं के सम्बन्ध में इस तरह के अनुमान चलते रहेंगे।

यह कहा जा चुका है कि सम्प्रति हमें स्वयंभू की केवल तीन कृतियों की निश्चित जानकारी है। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है:—

स्वयंभू छंद—स्वयंभू के उपलब्ध ग्रन्थों में स्वयंभू-छंद का प्रकाशन सबसे पहले हुआ।[2] जिस समय प्रो० वेलणकर ने ग्रन्थ का सम्पादन पहली बार हाथ में लिया था उस समय उनके सामने बड़ौदा ओरियन्टल इंस्टीट्यूट से प्राप्त उसकी केवल एक पाण्डुलिपि थी। वह खंडित प्रति थी, उसके प्रारम्भ के २२ पत्र गायब थे। प्राकृत छंदों का विवेचन उसमें अपूर्ण रह गया था। अब तिब्बत के मठों से राहुल सांकृत्यायन द्वारा संगृहीत प्राचीन ग्रन्थों के ढेर से

१—प० च०, भाग ३, १९६०, प्रस्तावना, पृ० ३८।

२—प्रो० एच० डी० वेलणकर द्वारा सम्पादित होकर ग्रन्थ के प्रथम तीन अध्याय रायल एशियाटिक सोसाइटी बम्बई के जर्नल में १९३५ में और शेष पाँच अध्याय बाम्बे यूनिवर्सिटी जर्नल जिल्द ५, १९३६ में प्रकाशित हुए थे।

बंगाली अक्षरों में लिखित स्वयंभू-छंद की एक और पाण्डुलिपि प्राप्त हो गई है।[१] यह प्रति भी खंडित है, पर सौभाग्य से बड़ौदा की प्रति से गायब पन्नों में से अधिकांश पत्न इसमें वर्तमान हैं। उनसे भायाणी जैसे विद्वानों का यह अनुमान सत्य प्रमाणित हुआ है कि स्वयंभू ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में वस्तुतः प्राकृत छंदों के लक्षण और उदाहरण दिए हैं।

स्वयंभू छन्द में आठ अध्याय हैं, आरम्भ के ३ अध्यायों में प्राकृत छन्दों का वर्णन है और बाद के पाँच अध्यायों में अपभ्रंश छन्दों का विवेचन किया गया है। ग्रन्थ के प्रत्येक अध्याय के अन्त में "स्वयंभू छन्द" शब्द मिलता है, इससे इतना तो निश्चित हो ही जाता है कि ग्रन्थ का प्रणेता आद्योपान्त एक ही व्यक्ति है। उसके अन्त में कोई ऐसी प्रशस्ति आदि नहीं मिलती जिससे स्वयंभू छन्द के कर्त्ता के विषय में सम्यक् जानकारी प्राप्त हो सके। इसलिए यह शंका हो सकती है कि स्वयंभू छन्द का निर्माणकर्ता स्वयंभू वही व्यक्ति है जिसने पउमचरिउ आदि ग्रन्थ बनाये या कोई अन्य।

इस सम्बन्ध में अब तक इतने प्रमाण मिल चुके हैं कि शंका को कोई स्थान नहीं रहा और यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि स्वयंभू-छन्द, पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ का कर्त्ता स्वयंभू एक ही व्यक्ति है।

स्वयंभू छंद में वर्णित छन्दों के उदाहरण लेखक ने विभिन्न प्राकृत और अपभ्रंश कवियों से दिए हैं। प्रत्येक उदाहरण के साथ उसके कर्त्ता का नाम देने का उसका नियम है। पर ५० उदाहरण ऐसे भी मिलते हैं जिनके साथ उनके रचयिता का नाम नहीं दिया जाता है। प्रेमी, मोदी और भायाणी अब तक इनमें से १३ उदाहरणों को पउमचरिउ से उद्धृत दिखा चुके हैं।[२] आशा है कि शेष उदाहरणों में से भी बहुतों का पउमचरिउ में पाया जाना संभव होगा। अपनी रचना होने के कारण कवि ने, दूसरों के उदाहरणों की भाँति, इनके साथ अपना नाम देना आवश्यक नहीं समझा।

१—राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर से प्रकाशित "स्वयंभू छंद" १९६३ के नए संस्करण में प्रो० वेलणकर ने इस नई पाण्डुलिपि का उपयोग किया है।

२—स्वयंभू छन्द	१, १५६	प० च०	७३, ३, ५-८
,,	१, १५७	,,	७२, १५, ५-७
,,	४, ५	,,	३, ३, ११
,,	५, ९	,,	१४, ७, ९
,,	६, ४२	,,	६५, १, १
,,	६, ७१	,,	७७, १, १
,,	६, ७४	,,	७३, १३, १३
,,	८, ४	,,	२४, २, १-२
,,	८, ६	,,	३३, ३, ९
,,	८, १७	,,	३, १, १
,,	८, २१	,,	३१, १, १
,,	८, २५	,,	४१, १, १
,,	८, २७	,,	५, १, १

स्वयंभू छन्द, पउमचरिउ के कर्त्ता महाकवि स्वयंभू की ही रचना है, इसका सबसे बड़ा प्रमाण स्वयंभू छन्द के ये उद्धरण ही हैं।

रिट्ठणेमिचरिउ से एक दूसरा प्रमाण भी मिलता है। स्वयंभू ने रिट्ठणेमिचरिउ के आरम्भ में श्री हर्ष से "णिउणत्तणउ" (निपुणत्व) को प्राप्त करने की चर्चा की है।[1] उनके उसी निपुणत्व वाले विख्यात पद को उन्होंने स्वयंभू छन्द (१, १४४) में भी उद्धृत किया है— "जह (यथा) श्री हर्षो निपुणः कविरित्यादि।" इससे सिद्ध है कि रिट्ठणेमिचरिउ और स्वयंभू छन्द का कर्त्ता एक ही व्यक्ति है जो श्री हर्ष के निपुणत्व का निर्देश अपने दोनों ग्रन्थों में करता है।

स्वयंभू छन्द में बेनाम उदाहरणों में कुछ ऐसे भी हैं जिनका सम्बन्ध हरिवंश-पुराण के प्रसंगों से है। स्वयंभू के रिट्ठणेमिचरिउ में उनमें से अभी किसी का भी पता नहीं लगा है। यह ठीक भी लगता है क्योंकि रिट्ठणेमिचरिउ की रचना स्वयंभू छन्द के बाद हुई थी। यह प्रश्न अवश्य शेष रह जाता है कि ये बेनाम उदाहरण स्वयंभू छन्द में कहाँ से आये।

एक बात और भी उल्लेखनीय है कि बिना नाम वाले इन उदाहरणों में सब के सब अपभ्रंश के हैं। जहाँ तक पता है स्वयंभू का कर्तृत्व अपभ्रंश-भाषा तक सीमित था। अतः बेनाम उदाहरणों में से एक का भी प्राकृत में न पाया जाना प्रकारान्तर से सिद्ध करता है कि स्वयंभू छन्द महाकवि के अतिरिक्त अन्य किसी की कृति नहीं है।

स्वयंभू छन्द का प्रभाव राजशेखर, हेमचन्द्र आदि बाद के लेखकों पर पूर्णतया लक्षित होता है।[2] पर अपनी परम्परा में मार्ग-प्रदर्शक होते हुए भी स्वयंभू छन्द लेखक की कीर्ति का स्थायी स्तम्भ नहीं है। स्वयंभू मुख्यतः कवि थे और इस रूप में उन्हें अमर बनाने वाली उनकी दो कृतियाँ पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ हैं।

पउमचरिउ

यह ग्रन्थ सम्पादित होकर प्रकाशित हो चुका है।[3] ग्रन्थ का सम्पादन भारतीय विद्या-भवन, बम्बई के डा० हरिवल्लभ चुन्नीलाल भायाणी ने उसकी पूना (१५२१ वि०), सांगानेर (१७७५ वि०) और आमेर (१५४१ वि०) से प्राप्त तीन हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर अत्यन्त परिश्रम पूर्वक किया है। प्रारम्भ में विस्तृत प्रस्तावना दी गई है जिसमें कवि के जीवन-चरित, कृतियों, पउमचरिउ के मूल स्रोत, व्याकरण और छन्द सम्बन्धी विशेषताओं आदि का पूर्णतया विचार किया गया है। तीन परिशिष्टों के रूप में उपयोगी उद्धरण दिए गये हैं। अन्त में अर्थ सहित विस्तृत शब्द-सूची है। इन कारणों से स्वयंभू की काव्य-सरिता के अवगाहन के प्रेमियों का कार्य पर्याप्त सरल हो गया है।

पउमचरिउ संस्कृत पद्मचरित का अपभ्रंश रूप है। जैन परम्परा में पद्म राम का पर्यायवाची है। विमल सूरि (६० वि०) के प्राकृत महाकाव्य पउमचरिय से प्रारम्भ कर अनेक जैन मतावलम्बी कवियों ने जैन मतानुरूप रामकथा का वर्णन अपने काव्यों में किया है। स्वयंभू

१—देखो पीछे पृ० २ की पाद टिप्पणी २ में उद्धृत पद्य।

२—देखो आगे अध्याय १०।

३—प्रकाशक : सिंघी जैन शास्त्र विद्यापीठ, बम्बई, प्रथम दो भाग १९५३, तृतीय भाग १९६०।

का पउमचरिउ उसी काव्य-परम्परा को उद्भासित करने वाली एक जगमगाती मणि है। कवि ने इसे सामान्यतः "पउमचरिउ" के नाम से अभिहित किया है, पर स्थान-स्थान पर पोमचरिय[1] रामायण पुराण[2], रामायण[3], रामएवचरिय[4], रामचरिय[5], रामायणकाव[6], राघवचरिय[7], रामकहा[8] आदि अन्य नाम भी आए हैं।

पउमचरिउ पाँच कांडों में विभक्त है और इनमें सब मिलाकर ९० संधियाँ हैं। इनका वितरण इस प्रकार है—विद्याधर कांड में २०, अयोध्याकांड में २२, सुन्दरकांड में १४, युद्धकांड में २१ तथा उत्तरकांड में १३ संधियाँ हैं। संधियाँ कडवकों में विभक्त हैं। पूरे ग्रन्थ में सब मिलाकर १२६९ कडवक हैं।

पउमचरिउ की ९० संधियों में से ८२ संधियों की रचना स्वयंभू ने की, यह निर्विवाद है। ८४ संधि से ९० संधि तक स्वयंभू के पुत्र त्रिभुवन की रचना है, यह भी निर्विवाद है। ८३ वीं संधि के विषय में मतभेद है। जैन और प्रेमी इसे स्वयंभू-रचित मानने के पक्ष में है।[9] भायाणी इसको स्वयंभू-कृत मानते हैं।[10] जैन और प्रेमी के इस मत से भी भायाणी सहमत नहीं हैं कि स्वयंभू की दृष्टि से पउमचरिउ ८२ वीं संधि के साथ समाप्त हो जाता है, 'पीछे उनके पुत्र त्रिभुवन ने अधूरों को पूरा नहीं किया है बल्कि उसमें इजाफा किया है।'[11] इस विषय में इन विद्वानों के तर्कों पर आगे छठे अध्याय में विचार किया गया है।

पउमचरिउ की २३ और ४३ संधि के प्रारम्भ में कवि ने नए सिरे से मंगलाचरण किये हैं। इससे भायाणी आदि विद्वानों का विश्वास है कि पउमचरिउ की रचना में काफी समय लगा और उसका क्रम दो बार भंग हुआ था, तभी कवि को फिर-फिर मंगलाचरण लिखने पड़े।[12]

रिट्ठणेमिचरिउ

यह ग्रन्थ अभी प्रकाशित होने की प्रतीक्षा में है और जैसा कि ऊपर कहा गया है सम्प्रति शान्ति निकेतन के डा० रामसिंह तोमर, इसके सम्पादन में लगे हैं। इस समय इसकी ३ हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हैं, एक बम्बई के ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन में, एक भंडारकर ओरियन्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना में और एक प्रोफेसर हीरालाल जैन के पास है।

स्वयंभू के प्राप्त ग्रंथों में रिट्ठणेमिचरिउ का आकार सबसे बड़ा है। यह १८०००

१—माउर-सुअ-सिरिकइराय-तणय-कय-पोमचरिय-अवसेसं। प्रशस्ति पद १५
२—"जिनरत्नकोश" में प० च० का वर्णन इसी नाम के अन्तर्गत हुआ है।
३—रामायणस्स सेसे अट्ठासीमो इम्मो सग्गो। ८८ संधि की पुष्पिका।
४—इय रामएवचरिए धणंजयासिय-सयम्भुएव-कए : १८ संधि की पुष्पिका।
५—वन्दइ-आसिय-तिहुयण-सयम्भु-परिरइय-रामचरियस्स। ८६ संधि की पुष्पिका।
६—पुणु अप्पाणउ पायडमि रामायण-कावे। १, १, १९
७—आरम्भिउ पुणु राघव-चरिउ। २३, १, ९
८—राम-कहा-णइ एह कमागय। १, २, १
९—प्रेमी, पृ० २०४, अंक ७१-७२
१०—भायाणी, पृ० ४६
११—प्रेमी, पृ० २०४।
१२—भायाणी, पृ० ४६

श्लोक प्रमाण हैं। इसमें ४ कांड और १२० संधियाँ हैं। यादवकांड में, १३ कुरुकाण्ड में १९, युद्धकांड में ६० और उत्तरकांड में २० संधियाँ हैं। ग्रन्थ का बाह्य गठन पउमचरिउ जैसा ही है। इसमें २२ वें तीर्थंकर रिष्टनेमि और उनके तीर्थ में होने वाले कृष्ण तथा कौरव-पाण्डवों की कथा का वर्णन है। इस कारण इसके रिट्ठणेमिचरिउ, हरिवंश पुराण, भारत पुराण आदि कई नाम प्रचलित हैं।

संधियों के अन्त की नाम-मुद्राओं से निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि रिट्ठणेमिचरिउ की ९९ संधि तक की रचना महाकवि स्वयंभू के हाथों हुई थी। ९२ वीं संधि में कवि ने इस ग्रन्थ की रचना में लगे समय आदि का भी कुछ विस्तार दिया है।[1] तदनुसार स्वयंभू को ९२ संधियाँ समाप्त करने में ६ वर्ष, ३ महीने ११ दिन लगे। फाल्गुन नक्षत्र तृतिया तिथि, बुधवार और शिव नामक योग में युद्धकाण्ड समाप्त हुआ और भाद्रपद दशमी रविवार और मूल नक्षत्र में उत्तरकांड प्रारम्भ किया गया। ९९ संधि पूरी करने के बाद, ऐसा प्रतीत होता है, कवि का देहान्त हो गया[2] और ग्रन्थ की शेष संधियों को त्रिभुवन स्वयंभू ने लिखा। संधि १०७-११२ की पुष्पिकाओं में पिता-पुत्र के साथ मुनि जसकित्ति (यशकीर्ति) का नाम भी सम्मिलित है। यशकीर्ति त्रिभुवन के समकालीन या सहकर्मी नही थे। उनका समय १५ वीं शताब्दी है। वे काष्ठ संघ, माथुर अन्वय और पुष्कर गण के थे और गोपगिरि (ग्वालियर) के समीप कुमर नगरी के जैन मन्दिर में धर्म-व्याख्यान करते थे। श्रावकों को सुनाने के लिए रिट्ठणेमिचरिउ की जो प्रति उन्हें प्राप्त हुई, लगता है उसके कतिपय अंश अपाठ्य या नष्ट हो गये थे। मुनि यशकीर्ति ने उन्हें पूरा किया और उनसे सम्बन्धित संधियों की पुष्पिकाओं में अपना नाम भी जोड़ दिया।

यशकीर्ति द्वारा रिट्ठणेमिचरिउ में जो अंश जोड़े गए हैं वे एक प्रकार से जीर्णोद्धार के प्रयत्न हैं। त्रिभुवन स्वयंभू का प्रयत्न इससे भिन्न है। उसने पिता के ग्रंथ के शेष भाग की पूर्ति की है। केवल रिट्ठणेमिचरिउ की ही नहीं उसने पउमचरिउ और सिरिपंचमी[3] कहा की भी पूर्ति की है। एक प्रश्न, जो विद्वानों को कठिनाई में डालता है और बहुत विवादग्रस्त है, यह है कि क्या कारण है कि स्वयंभू अपनी दोनों महान कृतियों को अधूरी छोड़ गए, जिन्हें उनके पुत्र को पूरा करना पड़ा। आगे "परमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ के काव्य-रूप" नामक अध्याय में इसका विवेचन हुआ है।

१—वे० पृ० १ पर उद्धृत रि० च० के पद्य।

२—भयाणी, भाग ३, प्रस्तावना पृ० २८

३—वे० पृ० १० पादटिप्पणी १ में उद्धृत पद्य।

अध्याय ४

स्वयंभू द्वारा गृहीत रामकथा और कृष्ण कथा-रूप

इस अध्याय का विवेच्य है—अपभ्रंश-साहित्य में रामकथा और कृष्णकथा का रूप, पूर्ववर्ती साहित्य में प्राप्त रूप से उसकी भिन्नता और स्वयंभू द्वारा गृहीत कथा-रूप।

अपभ्रंश साहित्य में राम और कृष्ण कथा पर रचनाएँ केवल जैन कवियों की मिलती हैं। स्वयंभू का समय इनमें सबसे पहले आता है। उनके पूर्व अपभ्रंश में कोई ऐसा ज्ञात कवि नहीं है जिसने राम अथवा कृष्ण चरित का वर्णन किया हो। इसलिए कहा जा सकता है कि अपभ्रंश में राम और कृष्ण कथा का प्रवेश कराने वाले कवि स्वयंभू ही हैं।

अपभ्रंश के पूर्व प्राकृत, पालि और संस्कृत के माध्यम से राम और कृष्ण की कथाएँ क्रमशः जैन, बौद्ध और हिन्दू धर्मानुयायियों द्वारा प्रचारित हो चुकी थीं।

स्वयंभू की रामकथा का मूल स्रोत प्राकृत में रचित विमल सूरि का "पउम चरिय" है। कृष्ण चरित पर विमल का प्राकृत ग्रन्थ "हरिवंस चरिय" बताया जाता है जो इस समय अनुपलब्ध है।[1] प्राकृत में कृष्ण-चरित का वर्णन जैन आगम ग्रंथों "नायाधम्म कहाओ" तथा "अंतगउदसाओ" में भी मिलता है। स्वयंभू के "रिट्ठणेमिचरिउ" का मूल स्रोत क्या है, निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। सम्भव है कि रामकथा की भाँति कृष्णकथा के लिए भी उन्होंने विमल सूरि का ही सहारा लिया हो। पर जब तक, "हरिवंस चरिय" की कोई प्रति प्राप्त न हो जाय जब तक किसी निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है।

पालिभाषा में जातक साहित्य के अन्तर्गत राम और कृष्ण की कथाओं का बौद्ध-संस्करण प्राप्त होता है। "दशरथ जातक" में रामकथा का सबसे प्राचीन बौद्ध-रूप मिलता है। इसी तरह "अनामकं जातकम्" और "दशरथ कथानकम्" में भी राम की कथाएँ मिलती हैं। इनका मूल पालि रूप बाद में अप्राप्य हो गया। चीनी अनुवाद के रूप में इन कथाओं की संरक्षा हो सकी और वहीं से ये फिर प्राप्त हुई हैं।[2]

"कुणाल जातक" में कृष्ण-द्रौपदी-कथा के रूप में कृष्ण चरित आंशिक रूप में प्राप्त होता है। बौद्ध मतानुमोदित विस्तृत कृष्ण चरित "घट जातक" में मिलता है।

पालि प्राकृत और तत्पश्चात् अपभ्रंश में अवतरित होने के पूर्व ही राम और कृष्ण कथा के हिन्दू रूप का उद्भव और प्रचार संस्कृत के माध्यम से पर्याप्त मात्रा में हो चुका था। इन उत्तरवर्ती साहित्यों में वस्तुतः संस्कृत में वर्णित राम और कृष्ण-कथा-रूपों को ही किंचित् परिवर्तन और परिवर्धन के साथ बौद्धों और जैनों ने अपनाया। वासुदेव कृष्ण भागवतों के

१—डा० जगदीशचन्द्र जैन : प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० ५३४।

२—रेवरेंड फादर कामिल बुल्के : रामकथा, द्वितीय संस्करण १९६२, पृ० ७२४।

इष्टदेव थे और सम्भवत: ३ श० ई० पूर्व से विष्णु के अवतार रूप में पूजित होने लगे थे। उस समय राम-कथा का भी प्रचार हो गया था यद्यपि तब अवतार की भावना उससे सम्बद्ध नहीं हुई थी।[1] रामचरित का पूर्ण विस्तृत रूप आदि कवि वाल्मीकि के मूल रामायण में मिलता है जो ३ श० ई० पूर्व के लगभग निर्मित हुआ माना जाता है।[2] फादर बुल्के के शब्दों में तभी से राम-कथा की दिग्विजय आरम्भ हुई।

हिन्दुओं की इन दोनों महान् विभूतियों को केन्द्र बनाकर संस्कृत में विपुल धार्मिक और ललित साहित्य रचा जाने लगा। उसकी लोकप्रियता ने ही बौद्ध और जैन धर्मावलम्बियों का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट किया होगा। जैन धर्म की अपेक्षा बौद्ध धर्म में इन कथाओं के प्रति रुचि पहले दिखाई पड़ती है। लेकिन आगे चलकर बौद्धों में इनके प्रति रुचि कम हो गई और उत्तरोत्तर उसका लोप होता गया। इसके विपरीत जैन साहित्य में इनकी लोक-प्रियता बढ़ती गई और फलस्वरूप जैन धर्म में अत्यन्त विस्तृत राम-कृष्ण-कथा-साहित्य पाया जाता है।

जैनों ने राम और कृष्ण को नायक बनाकर पौराणिक चरित-काव्य की रचना का क्रम हिन्दुओं की देखा-देखी आरम्भ किया। उनके लिए यह एक ऐतिहासिक आवश्यकता थी। जैनाचार्यों को हिन्दू धर्म की प्रतिस्पर्द्धा में अपने धर्म का प्रचार और प्रसार करना था। अत: उन्होंने नवीन धार्मिक चरित्रों और गाथाओं की उद्‌भावना तो की ही, साथ ही हिन्दू धर्म में समादृत महान लोकप्रिय चरित्रों को अपनाकर जैन धर्म के आदर्शों में ढाला और हिन्दू धर्म पर जैन धर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के लिए इन चरित्रों को जैनधर्मानुयायी के रूप में जनता के सामने प्रस्तुत किया। जैनों द्वारा अपनाए गए ऐसे चरित्रों में राम और कृष्ण अग्रगण्य हैं।

रामकथा

राम का स्थान जैनों के त्रिषष्ठिशलाका पुरुषों में है। जैन-मान्यता के अनुसार निरन्तर गतिशील काल-चक्र की प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी में त्रिषष्ठिशलाका पुरुषों का जन्म हुआ करता है। उनमें २४ तीर्थंकरों के अतिरिक्त १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव और ९ प्रतिवासुदेव होते हैं। पूर्वभवों के कर्मों के कारण इनके अगले जन्म की परिस्थितियाँ, कार्य-कलाप, यहाँ तक कि शारीरिक लक्षण और रूप-रंग भी निश्चित रहते हैं। इस समय काल-चक्र अधोगामी है और अवसर्पिणी व्यतीत हो रही है। उसके ६ भागों में ४ गत हो चुके हैं और ५ वाँ चल रहा है। चौथे भाग तक वर्तमान अवसर्पिणी के ६३ शलकापुरुषों का जन्म हो चुका है। अब अगली उत्सर्पिणी के आने तक कोई शलाकापुरुष नहीं उत्पन्न होगा।

जैनों की यह काल गणना (जिसका विस्तार आगे मिलेगा) और उसके अन्तर्गत शलाका पुरुषों के जन्मों की परिकल्पना अपनी विशिष्टता रखती है। प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी में ६३ महापुरुषों का ही जन्म होता है। इस संख्या का विभाजन-क्रम—२४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव तथा ९ प्रतिवासुदेव—भी सदा एक-सा रहता है। प्रत्येक बलदेव का समकालीन एक वासुदेव और एक प्रतिवासुदेव भी होता है। अत: किसी अवसर्पिणी या उत्सर्पिणी में ९ बलदेव जन्म लेते हैं तो ९ ही वासुदेव और प्रतिवासुदेव भी उत्पन्न होते हैं। बलदेव और वासुदेव किसी राजा की भिन्न-भिन्न रानियों के पुत्र होते हैं। वासुदेव अपने

१—सर रामगोपाल भण्डारकर : वैष्णविज्म शैविज्म एंड माइनर रिलीजस सिस्टम्स, पृ० ४७
२—रामकथा, पृ० ३२-३४

बड़े भाई बलदेव के साथ प्रतिवासुदेव से युद्ध करते हैं और अन्त में उसका वध करते हैं। इसके पश्चात् दिग्विजय करके वे भारत के छः खंडों पर अधिकार प्राप्त करते हैं और अर्ध चक्रवर्ती बन जाते हैं। मरने पर वासुदेव को, प्रतिवासुदेव का वध करने के कारण, नरक जाना पड़ता है। बलदेव भाई की मृत्यु के शोक में व्याकुल होकर जैन दीक्षा लेते हैं और मोक्ष प्राप्त करते हैं। कहानी का यह ढाँचा सदा स्थिर रहता है।

जैन-मान्यता के इस निश्चित ढाँचे में राम वर्तमान अवसर्पिणी के ६३ शलाकापुरुषों में ८ वें बलदेव के रूप में समाहृत हैं। लक्ष्मण और रावण ८ वें वासुदेव और प्रतिवासुदेव हैं।

हिन्दुओं की भाँति ही जैन धर्म में भी रामकथा सर्वाधिक प्रिय है। जैन-परम्परा में इसका सबसे प्राचीन क्रमबद्ध वर्णन विमल सूरि के प्राकृत ग्रन्थ "पउम चरिय" में मिलता है। "पउम चरिय" के आरम्भ में ही कवि की उक्ति है कि "उस पद्मचरित को मैं आनुपूर्वी के अनुसार संक्षेप में कहता हूँ जो आचार्यों की परम्परा से चला आ रहा है और नामावली निबद्ध है।[1] गाथा में प्रयुक्त "णामावलियनिबंद्ध शब्द से प्रतीत होता है कि विमल सूरि के पूर्व जैन समाज में राम का चरित्र पूरी तरह विकसित नहीं हो पाया था। उसमें कथा के प्रधान-प्रधान पात्रों के, उनके माता-पिताओं, स्थानों और भवान्तरों आदि के नाम ही होंगे, वह पल्लवित कथा के रूप में न होगा और उसी को विमल सूरि ने विस्तृत चरित के रूप में रचना की होगी।"[2]

यहाँ "आयरिय परागयं" अर्थात् "आचार्य-परम्परा से आगत" शब्द भी ध्यान देने योग्य हैं। यह आचार्य-परम्परा कब से आरम्भ हुई मानी जाय ? प्रत्यक्षतः कवि का आशय स्वामी महावीर से है।[3] पर इसके लिए कोई दृढ़ आधार नहीं है, आगम ग्रन्थों में राम की चर्चा कहीं नहीं है, "अंतगउदासाओ" में कृष्ण का नाम अवश्य आता है।[4] यहाँ आचार्य-परम्परा से जैन-साधु-परम्परा अर्थ ग्रहण-करना अधिक उपयुक्त होगा। विमल सूरि के पूर्व से ही जैन-साधुओं के सम्प्रदाय में राम का चरित्र-गान होने लगा हो, यह सर्वथा सम्भव है। धार्मिक कारणों से विमल सूरि रामचरित के आदि स्रोत को स्वीकार नहीं करना चाहते थे और इसीलिए उन्होंने केवल "आयरिय परागयं णामावलियनिवद्धं पउमचरियं" को अपनी कथा के आधार-रूप में स्वीकार किया।

अब विमल सूरि के समय का प्रश्न आता है। उन्होंने स्वयं "परमचरिउ" की रचना का समय वीर निर्वाण सम्वत् ५३० (वि० स० ६०) दिया है :—

> पंचेव वासया दुसमाए तीस वरस संजुत्ता।
> वीरे सिद्धिमुव गए तओ निबद्धं इमं चरियं। उद्देश १०३

१—णामावलियनिबद्धं आयरिय परागयं सव्वं।
वोच्छामि पउमचरियं महाणुपुव्विं समासेण॥ १. ८

२—प्रेमी, पृ० ६५।

३—एयं वीर जिणेण रामचरियं सिद्ध महत्थं पुरा, इत्यादि, प०च० ११८. १०२।

४—वी० एम० कुलकर्णी : दी स्टोरी आव राम इन जैन लिटरेचर, १९५२, अप्रकाशित शोध-ग्रंथ, बम्बई विश्वविद्यालय, पृ० २६।

डाक्टर विंटरमित्स, डा० लायमन आदि विद्वान इसे स्वीकार करते हैं, किन्तु डा० याकोबी[1], डा० कीथ[2], डा० बुलनर[3], दीवान बहादुर केशवराव ध्रुव आदि अन्य विद्वान् विविध कारणों से विमल की दी हुई तिथि को अमान्य ठहराते हैं और "पउमचरिय" को ईसा की तीसरी शताब्दी या उसके बाद की कृति मानते हैं। जो कुछ भी हो, इतना तो निश्चित है कि जब विमलसूरि ने रामचरित को क्रमबद्ध करके "पउमचरिय" में उसका वर्णन किया तो उस समय उनके सामने हिन्दू रामकथा का पूर्ण विकसित रूप वर्तमान था। उन्होंने प्रत्यक्ष रूप में इसे स्वीकार नहीं किया है किन्तु "पउमचरिय" की प्रस्तावना स्पष्ट बताती है कि उस समय रामकथा प्रचलित थी जिसमें अनेक उपपत्ति-विरुद्ध और अविश्वसनीय बातें थीं, जिन्हें सत्य, सोपपत्तिक विश्वास-योग्य बनाने का प्रयत्न विमलसूरि ने किया।[4]

यह बात यहाँ एक बार फिर से स्पष्ट कर देने की है कि रामकथा को प्रथम बार सुश्रृङ्खलित करके उस पर काव्य रचने का श्रेय आदि कवि वाल्मीकि को है। डा० वेबर[5] और दिनेशचन्द्र सेन[6] का यह मत अब निस्सार सिद्ध हो चुका है कि वाल्मीकि रामायण के पूर्व बौद्ध जातकों की रामकथा बन चुकी थी। यह माना जाने लगा कि दशरथ-जातक की रामकथा रामायण की रामकथा का विकृत रूप मात्र है।[7] वाल्मीकि की रामायण के आधार पर बाद में महाभारत के रामोपाख्यान का निर्माण हुआ।[8] उसके बाद रामकथा के क्षेत्र में जैनों का आगमन हुआ।

तात्पर्य यह है कि जिस समय विमलसूरि ने जैन रामकथा का विस्तार से पहली बार वर्णन किया उस समय उनके सामने न केवल जैन-साधु-परम्परा में प्रचलित "णामावलिय निबद्धं" राम-कथा का रूप था, वरन् उसके पूर्व के वाल्मीकि-रामायण, बौद्ध-जातकों और महाभारत के रामोपाख्यान में वर्णित रामकथा के रूप भी अवश्य वर्तमान रहे होंगे।

विमलसूरि के पश्चात्, उन्हीं के अनुकरण पर, रविषेणाचार्य ने संस्कृत में "पद्मपुराण" का निर्माण वि० सं० ७३३ के लगभग किया। यह कृति "पउमचरिय" से इतनी मिलती-जुलती है कि उसका संस्कृत छायानुवाद कही जाती है। इसके बाद विमल की परम्परा में रामकथा का वर्णन करने वाले महाकवि स्वयंभू हुए जिनका अपभ्रंश ग्रन्थ "पउमचरिउ" इस

१—इन्साइक्लोपीडिया आव रिलीजन एण्ड एथिक्स, भाग ७, पृ० ४३७ और माडर्न रिव्यू दिसम्बर १९१४।

२—संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३४, ५९।

३—इन्ट्रोडक्शन टू प्राकृत।

४—अलियं पि सव्वमेयं उववत्ति विरुद्धपच्चयगुणेहिं।
ण य सद्दहंति पुरिसा हवंति जे पंडिया लोए॥
एवं चिंतंतो च्चिय संसय परिहार कारणं राया।
जिण वरिसणुस्सुयमणो गमणुच्छाहो तओ जाओ॥ २. ११७—१८ प० च०।

५—आन दी रामायण, पृ० १०, ११।

६—दी बंगाली रामायन्स, पृ० ७।

७—राम कथा, पृ० ८२—९१।

८—डा० याकोबी : दस रामायण, पृ० ७२।

विषय का अमर काव्य है। बाद में अपभ्रंश, प्राकृत तथा संस्कृत में अनेक जैन कवि हुए जिन्होंने इस विषय पर लेखनी चलाई।

विमल से भिन्न जैन-रामकथा की एक दूसरी धारा गुणाभद्राचार्य के उत्तर पुराण (९५५ वि० स०) में मिलती है। "अनुमान है कि गुणभद्र से बहुत पहले विमल सूरि के ही समान किसी अन्य आचार्य ने भी स्वतंत्र रूप से जैन धर्म के अनुकूल सोपपत्तिक और विश्वसनीय रामकथा लिखी होगी और वह गुणभद्र को गुरु-परम्परा से मिली होगी।[१] इस कथा के अनुसार राजा दशरथ काशी देश में वाराणसी के राजा थे। राम की माता का नाम सुबाला और लक्ष्मण की माता का नाम कैकेयी था। भरत-शत्रुघ्न "कस्यांचित् देव्यां"—किसी देवी के पुत्र थे। सीता मन्दोदरी की पुत्री थीं और ज्योतिषियों द्वारा विनाशकारिणी घोषित की जाने के कारण रावण ने उन्हें मिथिला में भेजकर पृथ्वी में गड़वा दिया था। हल की नोंक से उलझ कर वे राजा जनक को प्राप्त हुईं और उनके द्वारा पाली गईं। समय पर जनक ने अपने यज्ञ-रक्षक राम के साथ उनका विवाह कर दिया। नारद से सीता के रूप की प्रशंसा सुनकर रावण ने उनके अपहरण का निश्चय किया और वाराणसी के पास के जंगल चित्रकूट से वह उन्हें हर ले गया। उनके उद्धार के लिए लंका में राम-रावण युद्ध हुआ। रावण को मार कर राम दिग्विजय करते हुए लौटे और लक्ष्मण के साथ राज करने लगे। तत्पश्चात् लक्ष्मण एक असाध्य रोग से ग्रसित होकर मृत्यु को प्राप्त हुए। भातृ-वियोग से राम को अतिशय उद्वेग हुआ और उन्होंने लक्ष्मण के पुत्र पृथ्वीसुन्दर को राजपद तथा अपने पुत्र अजितंजय को युवराज-पद प्रदान कर अनेक राजाओं और सीता आदि रानियों के साथ जिन-दीक्षा ले ली।

सीता स्वयंवर, धनुष-यज्ञ, कैकेयी-हठ, राम बनवास, पंचवटी, दंडकवन, जटायु, सूर्पणखा, खरदूषण, सीता-अपवाद आदि प्रसंगों का वर्णन गुणभद्र की रामकथा में नहीं है। जानकी-जन्म विष्णुपुराण के ढंग का है और दशरथ को वाराणसी का राजा बौद्ध जातक के ढंग पर बताया गया है।

गुणभद्र द्वारा वर्णित रामकथा का रूप दिगम्बर सम्प्रदाय तक सीमित है जबकि विमलसूरि के कथा-रूप का प्रचार दोनों सम्प्रदायों में है। स्वयंभू का समय गुणभद्र के पहले था इसलिए गुणभद्र की रामकथा से उनके परिचित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि ऊपर उद्धृत प्रेमी के अनुमान को सत्य माना जाय कि गुणभद्र को यह कथा-धारा गुरु-परम्परा से प्राप्त हुई[१] तो कहा जा सकता है कि सम्भवतः स्वयंभू को विमलसूरि-रविषेण के अतिरिक्त इस दूसरी कथा धारा का भी परिचय रहा हो। पर यह तो स्पष्ट ही है कि उन्होंने विमल-रवि के कथा रूप को ही अपना उपजीव्य बनाया है।

नीचे वाल्मीकि की रामकथा को आधार मानकर विमल-रवि-के कथारूप का उससे साम्य-वैषम्य दिखाते हुए यह निर्दिष्ट किया गया है कि स्वयंभू ने किन विशेष परिवर्तनों के साथ उसे ग्रहण किया है।

विमलसूरि ने जैन रामकथा के निर्माण में वाल्मीकि की रामकथा से कई विभिन्नताएँ उत्पन्न करदी हैं। उन्होंने कुछ प्रसंगों और पात्रों को बिल्कुल निष्कासित कर दिया है तो कुछ को इच्छानुसार परिवर्तन और परिवर्धन के साथ स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त कुछ

१—प्रेमी, पृ० ९६।

नितान्त नवीन प्रसंगों, पात्रों, घटनाओं और आख्यानों का समावेश उन्होंने किया है। इन तीनों प्रकार की विभिन्नताओं का उल्लेख वांछनीय है।[1]

(क) बहिष्कार

विमलसूरि ने उन सभी प्रसंगों और वर्णनों का बहिष्कार किया है जिनका सम्बन्ध हिन्दुओं की पौराणिक कथाओं, धार्मिक अनुष्ठानों अथवा ऋषियों-मुनियों से है। "पउमचरिय" में वशिष्ठ, विश्वामित्र, ऋषिश्रृंग आदि ऋषियों के नाम कहीं नहीं हैं। दशरथ के पुत्रेष्टि-यज्ञ और देवताओं की विष्णु से अवतार लेने की प्रार्थना का भी पूर्ण बहिष्कार है। वाल्मीकि में मिथिला के मार्ग में राम ताड़का का वध करते हैं, विमल में यह प्रसंग बिल्कुल छोड़ दिया गया है। धनुषयज्ञ के अवसर पर राम-परशुराम-संवाद को स्थान नहीं दिया गया है। श्रवणकुमार की कथा, जो वाल्मीकि से आरम्भ होकर हिन्दू पौराणिक और ललित साहित्य में बहु-वर्णित है "पउमचरिय" में बहिष्कृत मिलती है। राम के वनगमन के पूर्व, वाल्मीकि-रामायण में, मंथरा-कैकेयी संवाद आता है, विमल के "पउमचरिय" में इसका समावेश नहीं किया गया है। वनवासकाल में सीता-हरण के प्रसंग में स्वर्णमृग की वाल्मीकीय कल्पना को विमल ने प्रश्रय नहीं दिया, न उन्होंने कबन्ध, हनुमान द्वारा मैनाक उठाए जाने, सुरसा-हिंसिका राक्षसियों के प्रसंगों को अपनी कथा में आने दिया। वाल्मीकि में लंका-प्रवेश के समय हनुमान विडाल रूप धारण करते हैं, लंका में उनकी पूँछ में आग लगाई जाती है, फलतः लंका दाह होता है। विमल ने अपनी कथा से वाल्मीकि की इन कल्पनाओं को दूर रखा है। राम के लंका-आक्रमण के प्रसंग में वाल्मीकि सेतुबंध का वर्णन करते हैं। विमल के "पउमचरिय" में इस प्रसंग का अभाव है। रावण की सभा में हनुमान के सामने राम और सीता के माया शिरोच्छेद का उल्लेख भी विमल में नहीं मिलता। वाल्मीकि में रावण की पराजय पर राम सीता की अग्नि-परीक्षा लेते हैं एवं विभीषण और हनुमान को अमरत्व प्रदान करते हैं। "पउमचरिय" में इन वर्णनों को स्थान नहीं मिला है। राम के फिर से विष्णु होने की वाल्मीकीय कल्पना का भी "पउमचरिय" में अभाव है।

परिवर्तन

वाल्मीकि रामकथा के कतिपय प्रसंग ऐसे हैं जिन्हें विमल ने न्यूनाधिक परिवर्तन के साथ स्वीकार किया है। यह परिवर्तन नामों से आरम्भ होता है। वाल्मीकि के राम विमल के पद्म हो जाते हैं। उनकी माता कौशल्या का नाम अपराजिता हो जाता है। शूर्पणखा चन्द्रनखा बन जाती है। राम और रावण के वंश-वृक्षों का वर्णन वाल्मीकि से बहुत भिन्न प्रकार के नामों के साथ किया जाता है। पात्रों के परस्पर-सम्बन्ध भी 'पउमचरिय" में वाल्मीकि से बहुत भिन्न प्रकार से दिखाए गए हैं। शत्रुघ्न, लक्ष्मण के नहीं, वरन् भरत के अनुज हैं। वाल्मीकि-रामायण में सीता भूमिजा हैं, "पउमचरिय" में वे जनकात्मजा-रूप में वर्णित हैं। (गुणभद्र के उत्तर पुराण में उन्हें रावणात्मजा कहा गया है जबकि दशरथ जातक में वे दशरथात्मजा हैं।) वाल्मीकि के अनुसार राम विश्वामित्र के साथ जनकपुर में जाकर धनुष भंग करते हैं और तब उनका विवाह सीता से होता है। "पउमचरिय" में राम-लक्ष्मण ने जनक की प्रार्थना पर राक्षसों को पराजित कर उनकी रक्षा की, फलस्वरूप सीता राम की

१—देखिए पृ० ७।

प्रदत्ता हुई। विमल के अनुसार राम धनुष को तोड़ते नहीं, वरन् उसकी प्रत्यंचा चढ़ाते हैं। वाल्मीकि में सीता—स्वयंवर का विधान नहीं है। "पउमचरिय" में प्रथम बार सीता-स्वयंवर का आयोजन होता है। इस प्रसंग में नारद महत्वपूर्ण भूमिका सम्पन्न करते हैं। हिन्दू पौराणिक चरित्रों में नारद कदाचित् एकमात्र चरित्र हैं जो अपनी पूर्व-प्रकृति के साथ जैन-साहित्य में अवतरित हुए हैं, अन्तर केवल यह है कि उनका हस्तक्षेप या प्रवेश हिन्दुओं से भिन्न घटनाओं के अवसर पर दिखाया गया है। विमल में वे धनुष-भंग के अवसर पर प्रकट होते हैं। "यह सुनकर कि सीता तथा राम का विवाह निश्चित हुआ है नारद को सीता के दर्शन करने की अभिलाषा हुई। मिथिला जाकर नारद ने सीता के भवन में प्रवेश किया। उन्हें अचानक आते देखकर सीता भयभीत हुई। वह भाग कर छिप गई तथा नारद को महल से निकाला गया। प्रतिकार करने के उद्देश्य से नारद ने भामण्डल[1] के उद्यान में सीता का चित्र बना दिया जिसे देखकर भामण्डल सीता पर आसक्त हो गया। बाद में नारद भामण्डल से मिलकर बताते हैं कि चित्र किसका है। भामण्डल की बिरहावस्था देखकर उसके पालक पिता चन्द्रगति ने एक विद्याधर को यह आदेश देकर मिथिला भेजा कि जनक को किसी-न-किसी तरह यहाँ ले आओ। यह विद्याधर मायावी घोड़े का रूप धारण कर जनक को ले आया तथा चन्द्रगति ने जनक के सामने भामण्डल तथा सीता के विवाह का प्रस्ताव रख दिया। जनक ने उत्तर दिया कि मैं राम से प्रतिज्ञा कर चुका हूँ। चन्द्रगति के अनुरोध पर जनक राम-सीता-विवाह की यह शर्त स्वीकार करते हैं कि राम को पहले वज्रावर्त धनुष चढ़ाना होगा। इस पर चन्द्रगति ने जनक तथा धनुष दोनों को मिथिला पहुँचा दिया। स्वयंवर का आयोजन हुआ तथा सभी राजाओं को बुलाया गया। राम भी लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न के साथ मिथिला आए। उन्होंने स्वयंवर में धनुष चढ़ा दिया। बाद में लक्ष्मण ने भी ऐसा ही किया। उनका पराक्रम देख विद्याधर राजाओं ने लक्ष्मण को अट्ठारह कन्याओं को प्रदान किया।"[2]

भरत का विवाह जनक की भतीजी सुभद्रा से दिखाया जाता है। वाल्मीकि में राम का विवाह केवल सीता से होता है, वह "स्वदार निरत" हैं। पर विमल सूरि तथा अन्य जैन राम-कथाओं में उनकी आठ हजार पत्नियों की चर्चा है। इसी तरह लक्ष्मण सोलह हजार पत्नियों के स्वामी हैं।

कैकेयी की दशरथ से वर प्राप्ति—जिसके परिणाम स्वरूप, वाल्मीकि के अनुसार, राम को बन जाना पड़ा—विमल में भिन्न स्थिति में दिखाई गई है। कैकेयी ने अपने स्वयंवर के बाद राजा दशरथ का रथ हाँककर अन्य राजाओं के विरुद्ध युद्ध में उनकी सहायता की थी और फलस्वरूप वर प्राप्त किया था। वाल्मीकि के विपरीत विमल में दो वरों की चर्चा न होकर केवल एक वर का उल्लेख है। वाल्मीकि में कैकेयी अपने स्वयंवर के अवसर पर नहीं, वरन् शम्बरासुर के युद्ध में दशरथ से दो वर प्राप्त करती है।

"पउमचरिय" के अनुसार दशरथ राम को राज्य-सिंहासन सौंप कर स्वयं जिन-दीक्षा ग्रहण करना चाहते थे। भरत दशरथ के साथ संसार त्याग करना चाहते थे। उनका वैराग्य

१—भामण्डल जन्म से सीता का भाई है, वह विद्याधर द्वारा अपहृत होकर अन्यत्र पला है। देखिए आगे पृ० १८।

२—फादर बुल्के : रामकथा पृ० ३५३-५४ से उद्धृत।

दूर करने के लिए कैकेयी ने राजा से प्राप्त वर के रूप में उनके लिए राज्य माँगा था। उसने राम के बनवास की माँग नहीं की थी। भरत को राज्य दिए जाने का समाचार सुनकर राम स्वेच्छा से बन जाते हैं।

राम-लक्ष्मण और सीता के वन मार्ग और कार्य-कलाप का वर्णन "पउमचरिय" में वाल्मीकि से बहुत भिन्न है। वाल्मीकि के अनुसार राम अयोध्या से चल प्रयाग-स्थित भरद्वाज आश्रम पहुँचते हैं और वहाँ से आगे बढ़ने पर चित्रकूट, अत्रि-अनुसूया-आश्रम, दंडकारण्य, शरभंग-आश्रम होते हुए पंचाप्सर पहुँचते हैं जिसके चारों ओर के आश्रमों में वे १० वर्ष व्यतीत करते हैं। फिर वहाँ से आगे बढ़ पंचवटी में पर्णकुटी बनाते हैं जहाँ शूर्पणखा-वृतान्त घटित होता है और सीता-हरण की घटना होती है। सीता की खोज करते हुए वे पम्पासर पहुँचते हैं और शबरी को कृतकृत्य कर सुग्रीव से मिलते हैं, तदन्तर किष्किन्धा पहुँच कर बालि का वध करते हैं और सुग्रीव को राज्यासन प्रदान कर उनकी सहायता से सीता को खोज में चारों ओर चर प्रेषित करते हैं। आगे बढ़ने पर वे लंका में प्रविष्ठ होते हैं और रावण का वध करते हैं।

"पउमचरिय" में राम की बन-यात्रा सुमंत्र, केवट और भरद्वाज-आश्रम के प्रसंगों से रहित है। लक्ष्मण और सीता को लेकर राम अयोध्या से निकलते हैं और अनति दूर परियात्रा वन-स्थित भयंकर नदी को तैर कर पार करते हैं, उसे पार न कर सकने के कारण अधिकांश अयोध्यावासी वापस लौट जाते हैं। राजा दशरथ के दीक्षा धारण करने और कौशल्या-सुमित्रा के अत्यन्त दुखी होने पर कैकेयी द्वारा प्रेषित भरत सघन बन में राम से भेंट करते हैं और उनसे अयोध्या लौटने का अनुरोध करते हैं। राम-भरत की यह भेंट चित्रकूट के पहले ही हो जाती है और चित्रकूट को कोई माहात्म्य नहीं प्राप्त होता। चित्रकूट को पारकर राम अवन्ति प्रदेश में प्रवेश करते हैं और उसके अन्तर्गत दशांगपुर के राजा वज्रकर्ण की सिंहोदर राक्षस से रक्षा कर दोनों की मित्रता कराते हैं। आगे बढ़ने पर पानी लेने के लिए गए हुए लक्ष्मण की भेंट कल्याण माला नामक सुन्दरी राजकुमारी से होती है जो उनके रूप पर मुग्ध है और जिसकी आद्यान्त कथा जानकर राम-लक्ष्मण उसके पिता बालखिल्य को मलेच्छ राजा के बन्धन से मुक्त करते हैं। तदन्तर तृषाकुल सीता की प्यास बुझाने के लिए राम-लक्ष्मण-सीता के कपिल ब्राह्मण की यज्ञशाला में जाने, ब्राह्मण के अतिशय कुपित होने तथा अन्ततः उसके जैन-धर्म में दीक्षित होने का वृतान्त आता है।

यक्ष निर्मित रामपुरी में राम लक्ष्मण सीता वर्षाकाल व्यतीत करते हैं। तत्पश्चात् महावन को पार कर वे वैजयन्तपुर के समीपवर्ती मैदान में पहुँचते हैं जहाँ लक्ष्मण अपनी आजन्म प्रेमिका राजकुमारी वनमाला की प्राणरक्षा फाँसी के फन्दे से करते हैं। वनमाला का सच्चा प्रेम जानकर उसके माता-पिता इन्द्राणी और पृथिवीधर उसका विवाह लक्ष्मण से कर देते हैं। पृथिवीधर की राजसभा में बैठे हुए राम-लक्ष्मण को राजा अतिवीर्य के भरत के विरुद्ध अभियान का समाचार मिलता है। वे सीता को आर्यिकाओं के पास छोड़ स्वयं नर्तकियों के वेश में अतिवीर्य की सभा में जा पहुँचते हैं और उसे पकड़कर सीता के सामने लाते हैं। सीता के दयापूर्ण हस्तक्षेप से अपनी मुक्ति प्राप्त कर अतिवीर्य जिनदीक्षा ग्रहण कर लेता है। अव्यक्त रूप से भाई की रक्षा कर राम-लक्ष्मण आगे बढ़ जाते हैं। क्षेमांजलिपुर पहुँचकर लक्ष्मण उसके राजा शत्रुदमन की 'शक्ति को झेलकर उसकी कन्या जिनपद्मा को वरण करते हैं। फिर

वंशस्थद्युति नगर में जाकर दोनों भाई देशभूषण तथा कुलभूषण मुनियों के दर्शन कर उन पर अग्निप्रभदेव के द्वारा किए हुए उपसर्ग को दूर करते हैं।

आगे बढ़ने पर राम-लक्ष्मण-सीता को कर्णखा नदी मिलती है जिसमें वे स्नान करते हैं। फिर सुगुप्ति और गुप्ति नामक दो मुनियों को आहार दान देकर पंचाश्चर्य की प्राप्ति करते हैं। गृध्र पक्षी से उनका मिलन होता है जिसका पूर्वभव जानकर राम उसे "जटायु" नाम देते हैं।

तदन्तर राम-लक्ष्मण-सीता मनोरथ नामक रथ पर आरूढ़ होकर दण्डक वन में स्वेच्छा-पूर्वक भ्रमण करते हैं। इसी दंडक वन में शम्बूक-प्रसंग घटित होता है, शम्बूक की माँ चन्द्रनखा राम-लक्ष्मण को पाने का विफल प्रयत्न करती है, शम्बूक के पिता खरदूषण का लक्ष्मण से घमासान युद्ध होता है और रावण द्वारा सीता अपहृत होती हैं। सीता से वियुक्त राम की भेंट विराधित विद्याधर से होती है जो उन्हें अपनी राजधानी पाताल लंका ले जाता है। वहीं पर उनकी मैत्री किष्किन्धापुरी के स्वामी सुग्रीव से होती है जो विट सुग्रीव के द्वारा उपद्रुत होकर सहायता की खोज में भटक रहा है। राम पाताल लंका से निकल कर कृत्रिम सुग्रीव साहस-गति विद्याधर को निष्प्राण करते हैं और सुग्रीव को राजा बना उसकी तेरह कन्याओं से विवाह करते हैं।

इसके बाद सीता की खोज के विविध उपक्रम होते हैं, राम-हनुमान मैत्री का प्रसंग आता है। हनुमान के लंका में सीता का पता लगाकर लौट आने पर सब विद्याधरों के साथ राम लंका की ओर प्रस्थान करते हैं।

राम की वन-यात्रा के सम्बन्ध में उपर्युक्त परिवर्तनों से स्पष्ट है कि जैन धर्म का प्रभाव बढ़ाने के लिए ही वाल्मीकि से भिन्नता उत्पन्न की गई है।

वाल्मीकि रामायण में सीता हरण पंचवटी में होता है। विमल सूरि में यह घटना दण्डक वन में दिखाई गई है। उसकी प्रस्तावना शम्बूक-वध से होती है। वाल्मीकि के अनुसार शम्बूक एक शूद्र है जो तपस्या करता है और राम से मृत्यु पाता है। विमल में वह चन्द्रनखा का पुत्र है और लक्ष्मण द्वारा संयोग से उसका वध होता है। लक्ष्मण चन्द्रनखा का अंग-भंग नहीं करते, उन्हें पति रूप में प्राप्त करने के अपने प्रयत्न में विफल होकर वह पाताल लंका जाकर झूठ बोलती है और पुत्र-वध के प्रतिशोध के लिए पति खरदूषण को प्रेरित करती है। युद्ध में लक्ष्मण १४००० राक्षसों का वध करते हैं। खरदूषण की सहायता के लिए आया हुआ रावण बीच में ही सीता के रूप पर आसक्त हो जाता है और सिंहनाद द्वारा भ्रम पैदा करके राम को लक्ष्मण की सहायता के लिए जाने को विवश करता है और सीता को चुरा ले जाता है।

विमल के "पउमचरिय" में बालि कथा इस प्रकार कही गई है कि बालि और राम दोनों अपहरण और वध के दोष से बच जाते हैं। अतिशय पराक्रमी और रावण सरीखे राक्षस का मान-मर्दन करने वाला बालि अंत में जैन-दीक्षा ग्रहण कर लेता है।

सीता-हरण का समाचार जटायु-पक्षी तथा सुग्रीव आदि पाँचों वानरों से नहीं, प्रत्युत अर्कजटी के पुत्र रत्नजटी से प्राप्त होता है। रत्नजटी रावण से युद्ध करना चाहता है परन्तु रावण उसकी आकाशगामिनी विद्या छीन कर उसे नीचे गिरा देता है।

लंका के मार्ग में हनुमान की विजय और प्रेम-चर्या कहानी वाल्मीकि से नितान्त भिन्न है। मार्ग में मातामह महेन्द्र को परास्त करके मुनियों के ऊपर दावानल का उपसर्ग दूर करने राम के लिए उपकृत गन्धर्व-कन्याएँ प्राप्त करने, वज्रायुध-निर्मित मायामय कोट को ध्वस्त करने तथा उसे निष्प्राण बनाने के अतिरिक्त हनुमान वज्रायुध की पुत्री लंका सुन्दरी से विवाह करते हैं और उसके साथ प्रेम-चर्या का किंचित् आनन्द भी लेते हैं।

"पउमचरिय" में रावण के विरुद्ध राम की सहायता के लिए सीता के भाई भामण्डल का भी ससैन्य आना वर्णित है।

लक्ष्मण को रावण की शक्ति लगने पर वाल्मीकि में हनुमान हिमालय जाकर विशल्या-करणी ओषधि लाते हैं। "पउमचरिय" में इस विशल्यौषधि का मानवीकरण किया गया है। प्रतिचन्द नामक विद्याधर राम से कहता है कि द्रोणमेघ की कन्या विशल्या के स्नानजल से ही लक्ष्मण की चिकित्सा हो सकती है। इस पर हनुमान, भामण्डल और अंगद अयोध्या जाकर भरत को सीताहरण तथा युद्ध का समाचार सुनाते हैं तथा विशल्या को साथ लेकर लंका लौटते हैं। विशल्या की चिकित्सा से स्वास्थ्य-लाभ होने पर लक्ष्मण उसके साथ विवाह कर लेते हैं।

हिन्दू परम्परा में रावण का वध राम करते हैं किन्तु जैन-परम्परानुसार विमल ने लक्ष्मण के हाथों उसका मारा जाना दिखाया है।

सीता की अग्नि परीक्षा लंका में नहीं होती, वरन् वह सीता के पुत्र-जन्म और पिता-पुत्र के मेल के बाद होती है। पुत्रों के नाम लव और कुश न होकर अनंग-लवण और मदनांकुश हैं।

नवीन उद्भावनाएँ

वाल्मीकि की रामकथा के कुछ प्रसंगों को विमलसूरि ने छोड़ दिया है तो कुछ नवीन प्रसंगों की उद्भावना भी की है। विद्याधर राक्षस और वानर वंश-विषयक विमल की कल्पना वाल्मीकि से सर्वथा भिन्न और एक प्रकार से नवीन है। इनके प्रति जैन-दृष्टिकोण हिन्दुओं से अधिक सहानुभूतिपूर्ण और उदार प्रतीत होता है। वाल्मीकि ने जहाँ इनके वंशों का वर्णन अपनी कथा के अंत में उत्तरकांड में किया है, वहाँ जैन कवियों ने रामकथा का प्रारम्भ ही इनके विशद वर्णन से करना समीचीन समझा है। "पउमचरिय" के ११८ उद्देशकों में से प्रथम २० में, तीर्थंकरों के अतिरिक्त, इन्हीं विद्याधर-राक्षस-वानर-वंशों का वर्णन है। २० वें उद्देशक की समाप्ति के पश्चात् सर्व प्रथम राजा दशरथ और जनक का नामोल्लेख होता है और राम की जन्म-कथा २५ वें उद्देशक में आती है। रविषेण के "पद्म-पुराण" का भी यही हाल है। उसके १२३ पर्वों में प्रथम १९ पर्व राक्षस-वानर-विद्याधर-वंशों का वर्णन करते हैं। २० वें में तीर्थंकरों का वर्णन है और २१ वें से इक्ष्वाकु-वंश का वर्णन आरम्भ होता है। राजा दशरथ के राम आदि पुत्रों की उत्पत्ति का वर्णन २५ वें पर्व से आता है। स्वयंभू के "पउमचरिउ" में इसी क्रम का अनुगमन किया गया है। प्रथम १९ संधियों में राक्षसों, वानरों और विद्याधरों का वर्णन करने के पश्चात् २० वीं संधि में उन्होंने रामकथा का आरम्भ किया है।

प्रारम्भ में ही, और इतने अधिक अनुपात में, इन वंशों को महत्व मिलना विमलसूरि की नवीन उद्भावना का प्रतिफल है। "रामायण" में विद्याधर देवयोनियों के अन्तर्गत रखे गए हैं और उसकी किसी भी कथा में वे महत्वपूर्ण भाग नहीं लेते। विमलसूरि ने इन विद्याधरों को

मनुष्य ही माना है और नमि एवं विनमि नामक दो राजकुमारों से इनकी उत्पत्ति दिखाई है। वानर भी विद्याधर ही हैं, उनके वानर कहलाने का कारण यह बताया गया है कि उनकी ध्वजाओं और भवन-शिखरों पर वानरों के चिह्न विद्यमान थे। राक्षस भी विद्याधरों की एक शाखा से समुत्पन्न हैं। उनका आदि पूर्वज मेघवाहन है। मेघवाहन की दीर्घ सन्तान-परम्परा में मनोवेग के राक्षस नामक ऐसा प्रभावशाली पुत्र उत्पन्न हुआ कि उस वंश का नाम ही राक्षस वंश पड़ गया।

इस प्रकार, जैनों के अनुसार, विद्याधर, राक्षस और वानर एक मानव-कुल की विभिन्न शाखाओं के रूप में चित्रित हैं। ये आपस में वैवाहिक सम्बन्ध करते हैं। उदाहरणार्थ राक्षस वंशीय रावण एक ओर छः हजार विद्याधर-वंशीय कुमारियों का पाणिग्रहण कर उन्हें अपनी पत्नी बनाता है[1] तो दूसरी ओर वह वानर बालि-सुग्रीव की बहिन श्रीप्रभा से विवाह करता है। सुग्रीव की पुत्री पद्मरागा का विवाह वानर हनुमान के साथ होता है तो राक्षस रावण की बहिन चन्द्रनखा की पुत्री अनंग कुसुमा भी हनुमान से विवाहित होती है।

विद्याधर, राक्षस और वानर-वंशों के उद्भव का, उनके विभिन्न वीरों की जन्म-कथाओं और साधनाओं का, उनकी प्रेम-लीलाओं और विलासों का, युद्धों तथा विजयों का वर्णन जैन कवियों ने अत्यन्त तन्मयता से किया है। इन वर्णनों का वातावरण कल्पना की अतिरंजना के कारण रोमांटिक-सा लगता है। इनमें अद्भुत और अलौकिक कार्य-कलाप की इतनी अतिशयता है कि उससे मानवोत्तर-वर्णन का भ्रम उत्पन्न हो जाता है—इसलिए भी कि इन वर्णनों में आए हुए इन्द्र आदि कुछ नाम हिन्दू देवताओं के-से ही हैं। पर जैन लोग इन्हें मनुष्य ही मानते हैं और हर एक को कभी-न-कभी जैन-धर्म की दीक्षा ग्रहण करते दिखाया जाता है। देव-कुल का वर्णन करने पर यह सम्भव नहीं था। इसलिए विमल ने अपने धर्म के प्रधान लक्ष्य को सिद्ध करने के लिए हिन्दुओं के देव और दैत्यों कुलों को भी मानव-जाति में परिवर्तित करके उनका वर्णन किया है।

विमल सूरि की दूसरी नवीन उद्भावना दशरथ और जनक से सम्बन्धित है। राम-विवाह के बहुत पूर्व, वस्तुतः राम-जन्म के पहले ही, दशरथ और जनक का साथ-साथ देश-भ्रमण दिखाया गया है। त्रिकूटाचल के शिखर पर स्थित शान्तिनाथ के जिनालय की वन्दना से लौटकर नारद दशरथ से विभीषण के षडयंत्र का रहस्य बताते हैं कि उनका जीवन निरापद नहीं है। सागरबुद्धि नामक निमित्त ज्ञानी से रावण को ज्ञात हुआ था कि उसकी मृत्यु का कारण दशरथ का पुत्र बनेगा और जनक की पुत्री का भी इसमें हाथ होगा। इस आशंका से विभीषण आदि रावण के मंत्रियों ने निश्चय किया था कि दशरथ और जनक के संतानोत्पत्ति के पहले ही इन दोनों का वध कर दिया जाय। इसके लिए उसके गुप्तचर कार्यरत हो चुके थे। दशरथ को सावधान कर नारद जनक के यहाँ भी पहुँच कर यही समाचार सुनाते हैं। नारद का परामर्श मानकर दशरथ और जनक दोनों अपना-अपना पुतला राजभवन में स्थापित कर गुप्त वेश में देश भ्रमण के लिए निकल पड़ते हैं। इसी अवधि में वे कौतुकमंगल नामक नगर में पहुँचते हैं और उसके राज-दम्पति शुभमति और पृथुश्री की पुत्री कैकेयी के स्वयंवर में भाग लेकर दशरथ उसे जीतते हैं। उधर विभीषण उन दोनों के पुतलों का शिरोच्छेद कर अपने को सफल समझ संतोष प्राप्त करता है।

१—रामकथा, पृ० ६४० ।

सीता के प्रसंग में उनके एक भाई भामण्डल की सृष्टि करके विमल सूरि ने दोनों के सम्बन्ध का विचित्र इतिहास दिया है।[१] वाल्मीकि में जनक के पुत्र भामण्डल का कहीं उल्लेख नहीं है। "पउमचरिय" के अनुसार सीता और भामण्डल विदेहा और जनक के यमज हैं। रानी विदेहा के गर्भ में स्थित होने के पूर्व सीता चित्तोत्सवा थीं और भामण्डल कुण्डलमण्डित था। कुण्डलमण्डित ने चित्तोत्सवा का हरण किया था जिससे उसका पति पिंगल बहुत दुखी होकर मर गया और महाकाल नाम का असुर हुआ। पूर्व बैर के कारण वह कुण्डलमण्डित को नष्ट करने के प्रयत्न में तत्पर रहने लगा। रानी विदेहा के गर्भ से एक साथ पुत्र और पुत्री का जन्म हुआ। महाकाल असुर अवधि-ज्ञान-सम्पन्न होने से जान गया कि विदेहा का पुत्र ही उसकी स्त्री का हरण करने वाला कुण्डलमण्डित था। उसने उसका अपहरण कर लिया पर दया से द्रवित होकर उसे दिव्य कुण्डलों से अलंकृत कर आकाश से नीचे गिरा दिया। चन्द्रगति विद्याधर ने आकाश से नीचे गिरते हुए शिशु की रक्षा की और उसे अपनी अपुत्रवती रानी पुष्पवती को सौंप दिया। उन्होंने पुत्र-जन्म का उत्सव मनाया और उसे भामण्डल नाम दिया। उधर विदेहा की पुत्री का नाम सीता रखा गया।

एक बार नारद सीता के महल में पहुँचे। सीता उस समय दर्पण में मुख देख रही थीं। नारद की प्रतिकृति दर्पण में देख सीता भयभीत हो उठीं। द्वारपालों ने उन्हें राजभवन से निकालना चाहा, पर नारद द्वारपालों से बचकर आकाश मार्ग में उड़ गए और कैलाश पर्वत पर पहुँचकर सीता से प्रतिशोध की युक्ति सोचने लगे। उन्होंने सीता का एक चित्रपट बनाया और उसे ले जाकर विजयार्ध पर्वत पर स्थित रथनुपुर नगर के राजा के उद्यान में छोड़ दिया। रथनुपुर नगर का राजकुमार भामण्डल चित्रपट को देखकर उस पर मोहित हो उठा। नारद ने चित्रपट का परिचय दिया जिससे भामण्डल की आसक्ति सीता के प्रति अतिशय बढ़ गई।

राजा चन्द्रगति की सम्मति से चपलवेग विद्याधर ने अश्व का रूप धारण किया। मिथिला पहुँच कर राजा जनक का अपहरण कर वह उन्हें रथनुपुर नगर ले गया। राजा जनक के सामने प्रस्ताव रखा गया कि वे अपनी पुत्री सीता को भामण्डल को समर्पित कर दें। पर जनक ने असमर्थता प्रकट की क्योंकि वे सीता को पहले ही दशरथ-पुत्र राम को देने का निश्चय कर चुके थे। विद्याधरों ने इसका प्रतिवाद किया। अन्त में यह निर्णय हुआ कि यदि राम वज्रावर्त धनुष चढ़ा देंगे तो सीता उनकी होंगी अन्यथा उनका भागी भामण्डल होगा। जनक मिथिला वापस आए और वहाँ उन्होंने स्वयंवर का आयोजन किया। राम ने धनुष चढ़ाकर सीता को प्राप्त किया, अन्य भाइयों के साथ अन्य-अन्य राजकुमारियों का विवाह हुआ। सब लोग अयोध्या लौट गए। पर भामण्डल को इसका अब भी ज्ञान नहीं था।

जब सीता के प्रति भामण्डल का व्यामोह सीमा का अतिक्रमण करने लगा तब विद्याधरों ने सब बात स्पष्ट कर दी। भामण्डल उत्तेजित हो उठा और सीता-हरण की भावना से सेना लेकर अयोध्या की ओर चल पड़ा। मार्ग में विदग्ध नामक देश के मनोहर नगर पर जब उसकी दृष्टि पड़ी तब उसे पूर्वभव का स्मरण हो आया जिससे वह मूर्च्छित हो गया। सचेत होने पर सहोदरी बहिन के प्रति अपने कुविचारों पर उसे महान् खेद हुआ। वह अयोध्या के

१—पउमचरिय, पर्व २६।

महेन्द्रोदय उद्यान में स्थित सर्वभूतहित मुनिराज के दर्शनार्थ गया जहाँ सीता से उसका मिलाप हुआ। दशरथ द्वारा प्रेषित समाचार को प्राप्त कर राजा जनक भी वहाँ आए और अपने अपहृत पुत्र को प्राप्त कर उन्हें अतिशय आनन्द हुआ। (आगे, जैसा कि हम देखेंगे, सीता-हरण के पश्चात् रावण से उनकी पुनः प्राप्ति के लिए जब राम लंका पर आक्रमण करते हैं तो उस अभियान में भामण्डल भी ससैन्य योग देता है।)

इनके अतिरिक्त वज्रकर्ण, कपिल, बालिखिल्य, अतिवीर्य, वनमाला, जितपद्मा, देशभूषण और कुलभूषण, रामगिरि, विट-सुग्रीव, विराधित, आदि की कथाएँ भी विमल सूरि की गढ़ी हुई हैं। वज्रकर्ण दशांगपुर का राजा है जिसके हरे-भरे देश को उदंड सिंहोदर ने उजाड़ डाला है। वनमार्ग में राम-लक्ष्मण वज्रकर्ण के आतिथ्य-सत्कार से संतुष्ट होते हैं और लक्ष्मण सिंहोदर को परास्त कर वज्रकर्ण की रक्षा करते हैं। अन्त में वज्रकर्ण और सिंहोदर की मित्रता कराकर राम-लक्ष्मण आगे बढ़ते हैं। तब सरोवर से जल लेने के लिए गए हुए लक्ष्मण की भेंट कल्याण माला नामक राजकुमारी से होती है जो उस समय राजकुमार का वेष बनाकर अपने पिता बालिखिल्य के राज्य का पालन कर रही थी। कल्याणमाला ने सीता के सहित राम-लक्ष्मण का अपने मण्डप में स्वागत किया और म्लेच्छ राजा द्वारा अपने पिता बालिखिल्य के बन्दी बनाए जाने का वृत्तान्त बताया। राम-लक्ष्मण ने म्लेच्छ राजा को आज्ञाकारी बना बालिखिल्य को बन्धन मुक्त कराया। आगे बढ़ने पर सीता की विश्रान्ति मिटाने के लिए राम-लक्ष्मण कपिल ब्राह्मण की यज्ञशाला में ठहर जाते हैं और ब्राह्मणी के द्वारा दिया हुआ शीतल जल का पान कर सीता शान्ति प्राप्त करती हैं। पर बाहर से लौट कर आया हुआ ब्राह्मण अतिथियों को देखकर अत्यन्त कुपित होता है और उन्हें घर से निकलने के लिए बाध्य करता है। घोर वर्षा में राम-लक्ष्मण-सीता असहाय की भाँति वट वृक्ष के नीचे शरण लेते हैं। यक्षपति अपने अवधिज्ञान से उन्हें बलभद्र और नारायण जानकर नगरी की रचना करता है। उधर कपिल ब्राह्मण के ज्ञान-चक्षु खुलते हैं और वह जैन-धर्म ग्रहण करता है।

यक्ष निर्मित रामपुरी से आगे बढ़ने पर लक्ष्मण वैजयन्तपुर के राजा पृथिवीधर की कन्या वनमाला की रक्षा आत्मघात से करते हैं। वनमाला प्रारम्भ से ही लक्ष्मण पर आसक्त थी, पर उनके वन-भ्रमण का समाचार सुन पृथिवीधर उसका विवाह अन्य राजकुमार से करना चाहता था। यह देख वनमाला वनदेवी की पूजा का बहाना कर वन में गई और एकान्त में उत्तरीय वस्त्र का पाश बना मरने के लिए तैयार हुई। लक्ष्मण ठीक समय पर पहुँच कर उसकी प्राण-रक्षा करते हैं। अन्त में वनमाला का विवाह उनसे हो जाता है। जिस समय राम-लक्ष्मण-सीता पृथिवीधर के सभामण्डप में सुखासीन हैं उसी समय राजा अतिवीर्य का दूत अयोध्या के राजा भरत के प्रति अभियान के लिए पृथिवीधर को पत्र लाकर देता है। परिस्थिति समझ कर राम संकेत से दूत को बिदा कराते हैं। तदनन्तर औरों को साथ लेकर वे राजा अतिवीर्य की राजधानी के निकट जा पहुँचते हैं। योजना बनाकर सीता को आर्यिकाओं के पास छोड़ राम-लक्ष्मण नर्तकियों के वेश में अतिवीर्य की रंगशाला में प्रविष्ठ होते हैं और अपने कलापूर्ण नृत्यों से सबको मंत्रमुग्ध कर देते हैं। इसके पश्चात् वे राजा अतिवीर्य से भरत के प्रति प्रणति की माँग करते हैं। राजा के क्रुद्ध होकर उन्हें मारने के लिए तलवार निकालने पर लक्ष्मण उसे सहज ही बन्दी बना लेते हैं। बाद में सीता दया से द्रवीभूत हो उसे बन्धन से मुक्त करा देती हैं और अतिवीर्य जिन-दीक्षा धारण कर लेता है। राम-लक्ष्मण अव्यक्त रूप में

भरत की रक्षा कर आगे बढ़ते हैं। क्षेमांजलिपुर नगर में पहुँच वहाँ के राजा शत्रुदमन के हाथ से छोड़ी हुई एक-के-बाद-एक पाँच शक्तियों को वशीभूत कर लक्ष्मण उसकी रानी कनकाभा से उत्पन्न जितपद्मा नामक राजकुमारी का पाणिग्रहण करते हैं। तदन्तर राम-लक्ष्मण-सीता का प्रवेश वंशस्थद्युति नगर में होता है जहाँ के निवासी अग्निप्रभदेव के भयंकर शब्द से त्रस्त हो पलायमान हैं। भागते हुए लोगों का अनुसरण कर वे पर्वत-शिखर पर पहुँचते हैं जहाँ दो मुनि देशभूषण तथा कुलभूषण उत्तम ध्यान में अविचल हैं। सीता मुनियों के पैर धोकर फूल-मालाओं से उनकी पूजा करती हैं और हर्ष-विह्वल हो सुन्दर नृत्य करती हैं। तभी सूर्यास्त होता है और अग्निप्रभ देव का उपसर्ग आरम्भ होता है। सीता भय से आतुर हो राम से लिपट जाती हैं, पर मुनियों का ध्यान भंग नहीं होता। सीता को मुनियों के चरणों के निकट रख राम-लक्ष्मण युद्ध के लिए तैयार होते हैं। अग्निप्रभदेव उन्हें "नारायण" और "बलभद्र" जानकर उपसर्ग से विरत हो जाता है। दोनों मुनियों को केवल ज्ञान उत्पन्न होता है। राम-लक्ष्मण-सीता उनकी पूजा करते हैं। मुनि-द्वय अपने पूर्वभवों का वर्णन करते हैं। आगे बढ़ने पर राम-लक्ष्मण-सीता को वंशस्थलपुर के राजा सुरप्रभ का आतिथ्य प्राप्त होता है जो राम को चरमशरीरी जानकर अत्यन्त श्रद्धापूर्वक उन्हें नमन करता है। राम-लक्ष्मण ने वंशगिरि के शिखरों पर सहस्रों जिन-मन्दिरों का निर्माण किया और उसमें सब प्रकार के लक्षणों से युक्त पंचवर्ण की जिन-प्रतिमाएँ सुशोभित कीं। इसलिए उस पर्वत का "वंशगिरि" नाम नष्ट हो गया और वह "रामगिरि" के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

विराधित विद्याधर की कल्पना लक्ष्मण के उपकारी के रूप में की गई है।[1] वह चन्द्रोदर राजा का पुत्र है जो खरदूषण के कारण अपने पातालपुरी के राज्य अलंकारपुर से वंचित हो भटक रहा था। शम्बूक-वध के परिणाम स्वरूप जब लक्ष्मण खरदूषण से युद्ध-रत थे तब ठीक समय पर युद्ध-भूमि में पहुँच कर विराधित उनकी सहायता करता है। तदन्तर लक्ष्मण उसका परिचय सीता-विरह से दुखी राम से कराते हैं। विराधित उन्हें सान्त्वना देता है तथा अलंकारपुर में जाकर विश्राम करते हुए सीता की खोज के लिए उपाय सोचने का परामर्श देता है। राम-लक्ष्मण विराधित के साथ पातालपुरी के लिए प्रस्थान करते हैं। अलंकारपुर के द्वार पर उन्हें चन्द्रनखा के पुत्र से युद्ध करना पड़ता है। तत्पश्चात् वे नगर के भीतर प्रविष्ट होते हैं। विराधित के साथ राम-लक्ष्मण की मित्रता स्थायी हो जाती है। वह सीता की खोज कराता है तथा उनकी प्राप्ति के लिए राम की सेना के साथ रावण से युद्ध करता है।

राम-सुग्रीव की मित्रता का कारण बालि-सुग्रीव का वैर नहीं है, वरन् साहसगति नामक एक दुष्ट मायावी विद्याधर है जो सुग्रीव का रूप धारणकर उसके राज्य, नगर, सेना तथा स्त्री सुतारा को भी ग्रहण करना चाहता है। इस विट-सुग्रीव के कारण सत्य सुग्रीव की समस्त प्रजा मंत्री और सेना की स्वामिभक्ति संशय में पड़ जाती है। दोनों सुग्रीवों में अन्तर करना सबके लिए असम्भव हो जाता है। इस प्रकार उपद्रुत हो सत्य सुग्रीव महाबली हनुमान की सहायता की याचना करता है। पर हनुमान भी दोनों सुग्रीवों में भेद न कर सकने के कारण लौट जाते हैं। अनन्तर सुग्रीव अलंकारपुर में जाकर राम की मैत्री प्राप्त करता है और दोनों जिनालय में जिन-धर्मानुसार मैत्री-निर्वाह की शपथ लेते हैं। तब राम-सुग्रीव के साथ किष्किन्धापुर आते हैं और युद्ध में उनकी ललकार के सामने विट सुग्रीव के शरीर से उसकी वैताली विद्या निकल

१—प० च०, पर्व ३६, ४५ तथा ५४।

भागती है और उसका वास्तविक साहसगति का रूप प्रकट हो जाता है। राम अपने बाणों से उसका शरीर छिन्न-भिन्न कर डालते हैं। अपने राज्य-भोग को प्राप्त सुग्रीव समस्त वानर-सेना के साथ सीता की खोज तथा प्राप्ति में राम की सहायता करता है। उसकी तेरह कन्याएँ उनका स्वयंवरण करती हैं।

लक्ष्मण के द्वारा कोटिशिला के उठाए जाने का वृत्तान्त भी विमलसूरि की नवीन उद्भावना है। सीता की खोज में विलम्ब और उनके विरह में राम को संतप्त देख लक्ष्मण सुग्रीव के प्रति कुपित होते हैं। सुग्रीव राम के पास आकर क्षमा माँगता है और अपने सेवकों को सीता का पता लगाने का आदेश देता है। अर्कजटी का पुत्र रत्नजटी पता देता है कि सीता को लंकाधिपति रावण ले गया है। राक्षस-वंशी रावण का नाम सुन सब वानरों और विद्याधरों का उत्साह हवा हो जाता है। उन्हें मालूम है कि अनन्तवीर्य नामक योगीन्द्र से एक बार रावण ने अपनी मृत्यु का कारण पूछा था। योगीन्द्र ने कहा था कि जो देवों के द्वारा पूजित अनुपम पुण्यमयी कोटिशिला को उठाएगा वही रावण की मृत्यु का कारण होगा। लक्ष्मण उसी समय जाकर सुग्रीव, अंगद, विराधित, नल-नील आदि के सामने कोटिशिला को उठा लेते हैं। तब वानर उनकी शक्ति का विश्वास कर सीता की प्राप्ति के लिए रावण से युद्ध के लिए तैयार हो जाते हैं।

विमल सूरि की एक अन्य नवीन उद्भावना यह भी है कि रावण अपने को अजेय बनाने के उद्देश्य से, शान्ति-जिनालय में बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करने के लिए चौबीस दिन की अखण्ड साधना करता है। रावण की शक्ति से आहत लक्ष्मण जब विशल्या के प्रभाव से पुनः सजीव हो उठते है तो उसे घोर चिन्ता होती है और आत्म-रक्षा के विचार से वह बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करने का निश्चय करता है जिसके आलम्बन से वह अनेक रूप धारण कर सके। फाल्गुन शुक्ला अष्टमी से पूर्णिमा तक नन्दीश्वर पर्व के कारण दोनों ओर से युद्ध स्थगित हो जाता है और इसी बीच रावण शान्ति-जिनालय में जितेन्द्रनाथ की उपासना में तल्लीन हो जाता है। रावण बहुरूपिणी विद्या सिद्ध कर रहा है, इस समाचार से राम की सेना में चिन्ता छा जाती है। अंगद आदि वानर कुमार उत्पात मचाकर उसके ध्यान को भंग करना चाहते हैं, पर पूर्णभद्र और मणिभद्र नामक यक्षेन्द्र रावण पर आए उपद्रव का निवारण करते हैं। वह अपने ध्यान से विचलित नहीं होता और बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करके ही उठता है। इस विद्या के प्रभाव से वह लक्ष्मण के साथ अन्तिम युद्ध में बहुत समय तक अपनी रक्षा करता है, पर अन्त में जब वह लक्ष्मण पर चक्ररत्न का प्रयोग करता है तो वह चक्र लक्ष्मण को आहत करने के स्थान पर उनकी तीन प्रदक्षिणाएँ करता है और स्वेच्छा से उनके हाथ में आकर स्थित हो जाता है। उस चक्ररत्न के प्रयोग से लक्ष्मण रावण का वध करते हैं।

रामकथा का निर्वहण भी विमल सूरि की नवीन उद्भावना का प्रतिफल है। लवण-अंकुश-युद्ध के पश्चात् सीता अयोध्या लौटती हैं और अग्नि-परीक्षा द्वारा अपने सतीत्व का प्रमाण देती हैं। तब राम अनुरोध करते हैं कि सीता उनके साथ अयोध्या में निवास करें। किन्तु सीता अपने हाथ से अपने सिर के बाल काट कर जैन-दीक्षा लेने का संकल्प प्रकट करती हैं। इस पर राम मूर्छित होकर भूमि पर गिर पड़ते हैं और सीता सर्वगुप्त नामक मुनि के पास जाकर दीक्षा ग्रहण कर लेती हैं। संज्ञा प्राप्त करने के पश्चात् राम-सीता की खोज में

निकलते हैं परन्तु सकलभूषण मुनि से किसी दिन केवल ज्ञान प्राप्त करने का आश्वासन पाकर अयोध्या लौट आते हैं।[१]

तब एक दिन रत्नचूल और मणिचूल नामक दो देवता कौतूहल वश राम और लक्ष्मण के प्रेम की परीक्षा लेने का निश्चय करते हैं। अयोध्या पहुँचकर वे राम की मृत्यु का मिथ्या समाचार सुनाते हैं जिससे नगर और अन्तःपुर में हाहाकार मच जाता है और भ्रातृ-वियोग के आघात से लक्ष्मण का तत्काल देहान्त हो जाता है। लवण और अंकुश लक्ष्मण की मृत्यु से दुखी होकर तपस्या करने चले जाते हैं। लक्ष्मण की अन्त्येष्टि के पश्चात् राम लवण के पुत्र अंगरुह को राज्य सौंपकर तपस्वी बन जाते हैं और देश-भ्रमण करने लगते हैं। वह किसी दिन कोटिशिला के स्थान पर पहुँचते हैं। वहाँ सीता के पूर्व भव के जीव द्वारा अनेक प्रलोभनों के समक्ष उनकी परीक्षा होती है, पर राम अविचल रहते हैं। फलस्वरूप वे केवली हो जाते हैं और सत्रह हजार वर्ष तक जीवित रहकर निर्वाण प्राप्त करते हैं।[२]

वाल्मीकीय रामकथा का प्रवाह इस प्रकार विमल सूरि के हाथों अनेक परिष्कारों-तिरस्कारों एवं आविष्कारों के मार्ग से होता हुआ अपनी चरम परिणति को प्राप्त होता है। ब्राह्मण परम्परा से प्रत्येक विलगाव साभिप्राय है और वह अभिप्राय है सभी मुख्य पात्रों का जैन होना दिखाना। इसके अतिरिक्त आधिकारिक कथा के बीच-बीच में जो जैन धर्म-शिक्षा, सृष्टि-व्याख्या, साधु-धर्म, पूर्वभव-वृतान्त, कर्म-सिद्धान्त, जैन-कर्मकाण्ड आदि का विवेचन मिलता है वह सब विमल की कल्पना से प्रसूत नवीनता है।

स्वयंभू-गृहीत रामकथा का रूप

स्वयंभू द्वारा वर्णित राम-काव्य की कथावस्तु में नितान्त मौलिकता की आशा नहीं करनी चाहिए। उन्होंने प्रारम्भ में ही स्वीकार किया है कि उनका काव्य आचार्य रविषेण के आधार पर रचित है:—

वद्धमाण-मुह-कुहर विणिग्गय। राम-कहा-णइ एह कमागय॥
× × × ×
पच्छर इन्दभूइ-आयरिएं। पुणु धम्मेण गुणालंकिएं॥
पुणु पहवे संसाराराएं। कित्तिहरेण अणुत्तरवाएं॥
पुणु रविषेणायरिय पसाएं। बुद्धिए अवगाहिय कइराएं॥१, २

अर्थात् यह रामकथा रूपी सरिता वर्द्धमान जिनेन्द्र के मुखरूपी कन्दरा से अवतीर्ण हुई है—तदन्तर इन्द्रभूति आचार्य को, पुनः गुणालंकृत सुधर्माचार्य को, फिर प्रभव को फिर अनुत्तरवाग्मी अथवा श्रेष्ठ वक्ता कीर्तिधर को प्राप्त हुई। उसके पश्चात् रविषेणाचार्य के प्रसाद से कविराज स्वयंभू ने उस रामकथा का अवगाहन किया।

स्वयंभू की इस उक्ति की तुलना रविषेण के "पद्मचरित" के निम्नांकित श्लोकों से की जा सकती है:—

वर्द्धमान जिनेन्द्रोक्तः सोऽयमर्थो गणेश्वरम्।
इन्द्रभूति परिप्राप्तः सुधर्मं धारिणीभवम्॥१, ४१

१—पउमचरिय, पर्व १०२।
२—प० च०, पर्व ११०-११८।

प्रभवं क्रमतः कीर्तिं ततोऽनुत्तर वाग्मिनम् ।
लिखितं तस्यं संप्राप्य रवेर्यत्नो ऽयमुद्गतः ।। १, ४२

अर्थात् श्री वर्द्धमान जिनेन्द्र के द्वारा कहा हुआ यह अर्थ इन्द्रभूति नामक गौतम गणधर को प्राप्त हुआ, फिर धारणी के पुत्र सुधर्माचार्य को प्राप्त हुआ, फिर प्रभव को प्राप्त हुआ फिर अनुत्तरवाग्मी कीर्तिधर आचार्य को प्राप्त हुआ। तदन्तर उनका लिखा प्राप्त कर यह रविषेण का प्रयत्न प्रकट हुआ।

यहाँ यह बात उल्लेख्य है कि बहु-प्रचलित धारणा के विपरीत न तो रविषेण ने विमल सूरि को जैन रामकथा के मूल निर्माता के रूप में स्मरण किया है और न स्वयंभू ने ही उनका कहीं स्तवन किया है। विमल सूरि-कृत "पउमचरिय" के विक्रम सं० ६० में रचित होने के विषय में, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, विद्वानों ने अनेक कारणों से सन्देह प्रकट किया है।[1] पर विमल और रविषेण का पूर्वापर सम्बन्ध अन्ततः चाहे जिस प्रकार सिद्ध हो इसमें सन्देह को स्थान नहीं कि ये दोनों ही महाकवि स्वयंभू के पूर्वगामी हैं और स्वयंभू की रामकथा इन्हीं के आधार पर निर्मित है। वास्तव में दो-चार स्थलों को छोड़कर, जहाँ विस्तार का थोड़ा-बहुत पार्थक्य दिखाई पड़ता है, मूल में सर्वत्र ही स्वयंभू ने विमल और रवि की धारा का अनुगमन किया है।

कथा आरम्भ करने की रीतियाँ तीनों में एक समान हैं। विपुलाचल के शिखर पर भगवान महावीर स्वामी का समवसरण आकर विराजमान होता है। वहाँ उपस्थित होकर राजा श्रेणिक रामकथा विषयक लोक-प्रचलित भ्रान्तियों के निवारण के हेतु प्रश्न करते हैं। स्वामी गौतम गणधर श्रेणिक के प्रश्न के उत्तर में पहले सृष्टि की रचना का वर्णन करते हैं, फिर युगों, कुलकरों, तीर्थंकरों, वंशों के उद्भव का इतिहास बताते हैं, राक्षसों, वानरों और विद्याधरों की लीलाओं का विस्तृत उल्लेख करते हैं, तब इक्ष्वाकु-वंश के प्रारम्भ का वर्णन करके उसमें राजा दशरथ की उत्पत्ति और कैकेयी को उनके वरदान का वर्णन करते हैं, फिर जनक के भामण्डल और सीता की उत्पत्ति तथा भामण्डल के हरण की कथा आती है। तदनन्तर दशरथ के पुत्र रूप में रामादि भाइयों की उत्पत्ति के साथ आधिकारिक कथा आरम्भ होती है।

प्रारम्भ में हम देखते हैं कि जहाँ विमल और रवि[2] ने अन्तिम तीर्थंकर स्वामी महावीर की प्रार्थना से काव्य आरम्भ किया है वहाँ स्वयंभू प्रथम तीर्थंकर ऋषभ जिनकी अभ्यर्थना से अपनी रचना आरम्भ करते हैं:—

णमह णव-कमल-कोमल-मणहर-वर-वहल-कान्ति-सोहिल्लं ।
उसहस्स पाय-कमलं स-सुरासुर-वन्दियं सिरसा ।।१।।

अर्थात् मैं नव कमल की तरह कोमल, सुन्दर और उत्तम घन-कान्ति से शोभित तथा देवों और असुरों के द्वारा वन्दित श्री ऋषभ जिनके चरण-कमलों को सिर से नमन करता हूँ।

अपने पूर्ववर्ती कवियों के विपरीत स्वयंभू चार-वंशों की उत्पत्ति के वर्णन का विस्तार नहीं करते और न उनमें ब्राह्मणों के प्रति निन्दात्मक उक्तियाँ ही मिलती हैं। स्वयंभू तो इक्ष्वाकु वंश का वर्णन भी अत्यन्त संक्षेप में करते हैं। वानर वंश में हनुमान के पिता पवनंजय

१—देखिये "पद्म पुराण" भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९५८, पृ० २१-२२।

२—प्रणमामि महावीरं लोकत्रितय मंगलम्। प० च०, १, २।

की उत्पत्ति, विवाह, वीरता आदि का विशद वर्णन देना उन्होंने भी आवश्यक समझा है। रविषेण ने हनुमान की सास का नाम हृदयवेगा दिया है, स्वयंभू में वह मनोवेगा है। पवनंजय और अंजना के प्रेमालाप और रति-क्रीड़ा को स्वयंभू ने बहुत संक्षिप्त करके दो-तीन पंक्तियों में समाप्त किया है जबकि रविषेण ने इसका वर्णन अत्यन्त विस्तार से, अश्लीलता की सीमा तक पहुँचा कर किया है।[1]

आधिकारिक रामकथा के आरम्भ होने पर विमल और रवि से स्वयंभू का पहला पार्थक्य नारद-सीता-प्रसंग में दिखाई देता है। "पउमचरिय" के अनुसार सीता नारद को अपने कक्ष में अचानक आते देख भयभीत हुईं, वह भागकर छिप गईं तथा नारद को महल से निकाला गया। स्वयंभू के अनुसार सीता ने दर्पण में नारद का प्रतिबिम्ब देखा और तत्क्षण मूर्च्छित होकर वह भूमि पर गिर पड़ीं। उनकी सहेलियाँ चिल्लाने लगीं और नारद को बाहर निकाल दिया गया।[2] मानना पड़ेगा कि स्वयंभू की कल्पना विमल से अधिक कोमल है और सीता की सुकुमारता की अधिक मार्मिक अनुभूति कराती है।

स्वयंभू ने नारद का चित्रण रविषेण की अपेक्षा अधिक सरल और स्वाभाविक रूप में किया है। रविषेण के नारद सीता पर कुपित होकर कुटिल बन जाते हैं। वह सीता का चित्र बनाकर भामण्डल के उद्यान में उसे स्थापित कर छिप जाते हैं और भामण्डल के विरह-पीड़ित होने पर मंत्रियों को यह अनुमान लगाना पड़ता है कि हो-न-हो वह प्रतिमा नारद की स्थापित की हुई है।[3] स्वयंभू में नारद सीता पर कुपित होने पर उनका चित्र बना सीधे भामण्डल के सामने उपस्थित होते हैं और चित्र दिखाकर भामण्डल को उसकी बहिन पर आसक्त बनाते हैं। परोक्ष से प्रत्यक्ष कार्य-विधि अपनाने के कारण नारद का चरित्र उज्जवल दिखाई पड़ने लगता है।

दशरथ-विरक्ति के प्रसंग में रानी सुप्रभा का चित्रण स्वयंभू ने अपने पूर्ववर्ती कवियों से किंचित् भिन्न रूप में किया है। जिन प्रतिमा के प्रक्षालन का गन्धोदक रानी सुप्रभा के पास कुछ देर से पहुँचा, क्योंकि उसे ले जाना वाला कंचुकी वृद्धावस्था के कारण गलित-शक्ति था और शीघ्रता करने में असमर्थ था। रानी ने इस बिलम्ब को अपना अपमान समझा और वह आत्मघात करने का संकल्प कर बैठी। उन्होंने विष लाने का आदेश दे दिया। इतने में राजा दशरथ उनके महल में पहुँच गए, तभी गन्धोदक लेकर कंचुकी भी प्रविष्ठ हुआ। राजा ने देर से आने के कारण कंचुकी को ताड़ना देना आरम्भ किया। कंचुकी ने वृद्धावस्था की असमर्थता का ऐसा चित्र खींचा कि दशरथ को जीवन और राज-भोग से विरक्ति हो गई। स्वयंभू ने रानी सुप्रभा के आत्मघात के संकल्प का अंश इस प्रसंग से निकाल दिया है और उनके कोप को दशरथ के प्रति उलाहना तक सीमित रखा है। इससे उन्होंने अहिंसा-सिद्धान्त की रक्षा करली है और हिंसा की भावना को मन में लाना भी त्याज्य बताया है।

१—पद्मपुराण, १६, १७४-२०१।

२—सीयहें देह रिद्धि पावन्तिहें। एक्कु दिवसु दप्पणु जोयन्तिहे॥
पडिमा-छलेण महा-भय-गारउ। पारिस-वेसु णिहालिउ णारउ॥
जणय-तणय सहसत्ति पणट्ठी। सीहागमणे कुरंगि व तुट्ठी॥ २१, ८।

३—पटोऽत्र निहितो गेहे स्याद् वा नारदचेष्टितम्। २८, २८।

दशरथ को अन्ततः जिन-भक्ति में अनुरक्त बनाने वाले मुनि का नाम विमल-रवि ने सर्वभूतहित रखा है। स्वयंभू ने उन्हें सत्यभूति नाम से अभिहित किया है।

राम-वनवास के प्रसंग में स्वयंभू, रामचरित को ऊँचा उठाने के लिए, उनके ही कर कमलों से विराग-भरे भरत के सिर पर राजपट्ट बँधवाते हैं।[१] यह कल्पना स्वयंभू की अपनी है और उनके पूर्ववर्तियों में नहीं पाई जाती। जब भरत राम को वन से लौटा लाने के लिए जाते हैं तो वन में राम दूसरी बार भी उनके सिर पर राजपट्ट बाँधते हैं।[२]

स्वयंभू ने राम का चरित ऊँचा उठाने की और भी युक्ति की है। राम-सीता और लक्ष्मण के साथ वन के मार्ग में आगे बढ़ते हैं तो रात के अन्धकार में सुरति-युद्ध दिखाई देता है जिसके कामोत्पादक शब्द मानों उन्हें पथ-भ्रष्ट करना चाहते हों। पर राम उस काम महा-युद्ध को देखकर आगे बढ़ जाते हैं। सुरति-सिक्त आपण स्त्रियाँ राम-लक्ष्मण की आशंका से मुँह ढाँककर रह गईं।[३]

राम की वन यात्रा में स्वयंभू ने पहले धानुष्क वन के निवासियों का बड़ा ही स्वाभाविक और मनोरम वर्णन किया है जो उनके पूर्ववर्तियों में नहीं मिलता। वन-मार्ग में आगे आने वाले स्थानों पर व्यक्तियों के नामों तथा घटनाओं के विस्तार में स्वयंभू ने विमल और रवि से बार-बार पार्थक्य प्रदर्शित किया है। चित्रकूट के आगे पड़ने वाले नगर दशांगपुर को स्वयंभू ने दशपुर नगर नाम दिया है और उसके राजा वज्रकर्ण की दुर्दशा का वर्णन सीरकुटुम्बिक नामक व्यक्ति से कराया है जबकि रविषेणदि में व्यक्ति के नामकरण की आवश्यकता नहीं समझी गई थी। नलकूबर-कल्याणमाला वृत्तान्त के अन्तर्गत स्वयंभू ने कल्याणमाला के पिता बालखिल्य के त्रासदाता को रुद्रभूति नाम से अभिहित कर घटना-वर्णन में वास्तविकता का प्रभाव उत्पन्न करना चाहा है। आगे बढ़ने पर राम ने कपिल ब्राह्मण को अपने शील, सहनशीलता और धैर्य से सुबुद्धि प्रदान की और उसे जिन-मार्ग पर स्थापित कर वे जीवन्त नगर में प्रविष्ट हुए जिसे रविषेणाचार्य ने वैजयन्तपुर नाम दिया है। उसकी कन्या वनमाला को आत्म-हत्या से बचाकर और उसका पाणिग्रहण कर लक्ष्मण ने अपने अग्रज राम के साथ भरत के विद्वेषी राजा अनन्तवीर्य को बन्दी बना उसकी बुद्धि को ठिकाने लगाया जिसे रविषेण ने केवल अतिवीर्य नाम दिया है। स्वयंभू के अनुसार अनन्तवीर्य नन्दावर्त्त नगर का राजा है जबकि रविषेण ने उसके नगर का नाम नहीं दिया है। इसके बाद राम-लक्ष्मण क्षेमांजलिनगर पहुँचे और उसे राजा अरिदमन (रवि के अनुसार शत्रु-दमन) की शक्ति को झेलकर उसकी पुत्री जिनपद्मा को वरण किया। फिर वे वंशस्थ-नगर (रवि के अनुसार वंशस्थद्युति नगर) गए जहाँ मुनियों के उपसर्ग, उसके शमन और भवान्तर-कथन की घटना हुई। इसके आगे बढ़ने पर दंडक वन मिला जिसके अन्तर्गत गोकुल बस्ती का वर्णन स्वयंभू की

१—पेक्खन्तहो जणहो सुरकरि-कर-पवर-पचण्डेंहि।
पट्टु णिबद्ध सिरे रहु-सुएण स यं भुव-दण्डेंहि ॥२२, ९।

२—एउ वयणु मणेप्पिणु सुह-समिद्धु। सइं हत्थें भरहहों पट्टु बद्धु ॥२४, १०।

३—जेवि रमन्ता आसि लक्खण-राम हुं संकेवि।
णावइ सुरयासत्त आवण थिय मुहु ढंकेवि ॥ २३, ११। प० चरिउ।

मौलिक कल्पना है।[१] स्वयंभू के अनुसार यहाँ राम क्रौंच नदी के तट पर अनुज और पत्नी के साथ विश्राम करते हैं। रविषेण उसे कर्णरवा नदी कह कर वर्णन करते हैं।

शम्बूक-वध के फलस्वरूप लक्ष्मण खरदूषण में जो युद्ध होता है उसके पूर्व, रवि के अनुसार, खरदूषण रावण को सहायता के लिए समाचार भेजता है। स्वयंभू ने इस समाचार को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए उसे पत्र का रूप दिया है। यह स्वयंभू की मौलिकता है। वह लेख रावण के सम्मुख इस तरह पड़ा था मानो उसका कुल-संहार ही मूर्त्तिमान् हो रहा हो—

लेहु विसज्जहु जो सुर-सीहहो।
अग्गए पडिउ गम्पि दसगीव हो ॥
पडिउ णाइं बहु दुक्खहु भास।
णाइं णिसायर - कुल - संहास ॥ ३८, १०

सीता का हरण कर रावण उन्हें ले जाकर लंका के बाहर नन्दन-वन में रखता है, रवि के अनुसार वह उन्हें लंका के पश्चिमोत्तर-स्थित-देवारण्य नामक उद्यान में रखता है।

स्वयंभू में यह वर्णन नया है कि रावण सीता को फुसलाने के लिए उन्हें यान में बैठा कर लंका का वैभव दिखाने ले जाता है।[२]

"पउम चरिउ" में राम सीता को कुटी में न पाकर उनके वियोग में मूर्च्छित हो जाते हैं और दो मुनि वहाँ प्रकट होकर उनकी मूर्च्छा दूर करते हैं तथा उन्हें समझाते हैं।[३] स्वयंभू के पूर्ववर्ती रविषेण आदि में यह प्रसंग नहीं प्राप्त होता। सीता से वियुक्त राम विराधित के अनुरोध पर जिस नगर में विश्राम करने जाते हैं, स्वयंभू ने उसका नाम तमलंकार नगर दिया है, रविषेण ने उसे अलंकारपुर कहा है।[४]

भामण्डल के अनुचर विद्याधर का नाम, जिसने सीता को हर कर ले जाने वाले रावण का मार्ग अवरुद्ध किया था, रविषेण ने रत्नजटी रखा है, स्वयंभू ने उसे रत्नकेशी कहा है। रविषेण के अनुसार रावण ने रत्नजटी की आकाशगामिनी विद्या छीनकर उसे नीचे गिरा दिया। स्वयंभू के अनुसार रावण ने पहले उसे अपने श्रेष्ठ खड्ग चन्द्रहास से वक्षस्थल में घायल किया, तत्पश्चात् उसकी आकाशगामिनी विद्या को छेद कर उसे नीचे फेंक दिया।[५]

हनुमान जब सीता को अशोक वृक्ष के नीचे देखते हैं तब राम-प्रदत्त अंगूठी उनकी गोद में गिराते हैं। इसके पश्चात् की घटना स्वयंभू ने अपने पूर्ववर्तियों से कुछ भिन्न रूप में वर्णित की है। रविषेण आदि के अनुसार सीता हनुमान को तुरन्त बुलाती हैं और हनुमान उन्हें हरण के ठीक पूर्व और पश्चात् की घटनाएँ सुनाते हैं। स्वयंभू का वर्णन अधिक मनोवैज्ञानिक है। उन्होंने दिखाया है कि राम की अँगूठी अचानक देखकर सीता का मन शंका

१—पउम चरिउ—३४, १२।

२—तो अवहेरि करेवि विहीसणए। चडिउ महग्गए तिजगविहूसणए ॥
सीय वि पुप्फ-विमाणे चडाविय। पट्टणे हट्ट-सोह दरसाविय ॥ ४२, ६

३—पउम चरिउ।

४—मणह पुणो वि एम विज्जाहरु अच्छोवि किं करेसहुं।
तमलंकार णयह पइसेप्पिणु जगह तहिं गवेसहुं ॥ ४०, १६

५—पउम चरिउ।

और तर्क-वितर्क से भर जाता है और वे "यह भी राक्षसों की माया न हो", ऐसा सोचने लगती हैं। पुनः वे हनुमान की परीक्षा करती हैं और उनके उत्तर से संतुष्ट होने पर उन पर विश्वास करती हैं।[१]

सीताहरण के फलस्वरूप लंका पर आने वाली विपत्ति की सूचना देने वाले त्रिजटा के स्वप्न का वर्णन स्वयंभू के पउमचरिउ में मिलता है, पर उनके पूर्ववर्तियों में वह अप्राप्य है।

सीता के सम्मुख मन्दोदरी का हनुमान से वाग्युद्ध होता है, यह वृत्तान्त विमल, रवि और स्वयंभू तीनों में मिलता है। पर हनुमान द्वारा उद्यान के नष्ट किये जाने का समाचार रावण के पास पहुँचने पर मन्दोदरी हनुमान की जो भर्त्सनापूर्ण और लांछन युक्त चुगली करती है, वह स्वयंभू की अपनी उद्भावना है।[२]

बन्धन-युक्त हनुमान को इन्द्रजीत जब रावण की सभा में उपस्थित करता है तब, स्वयंभू के अनुसार, वह हनुमान के उपदेशों और आदेशों से क्रुद्ध होकर उनके बध का आदेश देता है। रविषेण में रावण का क्रोध हनुमान को अपमान पूर्वक नगर में घुमाये जाने की आज्ञा तक सीमित रहता है।

हनुमान के लंका से लौटने पर दोनों ओर से युद्ध की तैयारी होती है और राम ससैन्य हंसद्वीप में अपना शिविर स्थापित करते हैं। वहाँ से सीता की प्राप्ति और शान्ति की रक्षा के लिए अन्तिम प्रयास के रूप में वे अंगद को रावण की सभा में भेजते हैं। स्वयंभू ने इस प्रसंग का वर्णन बड़ी तन्मयता से किया है, पर रविषेणादि में इस प्रसंग की चर्चा तक नहीं है।

रावण के बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करने के लिए शान्ति जिनालय में ध्यान मग्न होने पर अंगद, नील, स्कंद आदि कुमार उसका ध्यान भंग करने के उद्देश्य से लंका में उपद्रव करते हैं। तब यक्षों की एक सेना कुमारों को वहाँ से खदेड़ देती है। रविषेण के अनुसार यक्षेन्द्र राम को कुमारों के उत्पात के लिए उपालम्भ देता है पर लक्ष्मण के हस्तक्षेप से अन्त में यह निश्चित होता है कि कुमार नगर निवासियों को कष्ट न देकर रावण को ध्यान से विचलित करने का प्रयत्न कर सकते हैं। स्वयंभू ने इस घटना को कुछ परिवर्तित कर दिया है। उनके अनुसार राम-रावण का पक्ष लेने वाले यक्षों की भर्त्सना करते हैं और यक्षेन्द्र राम से क्षमा-याचना करता है।

रवि के वर्णनानुसार रावण के निधन पर मन्दोदरी, इन्द्रजीत, मेघवाहन, कुम्भकर्ण आदि को उनका भवान्तर सुनाकर निर्ग्रन्थ दीक्षा देने वाले केवल ज्ञानी मुनिराज अनन्तवीर्य हैं जबकि स्वयंभू ने उनका नाम अप्रमेयबल रखा है।

स्वयंभू ने सीता के सतीत्व के समर्थन में त्रिजटा का अयोध्या आगमन दिखाया है। विभीषण त्रिजटा को लंका से अयोध्या बुलवाता है, इस साक्ष्य के लिए कि सीता निर्दोष है। रविषेण आदि में त्रिजटा का उल्लेख न पहले आता है और न इस अवसर पर।

यहाँ आधिकारिक रामकथा समाप्त हो जाती है। आगे जैन-मान्यतानुसार प्रधान पात्रों का भवान्तर-कथन है। इसमें स्वयंभू का अपने पूर्ववर्ती कवियों से कोई उल्लेख्य पार्थक्य नहीं है।

१—पउम चरिउ, ५०, ३।
२—प० च०, ५१, १०

कृष्ण-कथा

जिस प्रकार पूर्व-प्रचलित आख्यानों के आधार पर रामचरित वाल्मीकीय रामायण में सर्वप्रथम विस्तार से वर्णित हुआ उसी प्रकार कृष्ण-चरित का सर्वप्रथम विस्तृत वर्णन महाभारत में प्राप्त होता है। यद्यपि राम की कथा को महाकाव्य का गौरवमय रूप पहले प्राप्त हुआ, भारतीय परम्परा में कृष्ण के चरित्र का विकास राम के चरित से भी पूर्व होने लगा था।[१] वेदों से लेकर पुराणों तक के विस्तृत क्षेत्र में कृष्ण का व्यक्तित्व विकसित हुआ है। कृष्ण का एक रूप गोपाल कृष्ण का है जिसका प्रारम्भिक विकास ऋग्वेद की ऋचाओं में मिलता है। "राय चौधरी सुदूर वेदों के अन्तर्गत विष्णु के नटखट रूप में बालकृष्ण के बीज की उत्पत्ति बतलाते हैं।[२] ऋग्वेद में विष्णु को सम्बोधित की गई ऋक् उन्हें "कुचर" और "गिरिष्ठा" कहती है।[३] यहीं से कृष्ण की बाल-लीलाओं का आभास मिलता है। ऋग्वेद[४] के अन्य स्थल में "गोपा" नाम से विष्णु का सम्बोधन गोपों से उनके निकट सम्बन्ध को सूचित करता है। मैकडानल और कीथ ने भी "गोपा" से "गौओं के रक्षक" का अर्थ लिया है।[५] हापकिन्स ने इसका अर्थ "गोप" लिया है।[६] इन विद्वानों के द्वारा गोपा शब्द की व्युत्पत्ति गो, गोप और कृष्ण के सम्बन्ध को पुष्ट करती है।"[७]

ऋग्वेद में अन्यत्र[८] अनेक सींगों वाली गायों से युक्त उच्चलोक की कल्पना की गई है जिसे विष्णु का परमपद कहा गया है। वैष्णव पुराणों के गोलोक, वृन्दावन और गोकुल की मूल उद्भावना का आभास भी इस ऋक् में पाया जा सकता है।

उत्तर वैदिक साहित्य में भी कृष्ण और विष्णु की अभिन्नता को सिद्ध करने वाले कुछ प्रमाण मिलते हैं। तैत्तिरीय आरण्यक (१०, १, ६) में वासुदेव एवं विष्णु की अभिन्नता के उल्लेख विद्यमान हैं। बोधायन धर्मसूत्र में विष्णु को "गोविन्द" और "दामोदर" कहा गया है जो कृष्ण के ही उपनाम हैं।[९]

कृष्ण का दूसरा रूप दार्शनिक है जिसका विकास उपनिषदों से आरम्भ हुआ। बौद्धकाल के पूर्व रचित छान्दोग्योपनिषद् में देवकी पुत्र कृष्ण को गुरु घोर-आंगिरस से ब्रह्मविद्या सीखते हुए वर्णित किया गया है।[१०] महाभारत के अन्तर्गत गीता में कृष्ण का जो दार्शनिक रूप दिखाई देता है वह छान्दोग्योपनिषद् के कृष्ण के मेल में है।

१—राम कथा, पृ० ७३७-३८।
२—अर्ली हिस्ट्री आव दी वैष्णव सेक्ट कलकत्ता १९२०, पृ० ४६-४८।
३—ऋग्० १, ५४, २, प्रतद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा॥
४—ऋग्० १, २२, १८ त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः।
५—वैदिक इंडेक्स, जिल्द १, पृ० २३८।
६—हापकिन्स, रिलीजन्स आव इंडिया, पृ० ५७।
७—श्रीमती वीणापाणि, हरिवंश पुराण का सांस्कृतिक अध्ययन पृ० १३-१४ से उद्धृत।
८—ऋग्० १, १५४, ६।
९—राय चौधरी : पृ० ३७।
१०—छान्दोग्य, ३, १६, ६-७। तद्वैतद् घोर-आंगिरसः कृष्णाय देवकी पुत्रायोक्त्वोवाच।

ऋग्वेद और छान्दोग्योपनिषद् से उद्भूत होकर कृष्ण के व्यक्तित्व के विकास की जो दो धाराएँ—गोपाल कृष्ण और दार्शनिक कृष्ण की—प्रवहमान हुईं उनका समन्वय हरिवंश तथा पुराणों में आगे चलकर हुआ।

इस विषय में सभी देशी-विदेशी विद्वान् एक मत हैं कि अवतारवाद और भक्तिवाद के युगल सिद्धान्त, जिनका भारतीय जनता की धार्मिक चेतना पर अमिट प्रभाव है, कृष्ण के व्यक्तित्व का आश्रय पाकर ही पल्लवित और विकसित हुए। वैदिक काल में अवतारवाद की भावना का सूत्रपात हो गया था। ब्राह्मण ग्रन्थों में अवतारवाद विद्यमान है। पर कृष्ण को अवतार मानने के पूर्व इस भावना का कोई विशेष महत्व नहीं था। कृष्ण को अवतार मानने के साथ अवतारवाद की भावना का प्रभाव तीव्रता से बढ़ने लगा। विष्णु को परमदेव और वासुदेव कृष्ण को उनका अवतार मानने की भावना ई० पूर्व ३०० के आसपास स्थापित हो चुकी थी। पहली शताब्दी ई० पू० के आस-पास राम को भी अवतार माना जाने लगा।[१]

भारतीय भक्तिमार्ग का सूत्रपात कृष्णोपासक भागवत सम्प्रदाय द्वारा हुआ। यहाँ भी कृष्ण राम के अग्रणी हैं। बौद्ध और जैन धर्मों की भाँति भागवत सम्प्रदाय कर्मकाण्ड तथा यज्ञ-प्रधान ब्राह्मण-धर्म का विरोधी था। भक्ति मार्ग का विकास ब्राह्मण-धर्म की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। इसमें भागवतों का विशेष योग था। उन्होंने कृष्ण को अपना उपास्य बताया। बौद्धों और जैनों के विपरीत भागवत सम्प्रदाय मे वेदों की निन्दा को स्थान नहीं मिला। इससे वेदोपासक ब्राह्मण-समाज के लिए भागवतों के इष्ट कृष्ण को अपनाने में आसानी हुई। ब्राह्मणों ने बौद्ध-जैन धर्म के प्रभाव से अपने पराभव को रोकने के लिए कृष्ण को विष्णु का अवतार मान लिया। इस प्रकार ब्राह्मण और भागवत धर्म के समन्वय से वैष्णव धर्म की उत्पत्ति सम्भव हो सकी।

कृष्ण-भक्ति की देखा देखी रामभक्ति का आविर्भाव बाद में हुआ। इसके निश्चित समय के विषय में विद्वानों में मतभेद है।[२]

कृष्ण के समन्वित व्यक्तित्व का दर्शन पुराणों में होता है। प्रारम्भिक पुराणों में कृष्ण का अंशावतार उत्तरकालीन पुराणों में सोलह कलाओं से युक्त पूर्णावतार हो गया है। पुराणों में ब्रह्म पुराण सबसे प्राचीन माना जाता है।[३] हरिवंश महाभारत का खिल पर्व या अन्तिम भाग है परन्तु पुराणों के लिए आवश्यक बतलाए गए पंचलक्षणों[४] से युक्त होने के कारण वह पुराण भी कहा जाता है। उसका रचना-काल २ श० ई० पू० निश्चित किया गया है।[५] यों तो हरिवंश, ब्रह्म, विष्णु, देवी भागवत, भागवत, ब्रह्मवैवर्त, पद्म, अग्नि आदि सभी पुराणों में कृष्ण चरित का न्यूनाधिक वर्णन हुआ है पर विस्तार और महत्ता की दृष्टि से कृष्ण-चरित के लिए हरिवंश और भागवत पुराण की अधिक ख्याति है।

१—राम कथा, पृ० १४६।

२—विस्तार के लिए देखिए रामकथा, पृ० १५३।

३—हिन्दुत्व, पृ० १६२।

४—सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशोमन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पंच लक्षणम्॥

५—श्रीमती वीणापाणि, पृ० १०६।

महाभारत में, उसकी प्रधान घटना अर्थात् कौरव-पाण्डव युद्ध के सन्दर्भ में, कृष्ण के चरित्र का जो चित्रण हुआ है उससे उनके आद्योपान्त क्रमबद्ध जीवन का दर्शन नहीं होता। सभापर्व (अध्याय ३६-४०) में भीष्म जहाँ श्रीकृष्ण की महिमा बताते हैं वहाँ उनके जन्म से लेकर द्वारका-निवास तक का वृतान्त संक्षेप में वर्णित है। किन्तु यह पर्याप्त नहीं है। कदाचित् इसी कमी को अनुभव कर हरिवंश-कर्ता ने महाभारत के खिलपर्व के रूप में कृष्ण की विस्तृत कथा को किसी समय जोड़ दिया। हरिवंश में वर्णित कृष्ण-चरित ही आगे चलकर अन्य पुराणों के कृष्ण-चरित की पृष्ठभूमि बना क्योंकि हरिवंश के विष्णु पर्व में कृष्ण चरित्र की रूप-रेखा अन्य समस्त पुराणों तथा कुछ स्थलों में महाभारत से भी मौलिक रूप प्रस्तुत करने के कारण प्राचीनतम है।[1]

बौद्ध और जैन-परम्परा में कृष्ण-कथा के जो रूप प्रचलित हैं उनकी मूल सामग्री महाभारत और हरिवंश से प्राप्त हुई, ठीक उसी प्रकार जैसे रामकथा की मूल-सामग्री वाल्मीकीय रामायण से प्राप्त हुई थी।

बौद्ध-कृष्णा-कथा घट जातक में मिलती है। जातकों को कुछ विद्वान् महाभारत तथा रामायण का पूर्ववर्ती मानते हैं।[2] किन्तु घट जातक को जातकों में अर्वाचीन माना गया है।[3] इसका कारण यह है कि यह जातक कृष्णकथा के विकसित रूप की ओर संकेत करता है। डा० भायाणी का मत है कि घट जातक के ब्राह्मण साहित्य की किसी प्रसिद्ध कथा के प्राचीन स्वरूप के रूपान्तर होने की पूर्ण सम्भावना है। किन्तु इतना ध्यान में रहे कि ईसा की पाँचवी शताब्दी के बाद कोई भी जातक कथा नहीं लिखी गई।[4]

कृष्ण-कथा का जैनरूप मूलतः "नायाधम्मकहाओ" "अंतगडदसाओ" "उत्तरज्झयण" आदि जैणागमों में प्राप्त होता है जिनको सूत्ररूप में निबद्ध करने का कार्य ईसवी सन् के पूर्व पाँचवी शताब्दी से लेकर ईसवी सन् की ५ वीं शताब्दी तक के विस्तृत काल-व्यवधान में हुआ।[5] त्याग, वैराग्य और संयम का उपदेश देने के उद्देश्य से लिखे गए इन आगमों में कृष्ण-चरित का ग्रहण केवल उपमा या दृष्टान्त के लिए हुआ, इसलिए उसका पूरा विस्तार नहीं आ सका है। "पउमचरिय" के रचयिता विमल सूरि के विषय में प्रसिद्ध है कि रामचरित की भाँति उन्होंने कृष्ण चरित पर भी काव्य लिखा था।[6] कुवलयमाला के कर्ता उद्योतन सूरि (वि० स० ८३५) की एक श्लिष्ट उक्ति से भी इस बात का कुछ प्रमाण मिलता है। कुवलयमाला में कवि जिस तरह रविषेण के "पद्मचरित" और जटासिंह नंदी के "वरांगचरित" की स्तुति की है उसी तरह हरिवंश की भी। उद्योतन सूरि ने लिखा है कि मैं सहस्रों बुधजनों के प्रिय हरिवंशोत्पत्तिकारक,

---

१—श्रीमती वीणापाणि, पृ० ८०।

२—आर० डेविड्स, बुद्धिस्ट इंडिया, पृ० ८०।

३—आर० जी० भण्डार, वैष्णविज्म, शैविज्म, एंड दी माइनर रिलीजस सिस्टम्स, १९१३, पृ० ३८।

४—घट जातक, जर्नल आव द गुजरात रिसर्च सोसाइटी, वर्ष १८, सं० ४, अक्टूबर १९५६।

५—प्राकृत साहित्य का इतिहास, ३३, ७४, ८८, तथा १७४।

६—वही, पृ० ५३४।

प्रथम वंदनीय और विमल पद हरिवंश की वंदना करता हूँ।[1] यहाँ श्लेष से विमलपद के (विमल सूरि के चरण और विमल हैं पद जिसके ऐसा हरिवंश) दो अर्थ घटित होते हैं। विमल सूरि का यह हरिवंश अभी तक अप्राप्य है। इसके मिलने पर जैन हरिवंश के मूलाधार का निर्णय सरल हो सकता है। हम पहले कह आए हैं कि संभव है कि स्वयंभू की कृष्णकथा का आधार विमल सूरि का "हरिवंश चरिय" ही हो।[2]

जैन सम्प्रदाय में रविषेण के पद्मपुराण की भाँति जिनसेन के हरिवंश पुराण की बड़ी महत्ता है। कवि के कथनानुसार हरिवंश पुराण का प्रणयन वि० स० ८४१ (श० स० ७०५) में आरम्भ हुआ था।[3] किन्तु हरिवंश पुराण को स्वयंभू के "रिट्ठणेमिचरिउ" का अग्रगामी मानने में, जैसा कि प्रेमी ने संकेत किया है, एक बड़ी बाधा यह है कि स्वयंभू ने अन्य कवियों की तरह जिनसेन का ऋण कहीं भी स्वीकार नहीं किया है। प्रेमी का निष्कर्ष है कि "इससे यही अनुमान होता है कि स्वयंभू दोनों जिनसेनों (हरिवंश पुराण कर्ता जिनसेन और आदि पुराण कर्ता जिनसेन) से कुछ पहले हो चुके होंगे।"[4]

यदि जिनसेन स्वयंभू के पहले नहीं हुए तो फिर स्वयंभू के कृष्णचरित के लिए हिन्दू और बौद्ध स्रोतों से उपलब्ध सामग्री के अतिरिक्त ऊपर-कथित जैन-आगम-ग्रन्थों का ही सहारा शेष रह जाता है। विमल सूरि का 'हरिवंश चरिय' अनुपलब्ध होने के कारण उसके विषय में इस समय कहना ही व्यर्थ है।

नीचे पहले हिन्दू कृष्ण-कथा का, फिर बौद्ध कृष्ण-कथा का सारांश दिया जाता है। तत्पश्चात् जैन-परम्परा में प्राप्त कृष्ण-कथा का पूर्वोक्त कथा रूपों से साम्य-वैषम्य दिखाते हुए स्वयंभू द्वारा गृहीत रूप का वर्णन किया जायगा।

हिन्दू मतानुसार भार से पीडित वसुन्धरा का क्लेश दूर करने के लिए ब्रह्मा के परामर्श पर विष्णु वसुदेव के घर कृष्ण रूप में अवतरित हुए। नारद द्वारा सावधान किए गए कंस ने कृष्ण को जन्मते ही विनष्ट कर देने का हर संभव प्रयत्न किया, पर उसकी एक न चली। कंस की कारा से निकल कर कृष्ण अपने बड़े भाई बलराम के साथ, ब्रज में नन्द-यशोदा के घर में, पलकर बड़े होने लगे। यहीं पर कृष्ण के बाल-पराक्रम से सम्बन्धित शकट-भंजन पूतना-वध, उलूक-बंधन, यमलार्जुन-भग की घटनाएँ हुई। फिर अपने शरीर से भेड़ियों की उत्पत्ति की लीला करके उन्होंने भेड़ियों के दर्शन से ब्रजवासियों को भयभीत किया जिसके परिणाम स्वरूप वे कृष्ण के साथ वृन्दावन में आकर निवास करने लगे जहाँ गायों के लिए नन्दन-सदृश कानन थे। यहाँ के निवासकाल में कृष्ण द्वारा यमुना के कालियदह के दर्शन, कालिय नाग के दमन के वृतान्त घटित हुए। बलराम ने धेनुकासुर प्रलम्बासुर का वध किया फिर गिरियज्ञ का आरम्भ हुआ। कृष्ण ने गोवर्धन को धारण किया। परिणामतः इन्द्र द्वारा गोविन्द

१—बुहअण सहस्स वइयं हरिवंसुप्पत्तिकारयं पढमं।
वंदामि वंदियं पिहु हरिवंसं चेव विमलपयं ॥३८॥

२—देखिये पीछे पृ० ६४। इस सम्बन्ध में "पउमचरिय" भाग १ (प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी वाराणसी, १९६२) अंग्रेजी प्रस्तावना पृ० १७–१८ भी द्रष्टव्य है।

३—हरिवंश पुराण : सर्ग ६६, श्लोक ५२–५३।

४—प्रेमी, पृष्ठ २१६।

पद पर अभिषिक्त होकर वे गोपियों के साथ क्रीड़ा करने लगे। कुछ कालोपरान्त उनके द्वारा अरिष्टासुर का वध हुआ।

श्रीकृष्ण में विष्णु के अतवार का निश्चय हो जाने पर कंस ने कृष्ण-बलराम को बुलाकर मथुरा लाने के लिए अक्रूर को वृन्दावन भेजा। मथुरा जाने के पूर्व कृष्ण ने कंस-प्रेरित केशी दैत्य का नाश कर 'केशव' नाम धारण किया। फिर मथुरा की राज-सभा के द्वार पर कुवलयापीड हाथी का काम तमाम किया। कंस की रंगशाला में प्रविष्ठ होकर उन्होंने चाणूर और मुष्टिक नामक मल्लों का प्राणान्त किया और तत्पश्चात् कंस को काल के गाल में भेज दिया।

पुनः कंस के पिता उग्रसेन को कारागृह से निकाल उसका अभिषेक करने के बाद दोनों भाई गुरु सान्दीपनि के यहाँ विद्यार्जन करने चले गए।

गुरु-गृह से मथुरा लौटने पर कृष्ण-बलराम को राजगृह के स्वामी जरासंध के आक्रमण का सामना करना पड़ा जो अपने जामातृ-हंता कृष्ण से प्रतिशोध के लिए मथुरा पर चढ़ आया था। एक बार हारकर लौटने के बाद जरासंध ने दूसरी बार आक्रमण किया तो नीतिकुशल विकद्रु का परामर्श स्वीकार कर कृष्ण-बलराम ने मथुरा का परित्याग कर दिया। दक्षिण-गमन कर वे करवीरपुर पहुँचे जहाँ उनकी भेंट भृगुनन्दन परशुराम से हुई। उनके परामर्श पर वे गोमन्त पर्वत पर गये और वहाँ गरुड़ से वैष्णव मुकुट प्राप्त किया। जब शिशुपाल की सम्मति से जरासंध ने गोमन्त पर्वत में आग लगादी तो जलते हुए पर्वत से दोनों भाई शत्रु की सेना में कूद पड़े और उसे नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। जरासंध प्राण बचाकर भाग निकला।

करवीरपुर से कृष्ण-बलराम मथुरा लौटे। फिर वे रुक्मिणी-स्वयंवर में भाग लेने के लिए कुंडिनपुर गए जहाँ इन्द्र के आदेश से सब राजाओं ने राजेन्द्र-पद पर उनका अभिषेक किया। रुक्मिणी के पिता भीष्मक के अनुरोध पर स्वयंवर में भाग लिए बिना ही कृष्ण मथुरा लौट आए। गार्ग्यनन्दन कालयवन द्वारा, जो कृष्ण के लिये अवध्य था, मथुरा पर आक्रमण की तैयारी का समाचार सुन कृष्ण ने यादवों के साथ मथुरा का त्याग कर द्वारिकापुरी के लिए प्रस्थान किया। मार्ग में उन्होंने महाराज मुचुकुन्द द्वारा दर्पान्ध कालयवन का वध कराया।[1] समुद्र तट पर विश्वकर्मा द्वारा द्वारकापुरी का निर्माण हो जाने पर श्रीकृष्ण अपने कुटुम्बियों और सहायकों के साथ वहाँ रहने लगे।

इसके पश्चात् शिशुपाल-जरासंध की योजना पर पानी फेरते हुए कृष्ण द्वारा रुक्मिणी-हरण की घटना हुई।[2] द्वारकापुरी में आकर रुक्मिण-परिणय के साथ श्रीकृष्ण ने आठ अन्य पटरानियों का पाणिग्रहण किया। फिर इन्द्र के अनुरोध पर वे सत्यभामा सहित प्राग्ज्योतिषपुर गये और वहाँ मुरु, निसुन्द, हयग्रीव, विरुपाक्ष, पंचनाद, नरकासुर आदि दैत्यों का वध किया। नरकासुर के भवन से १६ हजार राजकुमारियों को मुक्त कर उन्हें द्वारका भेजा और स्वयं भी देवलोक से पारिजात वृक्ष लेते हुए द्वारका लौटे।

तदुपरान्त षट्पुरवासी असुरों के वध, अंधकासुर-संहार, श्रीकृष्ण की समुद्र-यात्रा और जल-क्रीड़ा, श्री हरि की इच्छा से छालिक्य गन्धर्व के भूतल पर आनयन, भानु-पुत्री भानुमती

१—हरि०, २, ५७, ४३-४५।
२—हरि०, २, ५६-६०।

के हरण, शम्बासुर-वध, धन्योपाख्यान एवं बाणासुर-संहार की घटनाएं हुईं। तदन्तर श्रीकृष्ण की कैलास यात्रा, पौंड्रक-वध तथा हंस और डिमक के मारे जाने के प्रसंग घटित हुए।

हरिवंश में कृष्ण के मानव देह-त्याग का वर्णन नहीं है। कृष्ण के पराक्रमों से पृथ्वी पर शान्ति स्थापित हो जाने पर भावी घटना के रूप में द्वारका के विनाश की ओर नारद द्वारा संकेत मात्र मिलता है।[1] हरिवंश और पुराणों में कृष्ण के चरित का वह अंश भी नहीं मिलता जिसका सम्बन्ध महाभारत की आधिकारिक कथा, कौरव-पांडव-युद्ध, से है।

घट जातक के अनुसार बौद्ध कृष्ण-कथा का रूप इस प्रकार है। उत्तरापथ के कंस प्रदेश के असितांजन नगर के राजा महाकंस की तीन सन्तानों में कंस और उपकंस दो पुत्र थे और देवगर्भा एक पुत्री थी। देवगर्भा के जन्म पर भविष्यवेत्ता ब्राह्मणों ने कहा था कि उसके गर्भ से जो पुत्र होगा वह कंस-प्रदेश और कंस-वंश का नाश करेगा। महाकंस की मृत्यु के पश्चात् जब कंस राजा बना और उपकंस युवराज हुआ तो उन्होंने कुल का नाश बचाने के लिए बहिन को आजीवन कुमारी रखने का निर्णय किया और एक दण्डीय प्रासाद बनाकर उसमें देवगर्भा को अकेली रख दिया। दासी नन्दगोपा को उसकी परिचारिका तथा नन्दगोपा के पति अन्धकवृष्णि को एकदण्डीय प्रासाद का रक्षक नियुक्त किया गया।

इसी समय उत्तर मथुरा में महासागर राजा राज्य करता था जिसके सागर और उपसागर दो पुत्र थे। उपसागर और उपकंस में बड़ी मित्रता थी। जब सागर मथुरा का राजा बना तब उसकी अकृपा का भाजन बनने के कारण उपसागर को मथुरा त्याग कर अपने मित्र उपकंस की शरण में जाना पड़ा। वहाँ वह राज्य सेवा में रख लिया गया। क्रमशः उसकी दृष्टि एक-दण्डीय प्रासाद पर गई और दासी नन्दगोपा के द्वारा उसे उसकी एकान्तवासिनी देवगर्भा के विषय में ज्ञात हुआ। उपसागर को देवगर्भा के प्रति एकाएक अनुराग होगया। देवगर्भा ने उपसागर को भाई के साथ आते-जाते राजमार्ग में देखा तो वह भी उपसागर पर अनुरक्त हो गई। फिर तो नन्दगोपा की सहायता से दोनों प्रेमियों का गुप्त-मिलन और सहवास होने लगा। यह रहस्य तब प्रकट हुआ जब देवगर्भा गर्भवती हुई। विवश होकर भाइयों ने देवगर्भा का विवाह उप सागर से कर दिया। साथ ही उन्होंने निर्णय किया कि अगर उसे पुत्री प्राप्त हो तो भले ही जीवित रहे लेकिन अगर पुत्र प्राप्त हुआ तो उसका वध कर दिया जायगा।

समय पर देवगर्भा को पुत्री प्राप्त हुई। भाइयों ने उत्सव मनाकर उसका नाम अंजनादेवी रखा। बहिन-बहनोई के भरण-पोषण के लिए उन्होंने गोवर्धमान नाम का गाँव उन्हें दिया और उपसागर के साथ देवगर्भा वहाँ रहने लगी।

देवगर्भा फिर गर्भवती हुई, दैव योग से उसी समय नन्दगोपा भी गर्भवती बनी। जिस दिन देवगर्भा को पुत्रोत्पत्ति हुई उसी दिन नन्दगोपा ने पुत्री प्रसव किया। भाई पुत्र का वध करेंगे, इस डर से देवगर्भा ने अज्ञातरूप से अपना पुत्र नन्दगोपा को देकर उसकी पुत्री ले ली। इस तरह देवगर्भा को दस पुत्र हुए और नन्दगोपा को दस पुत्रियाँ हुईं। दोनों में अज्ञात-रूप में अदल-बदल होता रहा। देवगर्भा के सबसे बड़े पुत्र का नाम वासुदेव था। अन्य पुत्र बलदेव, चन्द्रदेव, सूर्यदेव, अग्निदेव, वरुणदेव, अर्जुन, प्रार्जुन, घृत पंडित तथा अंकुर थे। दासी-पुत्र के नाम से ये पुत्र बढ़ने लगे।

१—हरि०, २, १०२।

बड़े होकर दसों भाई बड़े दृढ़-चित्त और स्वच्छन्द निकले और चारों ओर लूट-पाट करने लगे। प्रजा ने उनके उत्पात से तंग आकर राजा से निवेदन किया। एक दिन उन्होंने राजकोष लूट लिया। अंधकवृष्णि राजा के सामने प्रस्तुत किया गया। प्राण संकट में जानकर अंधकवृष्णि ने राजा से अभयवचन प्राप्त किया और सारा सत्य प्रकट कर दिया। अब कंस-उपकंस को अपने प्राणों और कुल की घोर चिन्ता हुई। अमात्यों की मंत्रणा से दसों भाइयों को पकड़ कर मार डालने का षड्यंत्र रचा गया। चाणूर और मुष्टिक नामक मल्लों से मल्लयुद्ध करने के लिए उन्हें चुनौती भेजी गई। दसों भाई अखाड़े में प्रविष्ठ हुए और देखते-देखते बलदेव ने दोनों मल्लों का काम तमाम कर दिया। कंस ने उन्हें पकड़ने की आज्ञा दी। उसी क्षण वासुदेव ने उसकी ओर अपना चक्र प्रेरित किया और राजा तथा उसके भाई का सिर धड़ से अलग हो गया। दर्शक-प्रजा वासुदेव के चरणों पर गिर पड़ी और उसने उन्हें अपना रक्षक घोषित किया।

इस तरह दसों भाई मामा के राज्य असितांजनगर के अधिपति बन गए। इसके बाद वे जम्बूद्वीप की दिग्विजय के लिए निकले। अयोध्या के राजा कालसेन को विजित कर वे द्वारावती नगरी पहुँचे। वहाँ उन्हें एक अपूर्व चमत्कार दिखाई पड़ा—ज्योंही वे द्वारावती पर आक्रमण करते वह नगरी अदृश्य हो जाती, उनके लौटते ही वह यथापूर्व दृश्यमान होने लगती। अन्त में निराश होकर दसों भाई निकटस्थ कृष्ण द्वैपायन मुनि के पास गए और सहायता की याचना की। मुनि ने चमत्कार का रहस्य बताते हुए उन्हें द्वारावती के रक्षक गर्दभ भेषधारी यक्ष के पास भेजा और उसकी अनुकम्पा से युक्ति सीखकर वे द्वारावती पर अधिकार करने में सफल हुए।

समस्त जम्बूद्वीप को अधिकृत कर दसों भाइयों ने उसे दस भागो में बाँट दिया और एक-एक भाग पर राज्य करते हुए वे द्वारावती में रहने लगे। बाद में अंकुर ने अपना भाग बहिन को सौंप दिया और वह स्वयं व्यापार में लग गया।

महाराज वासुदेव के बड़े पुत्र की मृत्यु हुई तो वह पुत्र-शोक में उन्माद को प्राप्त होकर रात-दिन उसके पलंग का पावा पकड़कर बैठे रहने लगे। उन्हें स्वस्थ चित्त बनाने के सारे प्रयत्न विफल हो गए। तब घृत पंडित ने भाई का शोक दूर करने के लिए एक युक्ति सोची। वह स्वयं पागल बन बैठा और चन्द्रमा के खरगोश की रट लगाने लगा। वासुदेव बाहर निकले और भाई से बोले—अप्राप्य की आशा क्यों करते हो ? घृत पंडित ने कहा—मैं तो उस वस्तु को माँग रहा हूँ जो दृष्टि से दिखाई पड़ रही है। तुम तो उस वस्तु के लिए शोक-मग्न हो जिसका नाम-निशान भी नहीं रह गया है। भाई की उक्ति सुनते ही वासुदेव का शोक दूर हो गया।

एक बार पुत्र-प्राप्ति के विचार से वासुदेव आदि दसों भाई कृष्ण द्वैपायन मुनि की दृव्यदृष्टि की परीक्षा के लिये गए। वे साथ में एक छोटे लड़के को, उसका गर्भवती स्त्री का सा पेट बनाकर, ले गए और मुनि से बोले—इसे पुत्र होगा या पुत्री ? राज-पुरुषों की दुष्टता से कुपित होकर मुनि ने कहा—इस व्यक्ति को आज से ७ वें दिन लकड़ी की एक गाँठ पैदा होगी और उससे समस्त वासुदेव-वंश का नाश हो जायगा। मुनि की वाणी से क्रुद्ध होकर कुमारों ने उसके गले में रस्सी का फंदा डालकर उसे मार डाला।

'सगर्भ' लड़के की देखरेख की जाने लगी। ७ वें दिन उसके पेट से एक गाँठ निकली तो उसे तुरन्त जला दिया गया और राख को नदी में बहा दिया गया। प्रवाहित होती हुई राख नदी के मुहाने पर फैल गई। थोड़े दिनों में वहाँ कुछ झाड़ियाँ उग आईं। एक दिन सब भाई

अन्य यदुवंशियों के साथ जलक्रीड़ा के लिए नदी के मुख के पास गए। खान-पान की व्यवस्था हुई। फिर नशे में चूर होकर वे एक दूसरे से कलह पर उतर आए। आस-पास की झाड़ियों से लकड़ियाँ तोड़कर एक दूसरे पर प्रहार करने लगे। एक ने राख से उत्पन्न हुई झाड़ी में हाथ लगाया तो उसके हाथ में एक पान आया जो देखने-देखते एक मुंगरी बन गया। यह देखकर सबने यही किया और हर एक के हाथ में एक मुंगरी हो गई। फिर आमने-सामने मुंगरियाँ चलने लगीं और एक-एक करके सब धराशायी हो गए। केवल वासुदेव, बलदेव, अंजना और राजपुरोहित बच गए। वे रथ में बैठकर भाग निकले।

कालमृत्तिका अटवी में पहुँचने पर उनका सामना एक गंधर्व से हुआ जो पूर्व-जन्म में मुष्टिक मल्ल था और बलदेव से अपने वैर का बदला लेने के लिए गन्धर्व बनकर यहाँ उपस्थित था। उसके युद्ध का आह्वान सुन ज्योंही बलदेव उसकी ओर बढ़े उसने उन्हें कन्द-मूल की तरह खा डाला।

भाई को खोकर वासुदेव अंजना और राज पुरोहित के साथ आगे बढ़े। द्वारावती की सीमा पर पहुँच कर वे एक झाड़ी के नीचे विश्राम करने लगे और अंजना तथा राजपुरोहित को गाँव से कुछ खाद्यान्न लाने के लिए भेज दिया। इतने में जरा नामक पारधी ने दूर से झाड़ी को हिलती देखकर वन्य पशु के भ्रम से भाला फेंका जिससे वासुदेव का पदतल बिंध गया। उनकी आर्त्तवाणी सुनकर जरा उनके सामने प्रकट हुआ और पश्चाताप करने लगा। वासुदेव ने उसे समझाया—पछताने की कोई बात नहीं है। मेरे पूर्वज कहते थे कि जरा से बिंध कर मेरी मृत्यु होगी।

इतने में अंजना और राज पुरोहित गाँव से लौटे। वासुदेव ने उन्हें एक विद्या सिखाई और फिर उनका प्राणान्त हो गया।

इस प्रकार वासुदेव के कुल में अंजना के अतिरिक्त सब का नाश हो गया।

जैन सम्प्रदाय में प्रचलित कृष्ण-कथा का रूप इस प्रकार है। हरिवंश की दीर्घ सतति-परम्परा में यदु नाम का प्रतापी राजा हुआ जिसके कारण वह यदुवंश कहलाने लगा। उसी वंश में अंधकवृष्णि और नरवृष्णि दो भाई हुए। अंधक की रानी सुभद्रा से समुद्र विजय, वसुदेव आदि दस भाई उत्पन्न हुए। नरवृष्टि की रानी पद्मावती से तीन पुत्र, उग्रसेन, देवसेन, महासेन और एक पुत्री गान्धारी की उत्पत्ति हुई।

अंधकवृष्णि के तपश्चरण के लिए राज्य-त्याग करने पर समुद्रविजय राजा बना। उसने अपने आठ छोटे भाइयों के विवाह किए। पर वसुदेव की अपूर्व सुन्दरता उसके लिए एक समस्या बन गई। जब वे नगर में क्रीडार्थ निकलते तो नगर की स्त्रियाँ उन्हें देख काम से विह्वल हो उठती थीं। नगर के प्रतिष्ठित लोगों ने राजा से शिकायत की। समुद्रविजय ने भाई के बहिर्गमन पर प्रतिबन्ध लगा दिये। निपुणमति से स्थिति का परिचय प्राप्त कर वसुदेव ने रात्रि के अन्धकार में गृह-त्याग कर दिया। श्मशान में जाकर उन्होंने अग्नि-प्रवेश का छद्म-अभिनय किया और अपनी मृत्यु का समाचार प्रचारित कर वे शीघ्रगामी घोड़े पर सवार होकर वहाँ से अन्यत्र चल दिये।

गुप्त रूप में परिभ्रमण करते हुए वसुदेव ने अनेक देशों में जाकर गन्धर्व सेना, नील-यशा, सोमश्री, वनमाला, कपिला, वेगवती, मदनवेगा, प्रियंग सुन्दरी, बन्धुमती, प्रभावती आदि कितनी

ही विद्याधर और भूमिगोचरी कन्याओं का प्रेम प्राप्त कर उनसे विवाह किए। अन्त में वे अरिष्टपुर नगर पहुँचे और वहाँ के राजा रुधिर की पुत्री रोहिणी के स्वयंवर में वेश बदल कर भाग लिया। रोहिणी ने वसुदेव के गले में माला डाल दी। इस घटना से कुपित होकर अनेक राजा वसुदेव से युद्ध करने को तत्पर हो गए। वसुदेव ने सभी को पराजित किया। अन्त में समुद्रविजय की बारी आई। अपना युद्ध-कौशल दिखाने के बाद वसुदेव ने एक पत्र से युक्त बाण भाई की ओर छोड़ा जिसे ग्रहण कर समुद्रविजय को अपार हर्ष हुआ। चिर-वियुक्त भाई के मिलने से सर्वत्र आनन्द छा गया।

वसुदेव रोहिणी के साथ शौर्यपुर लौटे। कुछ समय के बाद रोहिणी के गर्भ से नौवें बलभद्र का जन्म हुआ। वसुदेव मल्ल विद्या का उपदेश देते हुए शौर्यपुर में रहने लगे।

किसी समय वे कंस आदि शिष्यों के साथ राजगृह गये और जरासंध की घोषणा के अनुसार सिंहपुर के स्वामी सिंहरथ को जीवित पकड़ लाये। जरासंध ने प्रतिज्ञानुसार अपनी कन्या जीवद्यशा उन्हें देनी चाही। परन्तु वसुदेव ने उसे स्वयं ग्रहण न कर कंस को दिलवा दिया। कंस वसुदेव को मथुरा ले आया और अपनी बहिन देवकी का विवाह उनसे कर दिया।

अतिमुक्तक मुनि के द्वारा यह सुनकर कि देवकी-पुत्र कंस को मारेगा, जीवद्यशा को घोर चिन्ता हुई। कंस ने वसुदेव से यह वचन ले लिया कि देवकी का प्रसव उसके घर होगा। क्रम से देवकी ने भाई के घर में तीन युगलों के रूप में छः पुत्र उत्पन्न किए जिन्हें इन्द्र की आज्ञा से नैगम देव सुभद्रिल नगर के सुदृष्टि सेठ के घर पहुँचाता रहा और उसके मृत पुत्रों को देवकी के पास छोड़ता रहा। सेठ के यहाँ छः पुत्रों का लालन-पालन होता रहा। तदन्तर देवकी ने स्वप्नदर्शन पूर्वक कृष्ण को गर्भ में धारण किया। सात मास में भाद्रपद शुक्ला द्वादशी को कृष्ण का जन्म हुआ। वसुदेव उसे गुप्त रूप से अपने विश्वासपात्र नन्दगोप को सौंप आये और उसकी स्त्री यशोदा की पुत्री को ले आये। पता लगने पर कंस ने उस पुत्री की नाक, चपटी कर उसे छोड़ दिया।

श्रीकृष्ण नन्द और यशोदा के यहाँ बढ़ने लगे। निमित्त ज्ञानी के कथन से शंकित हो कंस गुप्तरूप से बढ़ते हुए अपने शत्रु की खोज करने लगा। उधर देवकी उपवास के बहाने यशोदा के घर जाकर कृष्ण की बाल-लीला देख आई। कंस भी कृष्ण की खोज में गोकुल गया, परन्तु माता ने उपाय रचकर कृष्ण को ब्रज भेज दिया। कंस को निराश होकर मथुरा लौटना पड़ा। ब्रज में कृष्ण ने कंस प्रेषित ताडवी पिशाची को मार भगाया और मण्डप निर्माण के लिए शाल्मली वृक्ष के विशाल खंभों को उठाकर अपने बाल-पराक्रम का परिचय दिया। फिर वे ब्रज से गोकुल लौट आए। वहाँ कंस की घोषणा सुनकर वे बलदेव के साथ मथुरा गए और सिंह-वाहिनी नागशय्या रोहण कर, अजितंजय धनुष को प्रत्यंचा से युक्त कर तथा पांचजन्य शंख को दिशाओं को पूरित करने वाले शब्द से अनायास भर कर अपने लोकोत्तर प्रभाव से कंस को संत्रस्त करने के बाद पुनः ब्रज को लौट गए।

तब कंस ने कृष्ण को मारने के लिए एक दूसरा उपाय सोचा। उसने उन्हें मल्लयुद्ध के लिए मथुरा बुलाया। शंकित होकर वसुदेव ने शौर्यपुर से समुद्रविजय आदि नवों भाइयों को इस अवसर पर मथुरा बुला लिया। मथुरा के मार्ग में कृष्ण-बलदेव को कंस के भक्त तीन असुरों का सामना करना पड़ा जिन्होंने क्रमशः नाग, गर्दभ और घोड़े का रूप बना रखा था। नगर

प्रवेश में विघ्न डालते हुए सबके सब मुँह फाड़कर सामने आये, परन्तु कृष्ण ने उन सब को मार भगाया।

नगर-द्वार पर कंस की आज्ञा से कृष्ण-बलदेव पर चम्पक और पादाभार नामक दो हाथी टूट पड़े। उनका काम तमाम कर दोनों भाई नगर में प्रविष्ट हुए। क्रमशः उन्होंने रंगभूमि में पदार्पण किया। कंस की आज्ञा से कृष्ण जब चाणूर से मल्लयुद्ध में लगे थे, मुष्टिक मल्ल ने उन पर पीछे से मुष्टिका-प्रहार करना चाहा। यह देख बलभद्र ने उसके जबड़े और शिर में जोर से मुक्का लगाकर उसे प्राण रहित कर दिया। उधर कृष्ण ने चाणूर मल्ल को दबोच कर निष्प्राण बना दिया। अपने प्रधान मल्लों का विनाश देखकर कंस हाथ में तीक्ष्ण तलवार लेकर उनकी ओर दौड़ा। कृष्ण ने उसकी तलवार छीन ली और उसके केस पकड़कर पृथ्वी पर पटक दिया। फिर उसके कठोर पैरों को खींचकर पत्थर पर पछाड़कर उसे मार डाला।

कंस की क्षुब्ध सेना को तितर-बितर कर कृष्ण अपने पिता के घर गये और वहाँ समुद्रविजय आदि से मिलकर अति प्रसन्न हुए। सुकेतु विद्याधर ने कृष्ण को अपनी पुत्री सत्यभामा दी। जीवयशा के करुण विलाप से द्रवीभूत होकर जरासंध ने यादवों को नष्ट करने के लिए अपने भाई अपराजित को भेजा। उसने यादवों से तीन सौ छियालिस बार युद्ध किया पर अन्त में कृष्ण के बाणों से आहत हो प्राण त्याग दिया।

यादवों द्वारा अपने भाई अपराजित का बध सुन जरासंध प्रतिशोध की भावना से शौर्यपुर की ओर चल पड़ा। यादवों ने मंत्रणा की और युद्ध बचाने के विचार से वे शौर्यपुर त्याग कर पश्चिम दिशा की ओर चल दिये। विन्ध्याचल के वन में एक देवी ने कृत्रिम चिताएँ जलाकर तथा यादवों के नष्ट होने का मिथ्या समाचार सुनकर जरासंध को वापस लौटा दिया।

समुद्रतट पर पहुँचकर कृष्ण ने पंचपरमेष्ठी का ध्यान दिया। इन्द्र की आज्ञा से गौतम-देव ने समुद्र को शीघ्र ही दूर हटा दिया और उस स्थल पर कुबेर ने द्वारकापुरी की रचना कर दी। यादववंशी वहाँ निवास करने लगे।

एकबार नारद द्वारका आये और वे सत्यभामा के व्यवहार से असंतुष्ट हो गये। उन्होंने सत्यभामा का गुमान दूर करने के लिए कुण्डिनपुर की राजकुमारी रुक्मिणी के रूप में कृष्ण के वास्ते एक दूसरी "पटरानी" खोज निकाली और उसका चित्रपट दिखाकर कृष्ण को उस पर अनुरक्त भी कर दिया। कृष्ण कुण्डिनपुर जा पहुँचे और पूर्व-योजना के अनुसार, नागदेव की पूजा के बहाने उद्यान में आई हुई रुक्मिणी का हरण करके चलते बने। युद्ध में उन्होंने शिशुपाल को मार गिराया और रुक्मिणी के भाई रुक्मी को बन्दी बना लिया। द्वारका पहुँच रुक्मिणी के साथ विधिवत् विवाह कर वे सुख से रहने लगे। कुछ कालोपरान्त रुक्मिणी को पुत्रोत्पत्ति हुई। पूर्वभव के बैरी धूमकेतु असुर द्वारा अपहृत होकर कालसंवर विद्याधर द्वारा वह बचा लिया गया और उसकी स्त्री कनकमाला द्वारा पाला गया। उसका नाम प्रद्युम्न रखा गया। जब कनकमाला प्रद्युम्न के प्रति काम से विह्वल हो गई और उसे रिझाने का प्रयत्न करने लगी, तब प्रद्युम्न ने जिनालय में जाकर सागरचन्द्र मुनिराज से इसका रहस्य पूछा। मुनिराज ने प्रद्युम्न को उन दोनों के पूर्वभव बताये। प्रद्युम्न कनकमाला के पूर्वभव की कामेच्छा को अपूर्ण छोड़ किसी प्रकार उसके प्रपंच से बचकर द्वारका पहुँचा। वहाँ तरह-तरह की अद्भुत चेष्टाओं के बाद उसका मिलन माता-पिता से हुआ।

सत्यभामा को भी एक पुत्र की प्राप्ति हुई। उसका नाम भानुकुमार रखा गया। कृष्ण ने जाम्बवती, लक्ष्मणा, सुसीमा, गौरी, पद्मावती और गांधारी नामक कन्याओं का पाणिग्रहण किया। जाम्बवती से शम्ब नाम के पुत्र की उत्पत्ति हुई।

कौरवों के उत्पात से तंग होकर और उनके षड्यन्त्र से प्राण बचाकर पाण्डव वन-वन भटकते रहे। हस्तिनापुर लौटकर वे जुआ में हारे और १२ वर्ष तक अज्ञात वास करने के पश्चात् घर आये। दुर्योधन का बढ़ता हुआ दुर्भाव देखकर उन्हें एक बार फिर हस्तिापुर छोड़ना पड़ा। इस बार वे कृष्ण के यहाँ द्वारका पहुँचे जहाँ यादवों ने उनका बड़ा सत्कार किया।

द्वारका में यादवों के बढ़ते हुए वैभव को सुन जरासंध ने युद्ध की तैयारी के साथ आक्रमण किया। दोनों ओर की सेनाओं का घोर युद्ध हुआ। अन्त में श्री-कृष्ण ने चक्ररत्न से जरासंध का सिर काटकर उसे निष्प्राण कर दिया। तत्पश्चात् वे दिग्विजय के लिए निकल पड़े। मागध देवों को हराकर उन्होंने विजयार्ध-स्थित म्लेच्छ राजाओं आदि को विजित किया। तत्पश्चात् वे नारायण रूप में प्रसिद्ध हुए।

एकबार श्रीकृष्ण की सभा में उनके पितृव्य समुद्रविजय के पुत्र नेमिकुमार गये। प्रसंग-वश दोनों भाइयों के बल की परीक्षा हुई और कृष्ण नेमिनाथ के बल से परास्त हो गये। उन्हें शंका हुई कि कहीं राज्य न चला जाय। नेमिनाथ के विवाह के लिये उनकी स्वीकृति पाकर श्रीकृष्ण ने भोजवंशियों की कुमारी राजमती को उनकी वधू के रूप में निश्चित किया। किन्तु राजमार्ग पर जाते हुए नेमिनाथ ने जब विवाहोत्सव में वध के लिये लाये गये नाना जाति के पशु देखे तो उनका हृदय प्राणिदया से सराबोर हो गया। अवधिज्ञान से उन्हें इसके कारण का पता लग गया। वैराग्य धारण कर वे सहस्राम् वन में तपश्चर्या में लीन हो गये। आश्विन शुक्ल १, चित्रा नक्षत्र में उन्हें केवल ज्ञान हुआ। अन्त में वे द्वारावती में आकर रेवतक गिरि के उद्यान में विराजमान हो गये। एक-एक करके कृष्ण, देवकी, बलदेव, सत्यभामा आदि ने उनसे प्रश्न किये और उन्होंने सबके भवान्तरों का वर्णन किया।

बलदेव ने स्वामी नेमिनाथ से कृष्ण की आयु के बारे में पूछा। नेमिनाथ ने बताया कि १२ वर्ष बाद मदिरा निमित्त से द्वैपायन मुनि के द्वारा द्वारावती का नाश हो जायगा। जरत्कुमार कृष्ण की मृत्यु का कारण बनेगा।

कृष्ण के प्रयत्न करने पर भी होनहार होकर रहा और द्वैपायन मुनि के क्रोध से द्वारावती भस्मीभूत हो गई। कृष्ण और बलदेव भ्रमण करते-करते कौशाम्ब वन में पहुँचे। वहाँ कृष्ण को प्यास लगी। बलदेव पानी के लिए गये और कृष्ण पीताम्बर ओढ़कर लेट गये। इसी समय धोखे से जरत्कुमार के बाण से उनके पदतल में चोट लगी और उनकी मृत्यु हो गई। लौटकर बलदेव ने भाई की दशा देखी तो वह शोक-विह्वल हो गये। ६ मास तक कृष्ण का शव लेकर घूमते रहे। अन्त में सिद्धार्थदेव के सम्बोधन से उनका दुख दूर हुआ और वह नेमिनाथ भगवान से परीक्षा दीक्षा लेकर तप करने लगे। १०० वर्ष के तप के बाद वह ब्रह्म स्वर्ग में देव हुए। पूर्व स्नेह से प्रेरित हो बलदेव के जीव ने नरकस्थित कृष्ण-उद्धार का प्रयत्न किया पर तब तक उनका कर्म-फल पूरा नहीं हुआ था।

जरत्कुमार से यादव वंश की परम्परा चली।

तीनों धर्मों में प्रचलित कृष्ण के कथा-रूपों के तुलनात्मक-अध्ययन से उनमें न्यूनाधिक महत्व के कई अन्तर प्रकट होंगे। इनमें व्यक्तियों और स्थानों के नामों का अन्तर भी सम्मिलित है। बौद्ध कथा में कृष्ण के लिए सर्वत्र एक ही नाम, वासुदेव का प्रयोग है जबकि जैन रूप में हिन्दू-कथा की भाँति, वासुदेव के अतिरिक्त कृष्ण नारायण, केशव, माधव आदि नामों का प्रयोग बराबर मिलता है। बौद्ध कथा में वासुदेव के पिता का नाम उपसागर और माता का नाम देवगर्भा है। जैन कथा में, हिन्दू कथा के अनुकरण पर, कृष्ण के पिता का नाम वसुदेव और माता का देवकी है। बौद्ध कथा में वासुदेव के पालक माता-पिता नन्दगोपा और अन्धकवृष्णि हैं जबकि हिन्दू और जैन-परम्परा में समानरूप से उनका नाम यशोदा तथा नन्द है।

कंस को ब्याही गई जरासंध की पुत्री का नाम जैन कथा में जीवयशा है। हिन्दू कृष्ण-कथा में जरासंध की दो पुत्रियाँ कंस को ब्याही गई हैं और उनका नाम अस्ति और प्राप्ति है। बौद्ध कथा-रूप में जरासंध-प्रसंग है ही नहीं।

नामों से भी अधिक भिन्नता घटनाओं, प्रसंगों और उपाख्यानों में मिलती है। जैन कथानुसार कृष्ण की वंश-परम्परा, जो काफी लम्बी है, हिन्दुओं से नितान्त भिन्न है। बौद्ध कथा में वंश-परम्परा देने का कोई प्रयत्न नहीं है। कृष्ण के पिता उपसागर से कथा आरम्भ हो जाती है। जैन कथा-रूप की यह एक खास विशेषता है कि कृष्ण-जन्म के पूर्व उनके पिता वसुदेव के सौन्दर्य-प्रभाव, परिभ्रमण तथा अनेकानेक विवाहों का वृतान्त बड़े विस्तार से दिया गया है।

कृष्ण जन्म की तिथियाँ और परिस्थितियाँ तीनों धर्मों में किंचित् भिन्न हैं। घट जातक में कृष्ण के जन्म की तिथि नहीं दी गई है। पहले गुप्त रूप से प्रेम-सूत्र में तथा बाद में प्रकट रूप से विवाह-सूत्र में बँधे हुए दम्पति—देवगर्भा और उपसागर—की १२ सन्तानों में कृष्ण दूसरी सन्तान हैं। पहली पुत्री है, शेष दस पुत्रों में उनका प्रथम स्थान है। हिन्दू मान्यतानुसार कृष्ण भाद्रपद कृष्णाष्टमी को देवकी के गर्भ से अवतरित होते हैं। वह वसुदेव-देवकी की आठवीं सन्तान हैं। जैन धर्मानुसार कृष्ण का जन्म भाद्रपद शुक्ला द्वादशी को होता है। वह अपने माता-पिता की सातवीं सन्तान हैं। हिन्दुओं के लिए वह विष्णु के अवतार हैं, बौद्धों के लिए एक बोधिसत्व हैं, जैनों के लिए नवें वासुदेव हैं।

कंस से कृष्ण की रक्षा की व्यवस्था तीनों धर्मों में लगभग समान है—तीनों में कन्या कृष्ण का स्थान ग्रहण करती है। बौद्ध धर्म में कंस इस कन्या को बिलकुल निरापद छोड़ देता है। हिन्दू धर्म में कंस उसे शिला पर पटक कर मारने का प्रयत्न करता है और आकाशगामिनी उस कन्या रूपिणी देवी से अपनी मृत्यु की भविष्यवाणी सुनता है। जैन धर्म में कंस कन्या की नाक चपटी करके छोड़ देता है।

शकट-भंजन, यमलार्जुन-भंजन आदि घटनाएँ हिन्दू-कथा में या तो कृष्ण की अद्भुत लीला या उनके बाल-पराक्रम के उदाहरण रूप में प्रदर्शित हैं, उनका कृष्ण को मारने के लिए कंस के उपायों से कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु जैन कथानुसार ये कंस द्वारा कृष्ण के संहार के प्रयत्न हैं। पूर्वभव में कंस ने सात देवियाँ सिद्ध की थी। वे ही देवियाँ कंस के आदेश पर शकट, क्रूर पक्षी, यमल, अर्जुन, पूतना, वृषभ और तीव्र वर्षा का रूप धारण कर कृष्ण के विनाश का

प्रयत्न करती हैं।[1] अंतिम घटना में उस हिन्दू कथा का जैन रूप चित्रित है जिसमें इन्द्र-कोप के परिणामस्वरूप अजस्र वर्षा से व्रजवासियों के रक्षार्थ कृष्ण गोवर्धन पर्वत धारण करते हैं।

जैन कृष्ण कथा में देवकी पुत्र को देखने के लिए मथुरा से गोकुल जाती हैं।[2] जैन-कथा में यह भी एक नवीन उद्‌भावना है कि देवियों के प्रयत्नों के विफल होने पर कंस कृष्ण की खोज में स्वयं गोकुल जाता है। पर माता यशोदा, इसकी गंध लगने पर, किसी बहाने कृष्ण-बलराम को व्रज भेज देती हैं जहाँ कृष्ण ताडवी राक्षसी का वध करते हैं।

कंस की घोषणा पर कृष्ण का नागशैया पर चढ़कर अजितंजय धनुष की प्रत्यंचा चढ़ाना और पांचजन्य शंक फूंकना भी जैन कृष्ण कथा की अपनी विशेषता है। नागशैया की कल्पना हिन्दू-कथा की कालियनाग-पराजय से अनुप्रेरित प्रतीत होती है।

जैन कथा में ऐसा उल्लेख है[3] कि जब कंस ने कृष्ण-बलराम को गोकुल से मथुरा बुलाया तो उसकी नियत के प्रति आशंका से भरकर वसुदेव ने शौर्यपुर से समुद्रविजय आदि यादवों को मथुरा बुला लिया। हिन्दू-कथा में न तो वसुदेव के समुद्रविजय आदि भाइयों का प्रसंग है और न उनके इस प्रकार के बुलाये जाने का।

मल्लयुद्ध के लिए कंस द्वारा आहूत होने पर कृष्ण-बलदेव जब अखाड़े के लिए चलते हैं तो, घट-जातक के अनुसार आते-आते वे एक रक्षक का घर लूट कर रंगीन कपड़े पहन लेते हैं, एक अत्तार की दूकान लूटकर शरीर में सुगन्ध का लेप कर लेते हैं और एक माली की दूकान लूटकर गजरों से अपने को सुशोभित कर लेते हैं। हिन्दू-कथा में वे एक धोबी का, जो माँगने पर उन्हें रंगीन कपड़े नहीं देता और दुर्विनीत भाव से बोलता है, वध करते हैं, गुणक नामक माली को, जो प्रेमपूर्वक उन्हें मालाएँ समर्पित करता है, वरदान देते हैं, कुब्जा के प्रेमभाव पर रीझ कर उससे अंगराग स्वीकार करते हुए, उसका कुबड़ापन दूर करते हैं और कंस का अत्यन्त समृद्धशाली विशाल धनुष भंग करते हैं।[4] जैन-कथा में कृष्ण-बलदेव के किसी ऐसे काम का उल्लेख नहीं है। उसमें एक दूसरी ही उद्‌भावना है; कंस-भक्त तीन असुर रंगशाला के मार्ग में नाग, गधे और घोड़े का विकराल वेश बनाकर उनको हानि पहुँचाना चाहते हैं, पर दोनों भाई उन्हें मार भगाते हैं।[5]

रंगशाला के द्वार पर हिन्दू कथा के कुवलयापीड की जगह जैन कथानुसार चम्पक और पादाभर नामक दो हाथी दोनों भाइयों पर हूल दिये जाते हैं। बलदेव चम्पक को तथा कृष्ण पादाभर को समाप्त कर रंगभूमि में प्रवेश करते हैं। बौद्ध कथानुसार चाणूर और मुष्टिक नामक कंस के दोनों मल्लों का वध बलराम करते हैं। मरते-मरते मुष्टिक बलराम को बता जाता है कि अपने अगले जन्म में यक्ष बनकर वह बलराम को खायेगा और कथा के अन्त में इसे वह सत्य कर दिखाता है। हिन्दू हरिवंश के अनुसार कृष्ण चाणूर का वध करते हैं और बलराम

१—जिन-हरिवंश पुराण, सर्ग ५३, श्लोक ३८–४८।

२—वही, ३५, ४६।

३—जिन-हरिवंश पुराण ३६, १२–१२।

४—हरिवंश, पर्व २, अध्याय २७।

५—जिन-हरिवंश पुराण, ३६, ३१।

मुष्टिक का। जैन मान्यतानुसार भी चाणूर कृष्ण द्वारा मारा जाता है और मुष्टिक बलराम द्वारा। तीनों कथाओं में मल्लों के मारे जाने की क्रिया भिन्न रूप से वर्णित है। जैन-कथा में जब कृष्ण चाणूर के साथ गुथे होते है तब मुष्टिक पीछे से उन पर प्रहार करना चाहता है। यह देख बलराम उसे एक मुक्के से निष्प्राण कर देते है।

घट-जातक में कंस की मृत्यु कृष्ण के चक्र से उसका सिर कटने के परिणामस्वरूप होती है। हिन्दू और जैन मान्यताओं में इस विषय में लगभग समानता है—कृष्ण कंस का केश पकड़ कर उसे घसीटते हैं और शितातल पर पटक कर उसके प्राण ले लेते हैं।[१]

बौद्ध-कथा में कंस के जन्म का इतिहास नहीं मिलता। केवल इतना ज्ञात होता है कि वह उत्तरापथ के कंस-प्रदेश के स्वामी महाकंस का पुत्र है। हिन्दू कृष्ण-कथा के अनुसार वह उग्रसेन का जारज नहीं, क्षेत्रज पुत्र है। उसकी माता से सुयामुन पर्वत पर दानवराज द्रुमिल ने उग्रसेन का छद्म रूप बनाकर समागम किया जिससे कंस की उत्पत्ति हुई।[२] जिनसेन के हरिवंश पुराण[३] के अनुसार कंस राजा उग्रसेन और पद्मावती का पुत्र है। उसके गर्भ-स्थित होते ही पद्मावती के मन में नर-माँस-भक्षण आदि की क्रूर इच्छाएँ उत्पन्न होने लगीं। अतः पुत्रोत्पती के साथ ही, उसे कुलघाती समझ, काँस की पिटारी में भर कर नाम-मुद्रिका के साथ यमुना में बहा दिया गया। एक कलारिन के हाथ उसका संरक्षण और पालन-पोषण हुआ। बड़ा होकर जब वह अत्यन्त उत्पाती हुआ तब कलारिन ने उसे घर से निर्वासित कर दिया और वह जाकर वसुदेव का शिष्य बन गया। अन्ततः जरासंध की घोषणा पर सिंहरथ को पकड़ लाने के पश्चात् जीवद्यशा के विवाह के प्रश्न पर कंस के राजवंशी होने का भेद प्रकट हुआ। काँस की पिटारी से प्राप्त होने के कारण उसका नाम कंस पड़ा। यह उल्लेखनीय है कि हिन्दू कथा-रूप में वसुदेव और कंस में गुरु-शिष्य सम्बन्ध नहीं मिलता। जैन मान्यातानुसार वसुदेव के उपकारों से अनुगृहीत होकर कंस उन्हें अपनी राजधानी मथुरा ले जाता है और अपनी बहिन देवकी का विवाह उनके साथ करता है।

कंस के निधन से विधवा बनी जीवद्यशा के करुण विलाप से क्रुद्ध होकर जरासंध, जैन-कथा में, कृष्ण से प्रतिशोध लेने के लिए पहले अपने पुत्र कालयवन को भेजता है और उसके मारे जाने पर जरासंध का भाई अपराजित प्रबल सेना के साथ शत्रु पर आक्रमण करता है।[४] हिन्दू कथा में जरासंध स्वयं ही ससैन्य मथुरा पर चढ़ाई करता है और सेना के पराजित होने पर बलराम से गदा-युद्ध करता है और हार कर भाग निकलता है।[५]

जैनकथा में जिस कालयवन को जरासंध का पुत्र कहा गया है वह हिन्दू कथानुसार गार्ग्य महामुनि का पुत्र है जिसे उन्होंने १२ वर्ष के तप और शंकर के वरदान से प्राप्त किया है। वह मथुरा-मंडल में उत्पन्न लोगों द्वारा अवध्य है।[६] जरासंध तथा अन्य कृष्ण-विरोधी

१—हरिवंश, २, ३० तथा जिन-हरिवंश पुराण, ३६, ४५।
२—हरिवंश, २, २८।
३— „ ३३, २३।
४—जिन-हरिवंश पुराण, ३६, ७०–७३।
५—हरिवंश, २, ३६।
६—हरिवंश, २, ५३।

राजाओं के अनुनय पर वह मथुरा के प्रति अभियान करता है और पलायमान कृष्ण की चाल से राजा मुचुकुन्द के कुपित नेत्रों द्वारा भस्मीभूत होता है।[१]

सत्यभामा-रुक्मिणी–नारद-प्रसंग जैन और हिन्दू कथाओं में भिन्नता लिये हुए हैं। हिन्दू हरिवंश में सत्यभामा की रुक्मिणी के प्रति ईर्ष्या का कारण पारिजात-पुष्प है जिसका वृक्ष कृष्ण, नरकासुर के वध के पश्चात् सत्यभामा के साथ स्वर्ग जाकर इन्द्र के उद्यान से उखाड़ कर लाये थे। जिन-हरिवंश में पारिजात-प्रसंग नहीं है। सत्यभामा और रुक्मिणी के परस्पर ईर्ष्यालु होने में नारद की भूमिका दोनों कथाओं में आती है, पर कुछ भिन्नता के साथ। हिन्दू कथानुसार रैवतक पर्वत पर रुक्मिणी के व्रतोद्यान के अवसर पर कृष्ण पारिजात पुष्प देकर रुक्मिणी का सम्मान करते हैं। इस पर नारद सत्यभामा से रुक्मिणी के सर्वाधिक सौभाग्य की प्रशंसा करते हैं जिसे सुनकर सत्यभामा अतिशय ईर्ष्या से भर जाती है और कोप-भवन में चली जाती है। श्रीकृष्ण के मनाने पर उसका मन स्वस्थ होता है और वह खेद प्रकट करती है।[२]

जैन कथा-रूप के अनुसार नारद कृष्ण के अन्तःपुर में जाते हैं किन्तु सत्यभामा अपने शृंगार में लीन होने के कारण उनका स्वागत नहीं करती है। सत्यभामा का मान भंग करने के लिए नारद कुंडिनपुर पहुँचते हैं और राजकुमारी रुक्मिणी को देखकर उसे कृष्ण की पटरानी होने का आशीर्वाद देते हैं। इधर रुक्मिणी कृष्ण पर आसक्त हुई, इधर नारद उसका चित्रपट लेकर कृष्ण के पास पहुँचते हैं और उन्हें रुक्मिणी के प्रति अनुरक्त बनाते हैं। रुक्मिणी की फूफी मध्यस्थ बनती है और कृष्ण को गुप्त पत्र लिखती है। कृष्ण कुंडिनपुर पहुँचते हैं और पूजा के बहाने उद्यान में आई हुई रुक्मिणी का हरण कर उसे द्वारका लाते हैं।[3] रुक्मिणी के विवाहोपरान्त सत्यभामा के मन में उसके प्रति सपत्नीभाव उत्पन्न होता है और वह उस रूपवती को देखने के लिए कृष्ण से आग्रह करती है।[४]

जैनकथा में शिशुपाल का वध रुक्मिणी-हरण के अवसर पर दिखाया गया है[५] जबकि हिन्दू कथा में उसका वध युधिष्ठर के राजसूय यज्ञ के अवसर पर होता है।

जरासंध की सेना जब दूसरी बार मथुरा पर आक्रमण करती है उसके बाद की घटनाक्रम में हिन्दू और जैन कथाओं में अन्तर है। हिन्दू हरिवंश के अनुसार विकद्रु का उपदेश स्वीकार कर कृष्ण-बलराम मथुरा निवासियों को युद्ध के भीषण परिणामों से बचाने के लिए मथुरा-त्याग का निश्चय करते हैं। मथुरा से प्रस्थान कर वे दक्षिण भारत की ओर जाते हैं और मार्ग में परशुराम से भेंट होने पर उनका परामर्श मान कर गोमन्त पर्वत पर चढ़ते हैं। जरासंध द्वारा गोमन्त पर्वत में आग लगाये जाने पर वे शत्रु-सेना पर टूट कर उसका विनाश करते हैं और जरासंध को पलायन के लिए विवश करते हैं। तत्पश्चात् दोनों भाई मथुरा लौट आते हैं। फिर वे रुक्मिणी-स्वयम्बर में जाते हैं जहाँ से उनके वापस आने के बाद कालयवन मथुरा पर आक्रमण

१—वही, २, ५७।
२—वही, २, ६५।
३—जिन-हरिवंश, सर्ग ४२।
४—वही, सर्ग ४३ ४३।
५—जिन-हरिवंश पुराण, ४२, ९४।

करता है। तब कृष्ण अपने सगे-सम्बन्धियों के साथ अन्तिम बार मथुरा का परित्याग करते हैं और समुद्र-तट पर पहुँच कर द्वारका को अपना निवास-स्थान बनाते हैं।[1]

जिन-हरिवंश के अनुसार जब कालयवन और अपराजित मारे जाते हैं तब जरासंध स्वयं शौर्यपुर पर आक्रमण करता है। इस पर यादव परस्पर मंत्रणा करते हैं और वे पश्चिम दिशा की ओर चल पड़ते हैं। जरासंध उनका पीछा करता है। विन्ध्याचल के वन में एक देवी कृत्रिम चिताएँ जलाकर यादवों के नष्ट होने का मिथ्या समाचार फैलाती है और जरासंध को वापस कर देती है।[2] यादवों के समुद्र-तट पर पहुँचने पर कुबेर द्वारकापुरी की रचना करते हैं।

श्रीकृष्ण और रुक्मिणी के पुत्र प्रद्युम्न का आख्यान हिन्दू और जैन धर्मों में कुछ समान होते हुए भी भिन्नता रखता है। जैन मान्यतानुसार प्रद्युम्न को शिशु अवस्था में ही उसके पूर्वभव का वैरी धूमकेतु नामक असुर हर ले जाता है। मेघकूट नगर के राजा कालसंवर विद्याधर द्वारा उसकी रक्षा होती है। कालसंवर की स्त्री कनकमाला प्रद्युम्न के रूप पर आसक्ति अनुभव कर पहले उस से प्रेम करती है और उसके विफल होने पर अपना रूप बिगाड़ कर उस पर बलात्कार का आरोप लगाती है। कालसंवर और उसके पाँच सौ पुत्र प्रद्युम्न के प्राणों के गाहक बन जाते हैं। प्रद्युम्न किसी प्रकार उस प्रेम-जाल से बचकर मार्ग में अद्भुत कृत्य करता हुआ अपने माँ-बाप की नगरी द्वारका पहुँचता है और अनेक मायापूर्ण क्रीड़ाएँ करने के पश्चात् अपना असली रूप प्रकट करता है[3]।

हिन्दू हरिवंश के अनुसार प्रद्युम्न-जन्म के सातवें दिन दैत्यराज शंबरासुर उन्हें हर ले जाता है और पुत्र-रूप में अपनी रूपवती भार्या मायावती के हाथ में देता है। मायावती में पूर्व-काल की स्मृति जाग उठती है कि यह तो पूर्व-जन्म में उसका प्रियतम पति था। वह धाय के हाथ प्रद्युम्न का पालन कराती है और रसायन के प्रयोग से उसे शीघ्र ही बड़ा कर देती है। जब प्रद्युम्न पर मायावती का मन्तव्य प्रकट होता है और उसके मुख से वह अपने अपहरणकर्ता के विषय में सुनता है तो वह अत्यन्त कुपित होकर शंबासुर का युद्ध में आह्वान करता है। युद्ध के मध्य नारद प्रद्युम्न को बताते हैं कि वह पूर्वभव का कामदेव है और मायावती उसकी स्त्री रति है। शंबासुर का संहार कर प्रद्युम्न मायावती से मिलता है और दोनों सानन्द द्वारका लौटते हैं।

जैन-कथा में प्रद्युम्न और उसकी प्रेमिका को पूर्वभव के कामदेव और रति रूप में नहीं ग्रहण किया गया है। दूसरी बात यह है कि जैन-कथा में प्रद्युम्न के द्वारका लौटते ही इस प्रसंग का अन्त हो जाता है। पर हिन्दू कथा में उसके अन्य अनेक पराक्रम पूर्ण कार्य आगे दिखाये गये हैं। उसका विवाह अपने मामा रुक्मी की पुत्री शुभांगी से होता है। पारिजात के लिए जब इन्द्र के विरुद्ध कृष्ण को युद्ध करना पड़ता है[4] तब प्रद्युम्न जयन्त के विरुद्ध मोर्चा सँभालता है। ब्राह्मण ब्रह्मदत्त के युद्ध में जब दैत्यों द्वारा उसकी कन्याओं का हरण होता है[5]

१—हरिवंश, २, ३६-४५

२—जिन-हरिवंश, सर्ग ४०।

३—जिन-हरिवंश पुराण, सर्ग ४७।

४—हरिवंश, २, ७३।

५— वही, २, ८३।

तब प्रद्युम्न माया द्वारा उनकी रक्षा करता है। निकुम्भ राक्षस जब भानुमती का अपहरण करता है तब अन्त में प्रद्युम्न उसका उद्धार कर उसे लेकर द्वारका पहुँचाता है। त्रिलोक-विजय की आकांक्षा रखने वाले असुरराज वज्रनाभ का वध प्रद्युम्न के हाथ से होता है।[1]

जिन-हरिवंश के अनुसार द्वारका में यादवों के बढ़ते हुए वैभव को सुनकर जरासंध युद्ध के लिए फिर उद्यत होता है और इस बार के युद्ध में कृष्ण द्वारा उसका संहार होता है।[2] महाभारत के अनुसार कृष्ण, भीम तथा अर्जुन ब्राह्मण-वेष में राजगृह जाते हैं। यहाँ पर भीम का जरासंध से द्वन्द्व युद्ध होता है तथा जरासंध की मृत्यु होती है। हरिवंश में जरासंध की मृत्यु का वर्णन नहीं मिलता।

जैन और बौद्ध दोनों धर्मों की कृष्ण-कथा में द्वैपायन अथवा कृष्ण द्वैपायन मुनि के क्रोध अथवा अभिशाप से द्वारकापुरी के भस्म होने या यादव-कुल के नष्ट होने की बात कही गई है। बौद्ध कथा में विस्तार कम है। जैन कथा में बलदेव के पूछने पर जिनेन्द्र नेमि बारह वर्ष पश्चात् घटित होने वाले विनाश का पूरा ब्योरा भविष्य वाणी के रूप में दे देते हैं और तदनुरूप ही सब कुछ होता है।[3] हिन्दू-कथा में द्वैपायन के अभिशाप या क्रोध की चर्चा कहीं नहीं है और न द्वारका का नाश या कृष्ण का निधन दिखाया गया है। केवल पूर्व-सूचना के रूप में एक स्थान पर उसका संकेत-मात्र है।[4] जरत्कुमार, जिसके बाण से घायल होकर कृष्ण की मृत्यु होती है, बौद्ध जातक में एक पारधी है जबकि जैन-कथा में वह वसुदेव की रानी जरा से उत्पन्न यदुवंशी राजकुमार और कृष्ण का सौतेला भाई है। बौद्ध कथा में यदुवंशियों की संहार-लीला को कृष्ण द्वैपायन के अभिशाप का प्रतिफल बताना अभिप्रेत है तो जैन कथा का "अभिप्राय" होनहार की अनिवार्यता प्रदर्शित करना है। जरत्कुमार और द्वैपायन के सभी प्रयत्नों और सावधानियों के होते हुए भी द्वारका का दाह और कृष्ण की मृत्यु उन्हीं के निमित्त से हुई।

जैन कथा का हिन्दू कृष्ण-कथा से पार्थक्य सूचित करने वाला सबसे महत्वपूर्ण अंश नेमिचरित है। हिन्दू कथा में कृष्ण सर्वोपरि हैं, जैन कथा में जिनेन्द्र नेमि का स्थान सर्वोच्च है, बाकी सब उनके नीचे हैं। नेमि चरित से सम्बन्धित कृष्ण-वृत्तान्त केवल जैन कृष्ण-कथा की विशेषता है। अतएव हिन्दू कथा से उसकी तुलना का प्रश्न ही नहीं उठता।

हरिवंश तथा पुराणों में वर्णित कृष्ण-कथा में कौरव-पाण्डव-युद्ध के अन्तर्गत कृष्ण की भूमिका का कोई उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु जिन-हरिवंश में कौरव-पाण्डव-विग्रह का संक्षिप्त वर्णन कुछ सर्गों में प्राप्त होता है।[5] यहाँ वास्तविक महाभारत के युद्ध का वर्णन नहीं है, केवल कौरवों के अनीति-पूर्ण व्यवहार का वर्णन पाण्डवों के द्वारका-गमन के प्रसंग में कर दिया गया है।

१— वही, २, ९७।
२—जिन-हरिवंश, सर्ग ५१।
३— वही, सर्ग ६१, ६२।
४—हरिवंश, २, १०२।
५—जिन-हरिवंश पुराण, सर्ग ४५–४७।

यों तो स्वयंभू ने सामान्यता जिन-हरिवंश पुराण की कृष्ण-कथा का अनुगमन किया है, पर स्थान-स्थान पर उन्होंने स्वतंत्रता का परिचय भी दिया है। तीर्थंकरों की प्रशस्ति, वसुदेव-प्रसंग, रोहिणी-वृत्तान्त, कंस-जन्म की कथा, कृष्ण-जन्म, कंस-वध, जरासंध-प्रसंग, द्वारका-निर्माण, नेमि-जन्म, रुक्मिणी-हरण और परिणय, प्रद्युम्न-वृत्तान्त, शंब-सुभानु की कथा आदि में स्वयंभू ने जैन परम्परा में प्रचलित मान्यताओं का पालन किया है। जैन-धर्म के मूल सिद्धान्तों और उपदेशों के विरुद्ध जाने का उनके लिए प्रश्न ही नहीं था क्योंकि "रिट्ठणेमिचरिउ" लिखने में उनका मुख्य उद्देश्य इनका प्रचार करना था न कि किसी रूप में खण्डन। स्वयंभू ने जहाँ अपनी स्वतंत्रता का परिचय दिया है वे स्थल अपेक्षतया कथा-विस्तार से सम्बन्ध रखते हैं, जैन-धर्म की मूल मान्यताओं या धारणाओं से नहीं। उदाहरण के लिए स्वयंभू का कृष्ण नागलीला-प्रसंग जिन-ररिवंश से कुछ भिन्नता लिये हुए और हिन्दू-कृष्ण कथा से मिलता हुआ है।[1] इसी तरह कृष्ण के बाल-पराक्रम के वर्णन में पूतना का प्रसंग जिन-हरिवंश के अनुसार न होकर हरिवंश-पुराण के आधार पर लिखा गया प्रतीत होता है।[2] प्रद्युम्न को जिन-हरिवंस में कामदेव का अवतार नहीं माना गया है जब कि स्वयंभू ने उन्हें कामदेव का अवतार कहकर वर्णित किया है।[3]

जिनसेन ने कौरव-पाण्डव-मनमुटाव और कौरवों के अनीतिपूर्ण व्यवहार का वर्णन तो किया है पर महाभारत के वास्तविक युद्ध का वर्णन उनमें नहीं पाया जाता। इसके विपरीत स्वयंभू ने महाभारत के युद्ध का वर्णन आवश्यकता से कहीं अधिक विस्तार के साथ किया है। रिट्ठणेमिचरिउत का युद्ध-काण्ड, जो संधि ३३ से संधि ८३ तक फैला है समूचे ग्रंथ में सबसे अधिक स्थान घेरता है। उसमें महाभारत के युद्ध की पुनरावृत्ति हो गई है—इस अन्तर के साथ कि जहाँ धर्म-उपदेश या पूजा-पाठ का अवसर आता है वहाँ ये काम जैन धर्मानुसार होते हैं। महाभारत के युद्ध का वर्णन देने में स्वयंभू का जिनसेन से पार्थक्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह कहना कठिन है कि स्वयंभू ने जिनसेन से अलग होकर यहाँ सीधे हिन्दू कृष्ण-कथा का अनुमान किया है या विमलसूरि द्वारा अपनाये गये जैन रूप का। विमलसूरि-कृत हरिवंश पुराण उपलब्ध होता तो इस समस्या के समाधान की संभावना थी।

पूरे रिट्ठणेमिचरिउ को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि यह महाभारत, हरिवंश और नेमिचरित तीनों का एक में मिश्रण है।

१—रिट्ठणेमिचरिउ, संधि ६।
२— वही संधि ५।
३— वही संधि ११।

अध्याय ५.

संस्कृत में प्रबन्ध काव्य का रूप और अपभ्रंश में उसका विकास

संस्कृत में काव्य का विभाजन पहले दृश्य और श्रव्य, इन दो भागों में हुआ।[1] यह विभाजन इन्द्रियों को प्रभावित करने की दृष्टि से किया गया। रूप की दृष्टि से श्रव्य काव्य के अन्तर्गत गद्य, पद्य और चम्पू, ये तीन भेद रखे गये।[2] पुनः बन्ध की दृष्टि से पद्य का विभाजन प्रबन्ध और मुक्तक नामक दो भेदों में हुआ।

प्रबन्ध काव्य का अर्थ है जो बन्ध सहित हो, अर्थात् प्रबन्ध काव्य उसे कहते हैं जिसमें किसी उत्पाद्य अथवा अनुउत्पाद्य कथा का आद्यन्त शृंखलाबद्ध रूप में वर्णन होता है। कथा की जितनी घटनाएँ होती हैं वे आपस में इस प्रकार सम्बद्ध होती हैं जिस प्रकार शृंखला की कड़ियाँ परस्पर सम्बद्ध होती हैं। वे पूर्वापर निरपेक्ष न होकर सापेक्ष होती हैं। कथा के प्रभाव को अग्रगामी करने के लिए घटनाएँ एक के बाद एक आती जाती हैं। प्रबन्ध काव्य का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत होता है जिसमें कवि को वस्तु और घटना-वर्णन का पर्याप्त अवकाश होता है। वस्तुतः प्रबन्ध काव्य की प्रकृति वर्णनात्मक होती है जिसमें कवि अपने व्यक्तित्व को पीछे रखकर कथा के पात्रों के माध्यम से अपना मन्तव्य प्रकट करता है अथवा अपने विशेष उद्देश्य का प्रचार करता है। इसीलिए प्रबन्ध काव्य को बाह्यार्थ निरूपक काव्य कहा गया है। इसमें कवि की दृष्टि संसार की ओर उन्मुख रहती है और वह अपनी कथा के रूप में उसी बाह्य संसार की बातों को क्रमबद्ध रूप में कहता है। आशय यह है कि प्रबन्ध काव्य में कोई पौराणिक, ऐतिहासिक, काल्पनिक या लोक-विश्रुत कथा होती है जिसकी वर्णनात्मक प्रस्तुति कवि क्रमबद्ध रूप में करता है। घटनाओं के अनुरूप कवि कथा को कई भागों में विभाजित कर लेता है जिन्हें वह सर्ग, संधि आदि की संज्ञा प्रदान करता है।

प्रबन्ध काव्य के दो भेद माने गये हैं—एक को महाकाव्य और दूसरे को खण्डकाव्य कहते हैं। महाकाव्य सम्पूर्ण जीवन से गृहीत सर्वांगपूर्ण अनुभूति की अभिव्यक्ति है तो खण्ड-काव्य उसी जीवन के एक ही पक्ष से गृहीत अनुभूति की अभिव्यंजना है। यही कारण है कि जहाँ महाकाव्य में जीवन के प्रत्येक पक्ष का आद्योपान्त वर्णन होता है वहाँ खण्डकाव्य केवल खण्ड जीवन के वर्णन को ही अपना लक्ष्य बनाता है। विस्तार-भेद से दोनों में भेद तो है ही, दोनों में एक मौलिक भेद यह भी है कि महाकाव्य की प्रेरणा का स्रोत एक युगयुगान्तर व्यापी महान् उद्देश्य होता है। अपने महाकाव्य के द्वारा कवि युग को एक विशिष्ट संदेश देना चाहता है। खण्डकाव्य में ऐसा कोई भी संदेश नहीं होता। अतः बाह्य आकार और आभ्यन्तरिक

१—काव्यं प्रेक्ष्यं श्रव्यं च। साहित्यं दर्पण, १६६१।

२—गद्यपद्य मयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते। साहित्यदर्पण, ३३६।

महत्ता दोनों ही दृष्टियों से महाकाव्य और खण्डकाव्य एक दूसरे से दूर हैं।[1] यह अवश्य है कि महाकाव्य की भाँति खण्डकाव्य में भी कथा-सूत्र का होना परमावश्यक है। खण्ड-काव्य के कथानक का ख्यात या इतिहास प्रसिद्ध अथवा लोक-विश्रुत होना अनिवार्य नहीं होता, उसके प्रणयन में खण्डकाव्य रचयिता को महाकाव्यकार से अधिक स्वतंत्रता होती है।

संस्कृत-साहित्य में खण्डकाव्यों को महत्वपूर्ण स्थान नहीं मिल पाया। साहित्य शास्त्रियों के द्वारा उनकी व्याख्या भी उतने विस्तार से नहीं हुई। साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ कविराज ने खण्डकाव्य की परिभाषा करते हुए कहा है कि "महाकाव्य के एक देश या अंश का अनुसरण करने वाला काव्य खण्ड काव्य कहलाता है।[2]" संस्कृत में खण्डकाव्य के उदाहरण स्वरूप "मेघदूत" का नाम लिया जाता है। पर उसमें कथा का सूत्र भावात्मक उच्छवास में इस प्रकार डूबा हुआ है कि पूरे काव्य का प्रभाव गीतिकाव्य का-सा होता है।

संस्कृत साहित्य में खण्ड काव्य की तुलना में महाकाव्यों का ही प्राचुर्य है। इसलिए संस्कृत प्रबन्धकाव्य का विकास उसके महाकाव्यों के रूप में दिखाई पड़ता है।

संस्कृत में महाकाव्य की परम्परा का सूत्रपात रामायण और महाभारत से हुआ। तदनन्तर अश्वघोष के "बुद्धिचरित," कालिदास के "कुमारसम्भव" और "रघुवंश", भारवि के "किरातार्जुनीय," माघ के "शिशुपाल वध" श्रीहर्ष के "नैषध चरित" जैसे विश्व-विश्रुत काव्य-ग्रंथों के रूप में महाकाव्य की धारा संस्कृत में प्रवाहमान होती हुई प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के क्षेत्र में क्रमशः प्रकट हुई। विमलसूरि कृत "पउमचरिय," प्रवरसेन कृत "सेतुबंध," वाक्पति राज कृत "गौडवहो" प्राकृत भाषा के अमर महाकाव्य हैं। अपभ्रंश में आकर महाकाव्य की परम्परा स्वयंभू के "पउमचरिउ" एवं "रिट्ठणेमिचरिउ", पुष्पदत्त के "महापुराण" धनपाल के "भविसयत्त कहा" आदि महाकाव्यों के रूप में प्रतिफलित हुई। आगे बढ़ने पर महा-काव्य की परम्परा आधुनिक भारतीय भाषाओं में अपना अक्षुण्ण रूप बनाये हुए दिखाई देती है।

भारतीय महाकाव्यों की कोटि में रामायण और महाभारत का स्थान अन्यतम है। रामायण न केवल आदि महाकाव्य है वरन् उसे आदि-काव्य होने का भी गौरव प्राप्त है—अन्य क्षेत्रों की भाँति काव्य-जगत् में भी विकास के नियम में विश्वास रखने वालों को यह बात कुछ अजीब सी लगेगी।[3] महाभारत काव्य होने के साथ-साथ इतिहास, पुराण, धर्म-ग्रन्थ, दर्शन-शास्त्र, यहाँ तक कि, पंचम वेद भी माना जाता है। उसके विषय में प्रसिद्ध है कि जो महाभारत में नहीं है वह भारत में नहीं है।[4]

१—डा० शकुन्तला दुबे : काव्य रूपों के मूल स्रोत और उनका विकास, १९५८, पृ० ८९।

२—सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।
खंडकाव्य भवेत्काव्यस्यैक देशानुसारि च॥ सा०द०, ३१५।

३—इस विषय में डा० शम्भूनाथ सिंह का यह कथन द्रष्टव्य है, "महाभारत इतिहास है, रामायण काव्य। रामायण में अलंकृत काव्य के लक्षण हैं।...महाभारत की शैली विकसित होकर पुराण बनी, रामायण की अलंकृत काव्य। इसीलिए रामायण आदि काव्य है और उसका लेखक आदि कवि।
—हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृ० १२७।

४—यदिहास्ति तदन्यत्र, यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्। महाभारत

प्रारम्भ से लेकर आज तक महाकाव्य की जो परिभाषाएँ दी गई हैं उनमें से कोई भी रामायण और महाभारत को अपनी सीमा में पूर्णतया नहीं बाँध पाती। पश्चिम में साहित्य-शास्त्र के महापंडित अरस्तू ने महाकाव्य की जो सर्वप्रथम परिभाषा निर्धारित की वह उसके पूर्व रचित पश्चिमी जगत् के प्रथम महाकाव्य होमर के इलियड और ओडेसी पर आधारित थी। बाद में अरस्तू की परिभाषा मान्य नहीं हुई। बाद के कवियों ने वर्जिल के महाकाव्य "इनीड" के आदर्श का अनुकरण किया जिसने अरस्तू के महाकाव्य के आदर्श से बिलकुल स्वतन्त्र रहकर अपने महाकाव्य का प्रणयन किया था। अरस्तू की परिभाषा "इलियड" और "ओडेसी" तक सीमित रह गई।

भारतीय साहित्य-शास्त्रियों ने इस विषय में अधिक दूरदर्शिता और बुद्धिमानी का परिचय दिया है। उन्होंने रामायण और महाभारत को महाकाव्य मानते हुए भी इन ग्रन्थों को महाकाव्य के लक्षण-निर्माण में अपना आदर्श नहीं बनाया। भामह से लेकर विश्वनाथ कविराज तक साहित्य के जितने आचार्य हुए उनमें से किसी ने भी रामायण और महाभारत को सामने रखकर महाकाव्य के लक्षण नहीं निश्चित किये। उनके सामने कालिदास, भारवि, माघ आदि की रचनाओं के उदाहरण थे।

रामायण और महाभारत दो ऐसे ग्रन्थ हैं जिन्हें समस्त भारतीय साहित्य के ६० प्रतिशत से भी अधिक के मूल उत्स, प्रेरक और उपजीव्य होने का गौरव प्राप्त है। फिर भी महाकाव्य के रूप-गठन के आदर्श के लिए उनका ग्रहण नहीं होता। इसका कारण है। महाकाव्य को साहित्य के आचार्यों ने दो श्रेणियों में विभक्त किया है—विकसनशील महाकाव्य और अलंकृत महाकाव्य। दोनों प्रकार के महाकाव्यों का जन्म भिन्न ऐतिहासिक परिस्थितियों और सामाजिक पृष्ठभूमि में सम्भव होता है। रामायण और महाभारत जो विकसनशील महाकाव्य हैं, उस युग की देन हैं जिसे, काव्य के इतिहास में, वीर-युग कहा गया है। महाभारत के विषय में कहा जाता है कि वह प्रारम्भिक वीर-युग का समग्र और सच्चा चित्र उपस्थित करता है और रामायण उत्तर कालीन विकसित वीर-युग का काव्य है। ये दोनों किसी विशेष कवि या सीमित अवधि वाले युग की रचनाएँ नहीं हैं। यद्यपि वाल्मीकि और व्यास के नाम उनके साथ सम्बद्ध हैं, किन्तु आधुनिक शोध से पता चलता है कि ये महाकाव्य एक से अधिक हाथों की रचनाएँ हैं। सैकड़ों वर्षों में अनगिनत व्यक्तियों की प्रतिभा और वाणी के योग से उनका वर्तमान रूप निर्मित हुआ है।[1] इनकी काव्य-वस्तु और रूप-योजना युगों के विकास का परिणाम हैं। एक ओर उनकी विषय-सामग्री—राम और कृष्ण की मुख्य कथा एवं तत्सम्बन्धित अनेकानेक उपकथाएँ—वैदिक युग से प्रारम्भ होकर वीराख्यानों, लोक-गाथाओं, लोक-कथाओं, लोक-विश्वासों और अनुश्रुतियों के रूप में जनमन का अनुरंजन करती हुई विवर्द्धित और परिवर्तित होकर विकसित होती रही, दूसरी ओर उनका वाह्य कलेवर सामूहिक गीत-नृत्य, आख्यानक, नृत्य-गीत आख्यान और गाथा, गाथा-चक्र आदि काव्य-रूपों के स्तरों से निकल कर क्रमश: महाकाव्य के चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर होता रहा। दोनों महाकाव्यों में आदि-कालीन भारतीय जीवन का मर्म अपनी समग्रता में इस पूर्णता से व्यक्त हुआ है कि ये दोनों महाकाव्य सदा-सर्वदा के लिए भारतीय संस्कृति, ज्ञान-विज्ञान, धर्म-दर्शन, साहित्य और कला की अमर निधि बन गये हैं।

१—डा० शम्भूनाथ सिंह : हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, १९६२ पृ० १२४।

पश्चिम के विद्वानों ने महाकाव्य के लिए "एपिक" शब्द का प्रयोग किया है और "एपिक" की श्रेणी में उन्होंने भारत के महाकाव्यों में केवल रामायण और महाभारत को रखा है। उनका आशय इन महाकाव्यों को ऊपर निर्दिष्ट विकसनशील महाकाव्य या "एपिक आव ग्रोथ" या "एथेंटिक एपिक" कहने का है जो दूसरी श्रेणी के अलंकृत महाकाव्यों से इस अर्थ में भिन्न हैं कि ये कवि-विशेष या काल-विशेष की कृति नहीं हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर का कथन है कि "भारत में महाकाव्य केवल दो ही हैं, महाभारत और रामायण, उसके बाद फिर कोई महाकाव्य नहीं निर्मित हुआ।...ये महाकाव्य प्राचीन काल के देवताओं और दानवों के समान ही विशालकाय थे, अब इनकी जाति लुप्त हो गई है। सारांश यह कि अब संसार भर में कहीं भी महाकाव्यों का अवतार नहीं होता।"[१] रवि बाबू का आशय भी, पश्चिमी विद्वानों की भाँति, रामायण और महाभारत को विकसनशील महाकाव्य कहने का प्रतीत होता है। इसका तात्पर्य यह नहीं ग्रहण करना चाहिए कि रामायण और महाभारत के पश्चात् महाकाव्यों की सृष्टि बन्द हो गई। महाकाव्यों की रचना का क्रम चलता रहा, उसकी कोटि भिन्न हो गई। डाक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "महाकाव्य" शब्द का प्रयोग आजकल दो अर्थों में होने लगा है—अँग्रेजी के "एपिक" शब्द के अर्थ में और प्राचीन आलंकारिक आचार्यों द्वारा प्रयुक्त सर्ग बद्ध काव्य के अर्थ में। साधारणतः यूरोपियन पंडितों ने भारतीय एपिक कहकर केवल दो ग्रन्थों की चर्चा की है, महाभारत की और रामायण की।[२]

संस्कृत के आचार्यों ने जब भी महाकाव्य के लक्षण देने का उपक्रम किया है तब उनकी दृष्टि में रामायण और महाभारत नहीं रहे हैं। ये तो उनके लिए "आर्ष" काव्य हैं।[३] उनके लक्षण अलंकृत या अनुकृत महाकाव्यों को लक्ष्य करके लिखे गये हैं।

इन "आर्ष" महाकाव्यों के पश्चात् संस्कृत में जो अलंकृत महाकाव्य रचे गये उन्हें आलोचकों ने चार श्रेणियों में विभक्त किया है—शास्त्रीय महाकाव्य पौराणिक शैली के महाकाव्य, ऐतिहासिक शैली के महाकाव्य एवं रोमांचक अथवा कथात्मक महाकाव्य।[४] शास्त्रीय महाकाव्य को तीनों कोटियों—रससिद्ध या रीतिमुक्त, रीतिबद्ध या रूढ़िबद्ध एवं शास्त्र-काव्य या यमक काव्य—में विभाजित करते हुए अश्वघोष के "बुद्ध चरित" और कालिदास के "रघुवंश" तथा "कुमार सम्भव" को रस-सिद्ध शास्त्रीय महाकाव्यों की कोटि में रखा गया है क्योंकि जो नैसर्गिक ऊर्जस्विता और सौन्दर्य तथा रूप-शिल्प की सहजता इनमें विद्यमान है वह बाद के महाकाव्यों में उपलब्ध नहीं होती। ये महाकाव्य किसी रूढ़ि-पालन के लिए नहीं लिखे गये, वरन् महाकाव्य की नयी परम्परा का इनके द्वारा प्रारम्भ हुआ। कालिदास की इसी रीति मुक्त परम्परा में आगे चलकर सातवीं शताब्दी में कवि कुमारदास ने 'जानकीहरण" और नवीं शताब्दी में कवि अभिनन्द ने "रामचरित" की रचना की।

१—प्राचीन-साहित्य, अनुवादक रामदहिन मिश्र, पृ० ३।

२—संस्कृत के महाकाव्यों की परम्परा, आलोचना, अंक १, १९५१ पृ० ९।

३—अस्मिन्नार्षे पुनः सर्गा भवन्त्याख्यान संज्ञकाः। साहित्यदर्पण। ६, ३२५।

४—डा० शम्भूनाथ सिंह : हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृ० १४२।

कालिदास के पश्चात् छठीं शताब्दी में संस्कृत में रीतिबद्ध महाकाव्य की परम्परा चल पड़ी। भारवि का "किरातार्जुनीय" माघ का "शिशुपाल वध" श्री हर्ष का "नैषध चरित" इसी परम्परा की कृतियाँ हैं। इनमें आचार्यों द्वारा निर्धारित लक्षणों के अनुसार चलने के कारण, वस्तु व्यापार के अप्रासंगिक और अत्यधिक अलंकृत वर्णनों से विषय वस्तु और रूप-शिल्प का असंतुलन सामान्य बात है। रीतिवद्ध महाकाव्यों की यह विशेषता है कि उनमें कथावस्तु गौण और वस्तु व्यापार वर्णन एवं काव्य-चमत्कार-प्रदर्शन प्रमुख बन जाता है।

अलंकृत शैली द्वारा पांडित्य-प्रदर्शन का एक दूसरा रूप शास्त्र काव्यों और अनेकार्थ काव्यों में दिखाई देता है। इस प्रकार का संस्कृत में सर्व प्रसिद्ध काव्य भट्टिकाव्य या "रावण वध" है जिसमें रामकथा के साथ-साथ व्याकरण और अलंकारों का भी वर्णन किया गया है। इस शैली का दूसरा काव्य "कुमारपाल चरित" १२वीं शती में हेमचन्द्र ने रचा जिसमे चालुक्य वंशी राजा कुमारपाल के जीवन चरित के साथ-साथ संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश व्याकरण का भी वर्णन है। संस्कृत में अनेकार्थक काव्य लिखने की एक परम्परा ही चल पड़ी जिसकी चरम परिणति कुछ जैनाचार्यों की रचनाओं में हुई। जैनाचार्य मेघ विजय ने "सप्त संधान" महाकाव्य का निर्माण किया जिसमें प्रत्येक श्लोक के सात अर्थ होते हैं और सोमप्रभाचार्य ने शतार्थ काव्य की रचना की जिसके प्रत्येक श्लोक के सौ अर्थ निकलते हैं।

इस प्रकार जब कवियों का ध्यान रससिद्धि के मार्ग से हटकर चमत्कार-प्रदर्शन में लग गया तब ८वीं शताब्दी के बाद संस्कृत में शास्त्रीय महाकाव्य की परम्परा का ह्रास होने लगा। उधर जैन धर्मावलम्बी कवियों ने संस्कृत में पौराणिक शैली के महाकाव्यों की रचना का प्रारम्भ किया। हिन्दू पुराणों की भाँति, और इन्हीं के आधार पर, जैनाचार्यों ने अपने मत-प्रचार के लिए अनेक जैन पुराण रचे। ये ही पुराण जैन कवियों के उपजीव्य बने और उनके आश्रय से उन्होंने अनेकानेक पौराणिक महापुरुषों के जीवन-वृत्त को लेकर चरित-काव्यों की रचना की। ८वीं शती में रचित जिनसेन के "आदिपुराण" और गुणाभद्र के "उत्तर पुराण" ने इन सबका मार्ग-प्रदर्शन किया। उसी के आस-पास जटासिंह नन्दि ने "वरांग चरित" में वरांग की जैन पौराणिक कथा लिखी। १२वीं शताब्दी ने जैनाचार्य हेमचन्द्र ने "त्रिषष्ठि शलाका-पुरुष चरित" नामक श्लोकबद्ध जैनपुराण की रचना की जिसे महाकाव्य की संज्ञा भी दी जाती है। इसी शती में देवप्रभ सूरि ने पौराणिक शैली में "पाण्डव चरित" नाम से १८ सर्गों में महाभारत की कथा लिखी। १३वीं शती में अभयदेव सूरि ने "जयन्त विजय" और वाग्भट्ट ने 'नेमि निर्वाण' नामक महाकाव्य रचे।

जैन कवियों से प्रेरणा ग्रहण कर हिन्दू कवियों ने भी पौराणिक शैली के महाकाव्यों की रचना आरम्भ की। ११वीं शती में क्षेमेन्द्र ने रामायण मंजरी, भारत मंजरी और दशावतार चरित नामक पौराणिक शैली के महाकाव्यों का निर्माण किया। १२वीं शती में जयद्रथ ने ३२ सर्गों का हर-चरित चिन्तामणि नामक पौराणिक महाकाव्य लिखा जिसमें शिव से सम्बन्धित विविध पौराणिक कथाओं का वर्णन है। कृष्णदास कृत 'गोविन्द लीलामृत' और नीलकण्ठ दीक्षित कृत 'शिव लीलार्णव' इस शैली के अन्य महाकाव्य हैं।

वास्तविकता यह है कि संस्कृत में शास्त्रीय शैली के महाकाव्यों की ही अधिकता है और पौराणिक शैली उसे जैनों की देन है।

ऐतिहासिक शैली के महाकाव्य भी संस्कृत में कम हैं। उनमें सबसे पहला नाम बाण के हर्ष चरित का है। फिर पद्म गुप्त कृत नव साहसांक चरित (११०५ ई०) विल्हण कृत "विक्रमांकदेव चरित" (११ शती) और कल्हण कृत "राजतरंगिणी" (१२ शती) का नाम आता है। तत्पश्चात् अरिसिंह के "सुकृत-संकीर्तन" बालचन्द्र सूरि के 'बसन्त विलास' और जयचन्द्र सूरि के "हम्मीर महाकाव्य" का उल्लेख किया जा सकता है। यह सूची यहीं प्रायः समाप्त हो जाती है। पौराणिक शैली के महाकाव्यों की भाँति ऐतिहासिक शैली के महाकाव्यों में भी प्राचीन भारत का इतिहास अंशतः सुरक्षित है। ऐतिहासिक शैली के महाकाव्य एक प्रकार के चरित-काव्य ही हैं जिनमें कथानायक का उत्कर्ष दिखाने के लिए कवि अनेक संभाव्य-असंभाव्य घटनाओं और व्यापारों का वर्णन करते हैं। हम देखेंगे कि बाद में चरित काव्य के रूप में जैन कवियों ने किस प्रकार पौराणिक ऐतिहासिक और रोमांचक काव्य-शैलियों को एक में मिला दिया।

जिस प्रकार संस्कृत में पौराणिक शैली के महाकाव्य रचने में जैन कवि अग्रणी रहे उसी प्रकार उसमें रोमांचक महाकाव्यों का प्रारम्भ प्रधानतया जैनों के पौराणिक काव्य ग्रन्थों और गुणाढ्य की वृहत्कथा के आधार पर लिखे गये ग्रन्थों से मानना चाहिए। जैन संस्कृत-काव्य-ग्रन्थों का किंचित् उल्लेख ऊपर हो चुका है। ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में क्षेमेन्द्र ने वृहत्कथा मंजरी और सोमदेव ने कथा सरित्सागर नाम से गुणाढ्य की वृहत्कथा को काव्यात्मक रूप प्रदान किया। इन्हीं दोनों प्रभावों से संस्कृत में रोमांचक महाकाव्य की परम्परा आरम्भ हुई। इस परम्परा में काव्य-रचना करने वाले कवियों में अधिकांश जैन हैं और इस प्रकार कहा जा सकता है कि संस्कृत साहित्य में पौराणिक और रोमांचक शैली के महाकाव्यों पर जैन कवियों का प्रायः एकाधिकार है। रोमांचक शैली के महाकाव्यों में वीरनन्दी का चन्द्रप्रभ चरित (१३ शती), सोमेश्वर का सुरथोत्सव (१३ शती) भवदेवसूरि का पार्श्वनाथ चरित (१३-१४ शती) और मुनि भद्रसूरि का शान्तिनाथ चरित उल्लेखनीय हैं।

रोमांचक शैली के महाकाव्यों की मुख्य विशेषता यह है कि उनका कथानक चाहे काल्पनिक हो, ऐतिहासिक हो या पौराणिक हो उनमें जीवन की यथार्थता की कमी होती है। कल्पना पर आधारित साहसिक कार्यों की अधिकता होती है। आश्चर्यजनक, चमत्कारपूर्ण, अविश्वसनीय, अलौकिक घटनाओं से पाठकों का मनोरंजन और लोम हर्षण करना ही इनका उद्देश्य होता है। रोमांचक महाकाव्यों में न तो शास्त्रीय महाकाव्यों का महान् सन्देश होता है और न काव्य-गरिमा।

संस्कृत के महाकाव्यों के इस संक्षिप्त परिचय के पश्चात् उनके बाह्य रूप-विधान पर दृष्टिपात करना उपयुक्त होगा। संस्कृत के आचार्यों ने महाकाव्य के लक्षणों का बहुत विस्तार से वर्णन किया है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि इन महाकाव्यों की रचना सर्वथा इन लक्षणों के अनुकरण पर हुई। रामायण में, जो किसी भी लक्षण-ग्रन्थ-निर्माण के पूर्व निर्मित हो चुका था, महाकाव्य के सभी महत्वपूर्ण लक्षण विद्यमान हैं। बाद के सभी महाकाव्यकारों और लक्षण निर्माणकर्ताओं ने इस महान् ग्रन्थ से अपने-अपने क्षेत्र में प्रेरणा ग्रहण की। कहने का आशय यह है कि काव्य-शास्त्र के निर्माण का कार्य आरम्भ होने के पूर्व काव्य-रचना का कार्य आरम्भ हो चुका था और कालान्तर में वे एक दूसरे को प्रभावित करते हुए आगे बढे।

महाकाव्य की परिभाषा देने वाला भारतीय काव्य शास्त्र का सबसे प्राचीन ग्रन्थ भामह (५ शती) का "काव्यालंकार" है। भामह ने काव्य के पाँच भेद बताये हैं—सर्गबन्ध, अभिनेयार्थ, आख्यायिका, कथा और अनिबन्ध।[1] इनमें से उन्होंने सर्गबन्ध को ही महाकाव्य कहा है। देखा जाय तो महाकाव्य के लिए "सर्गबन्ध" की कल्पना आदि काव्य रामायण से ली गई जो संस्कृत साहित्य का प्रथम सर्गबन्ध काव्य है। महाकाव्य की अन्य विशेषताएँ बताते हुए "काव्यालंकार" में कहा गया है कि उसमें महान चरित्रों का विधान होता है और वह स्वयं महत्ता-समन्वित होता है, उसमें ग्राम्य शब्दों का बहिष्कार किया जाता है, वह अलंकारों से पूर्ण होता है तथा यथार्थ या सच्ची घटनाओं को लेकर निर्मित किया जाता है। उसमें राज-सभा, दूत, आक्रमण युद्ध और अन्त में नायक के अभ्युदय का वर्णन होता है। नाटक की समस्त संधियों की योजना उसमें होती है। उसका कथानक अधिक व्याख्या की अपेक्षा नहीं करता। उसमें बुद्धिमत्ता होती है।[2]

भामह के पश्चात् काव्यशास्त्र के अन्य प्रसिद्ध आचार्य दंडी (६ शती) रुद्रट (८ शती) हेमचन्द्र (१२ शती) और विश्वनाथ कविराज (१४ शती) हुए। भामह द्वारा निर्धारित महा-काव्य सम्बन्धी अनेक मान्यताओं को यथावत् स्वीकार करते हुए भी बाद के ये आचार्य महा-काव्य के लक्षणों में कुछ न कुछ परिवर्तन करते गये या व्याख्यास्वरूप उनका विस्तार या परिसीमन करते गए। यहाँ तक कि विश्वनाथ कविराज के समय तक महाकाव्य की परिभाषा में काफी रूढ़िबद्धता आ गई जिसका प्रभाव बाद के महाकाव्यों पर स्पष्ट दिखाई देता है। भामह की परिभाषा से कुछ विशिष्टता या अन्तर बाद के प्रत्येक आचार्य ने अपनी इच्छा से उत्पन्न किया होगा तो कुछ अन्तर उन्हें अपने पूर्ववर्ती या समसामयिक महाकाव्यों में आई हुई नवीन विशेषताओं को दृष्टि में रखते हुए करने पड़े होंगे।

महाकाव्य में सर्गबद्धता की अनिवार्यता सभी ने स्वीकार की है। "काव्यालंकार" के रचयिता भामह ने सर्गों की कोई सीमा नहीं रखी। दंडी ने केवल यह कहा कि एक सर्ग में एक ही छन्द होना चाहिए। सर्ग अतिविस्तीर्ण न हों क्योंकि उससे कथानक के संघटन अथवा नाटक की संधियों की योजना में बाधा पड़ेगी।[3] रुद्रट ने भी केवल इतना कहा कि कथा सर्गबद्ध और नाटकीय तत्वों से युक्त हो।[4] हेमचन्द्र के समय तक प्राकृत और अपभ्रंश के महाकाव्यों का भी खूब प्रचार हो गया था। सर्ग के सम्बन्ध में उनका मत नाम-परिवर्तन तक सीमित है। हेमचन्द्र ने कहा कि संस्कृत महाकाव्य के सर्गों के स्थान पर प्राकृत, अपभ्रंश और

१—सर्गबन्धोऽभिनेयार्थं तथैवाख्यायिकाकथे।
अनिबद्धश्च काव्यादि तत्पुनः पंचधोच्यते ॥काव्यालंकार १, १८।

२—सर्गबन्धो महाकाव्यं महतां च महच्च यत्।
अग्राम्यशब्दमर्थं च सालंकारं सदाश्रयम् ॥
मंत्र दूत प्रयाणाजिन नायकाभ्युदयंश्चयत्।
पंचभिः सन्धिभिर्युक्तं नाति व्याख्येयमृद्धिमत्। काव्यालंकार १, १९, २१।

३—अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभाव निरंतरम्।
सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्राव्य वृत्तैः सुसंधिभिः। काव्यादर्श १, १८।

४—सर्गाभिधानि चास्मिन्नवात् प्रकरणानि कुर्वंति।
संधीनपि संश्लिष्टंस्तेषामन्योन्य सम्बन्धात् ॥ काव्यालंकार, १६, १९।

ग्राम्यापभ्रंश में क्रमशः आश्वासक, संधियाँ और अवस्कंधक होते हैं।[1] विश्वनाथ कविराज ने यह तो कहा ही कि प्राकृत-अपभ्रंश के महाकाव्यों में सर्ग की जगह आश्वासक आदि होते हैं उन्होंने यह भी कहा कि महाकाव्य में कम से कम आठ सर्ग होने चाहिए।[2] सर्गों के नाम उनके प्रबंध के अनुसार हों और सर्गान्त में आगे आने वाली कथा की सूचना अवश्य हो। विश्वनाथ की परिभाषा के अनुसार रामायण को महाकाव्य की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता क्योंकि उसमें केवल ७ ही काण्ड हैं। कदाचित् ऐसी ही कठिनाइयों से बचने के लिए विश्वनाथ कविराज ने रामायण और महाभारत को "आर्ष" काव्य की श्रेणी में रख दिया।[3]

भामह ने महाकाव्य के नायक के लिए महान् चरित्र का होना आवश्यक बताया था।[4] दंडी ने 'महान् चरित्र' के स्थान पर 'चतुरोदात्त' शब्द पसन्द किया और इस प्रकार महाकाव्य का उद्देश्य भामह से कुछ भिन्न रूप में स्थिर किया।[5] किन्तु उन्होंने वंश-वर्ण सम्बन्धी कोई शर्त नहीं रखी। रुद्रट के अनुसार महाकाव्य का नायक द्विज कुलोत्पन्न, सर्वगुण सम्पन्न, महान् वीर शक्तिमान, नीतिज्ञ और कुशल राजा होना चाहिए।[6] विश्वनाथ कविराज ने कहा कि महाकाव्य का नायक सद्वंश क्षत्रिय या देवता होना चाहिए। विश्वनाथ ने यह भी कहा कि एक वंश के अनेक राजा या अनेक कुलीन राजा भी एक ही महाकाव्य में नायक के रूप में रखे जा सकते हैं।[7] प्रतीत होता है कि साहित्य दर्पण काव्यकार को नायक के बहुत्व के विषय में यह छूट कालिदास के 'रघुवंश' को ध्यान में रखकर देनी पड़ी क्योंकि रघुवंश में रघुकुल का पूरा इतिहास दिया गया है और इसलिए उसमें अनेक नायक हैं। भामह ने प्रारंभिक नमस्क्रिया, मंगलाचरण और वस्तु निर्देश को महाकाव्य के लक्षणों में कोई स्थान नहीं दिया था। दंडी ने अपनी परिभाषा में उनका प्रथम बार समावेश किया।[8] रुद्रट ने इनकी कोई चर्चा नहीं की। पर बाद के आचार्यों ने इन प्रारंम्भिक औपचारिक बातों का और भी विस्तार किया और उनमें नमस्क्रिया, आशीर्वचन, मंगलाचरण, सज्जन-स्तुति, दुर्जन-निन्दा, वस्तु-निर्देश आदि को स्थान दिया। कालिदास के कुमारसंम्भव में इन में से किसी को भी स्थान नहीं मिला है, पर बाद के

१—पद्यं प्रायः संस्कृत प्राकृतापभ्रंश ग्राम्यभाषा निबद्ध भिन्नान्त्यवृत्त सर्गाश्वास संध्यवस्कंध बन्धं सत्संधि शब्दार्थ वैचित्र्योपेतं महाकाव्यम्, काव्यानुशासन, अध्याय ८।

२—नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा-अष्टाधिका इह। साहित्यदर्पण ६, ३२०।

३—दे० पीछे पृ० ६, पाद टिप्पणी २।

४—सर्गबंधो महाकाव्यं महतां च महच्च यत्। काव्यालंकार, १. १९।

५—इतिहास कथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम्।
चतुरवर्गफलायतं चतुरोदात्त नायकम्॥ काव्यादर्श, १.१५।

६—तत्र त्रिवर्गसक्तं समिद्ध शक्तित्रयं च सर्वगुणम्।
रक्तसमस्त प्रकृतिं विजगीषुं नायकं न्यस्येत्॥ कव्यालंकार १६.८।

७—सर्गबंधो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।
सद्वंश क्षत्रियो वापि धीरोदात्त गुणान्वितः॥
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोपि वा॥ साहित्य दर्पण, ६.३१५–१६।

८—सर्गबंधो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम्।
आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्। काव्यादर्श १.१४।

महाकाव्यों में ये बातें रूढ़ि के रूप में स्वीकार कर ली गईं और जैसा कि हम देखेंगे, प्राकृत-अपभ्रंश के महाकाव्यों में इनकी संख्या में और भी वृद्धि हुई।

भामह ने महाकाव्य में सभी रसों का होना आवश्यक बताया। दंडी ने 'रस भावनिरंतरम्' का समर्थन किया।[1] परन्तु विश्वनाथ ने महाकाव्य में रसों की संख्या सीमित कर दी। साहित्य दर्पण के अनुसार महाकाव्य में शृंगार, वीर, शान्त में से कोई एक प्रधान होना चाहिये। शेष रस गौण रूप से हो सकते हैं।[2] महाकाव्य में जिन वस्तु-व्यापारोंका वर्णन होना चाहिए उनका निर्देश पहले दंडी ने कुछ विस्तार से किया और उनमें नगर, सागर, शैल चन्द्र-सूर्योदय, उद्यान-सलिल-क्रीड़ा, मधुपान, रतोत्सव, विवाह, विप्रलंभ, पुत्र-जन्म, मंत्र-दूतागम, युद्ध-प्रयाण और नायक की विजय की चर्चा की। रुद्रट ने इनके अतिरिक्त युग-जीवन के विविध रूपों, पक्षों और घटनाओं को चित्रित करने पर बहुत बल दिया।[3] हेमचन्द्र ने भी 'देशकाल पात्र चेष्टा कथान्तरानुषंजस्' कहकर महाकाव्य में जीवन के व्यापक अनुभवों और युग के सम्पूर्ण चित्र को अंकित करने का निर्देश किया। विश्वनाथ कविराज ने महाकाव्य के वर्ण्य-विषयों की सूची को और भी बढ़ाया। आगे के कवियों के लिए इस सूची के सभी वस्तु-व्यापारों का वर्णन करना रूढ़ि बन गयी।

इस प्रकार अनेक कवियों के प्रयोगों और अनेक आचार्यों के मत-मतान्तरों तथा सिद्धान्त-निरूपण के फलस्वरूप संस्कृत महाकाव्य का रूप उत्तरोत्तर विकसित होता गया और वह नये प्रभावों को ग्रहण करता गया। इस समय 'संस्कृत महाकाव्य' कहने से उसके वर्ण्य-विषय और प्रबन्धात्मक रूप-विधान का जो चित्र सामने आता है उसका वर्णन कुछ इस प्रकार किया जा सकता है। महाकाव्य सर्गबद्ध होना चाहिए और उसका कथानक न बहुत लम्बा और न बहुत छोटा होना चाहिए। कथानक नाटक की संधियों की योजना के अनुसार इस प्रकार संयमित हो कि वह समन्वित प्रभाव उत्पन्न कर सके। उसमें एक प्रधान घटना आद्योपान्त प्रवाहित होती रहे जिसके चारों ओर से अन्य उपप्रधान घटनाएँ आकर उसमें पर्यवसित होती रहें। कथानक उत्पाद्य-अनुत्पाद्य और मिश्र तीनों प्रकार का हो सकता है।

महाकाव्य का नायक धीरोदात्त सद्वंशोत्पन्न हो। वह क्षत्रिय या देवता हो तो अधिक अच्छा होगा। नायक का प्रतिनायक भी बल-गुण-सम्पन्न होना चाहिए; तभी तो उसे पराजय देने में नायक की महत्ता है। अन्य अनेक पात्रों का होना भी जरूरी है। नायिकाओं की चर्चा शास्त्रकारों ने महाकाव्य के लक्षण गिनाने में नहीं की है पर कोई महाकाव्य ऐसा नहीं है जिसमें नायिका की महत्वपूर्ण भूमिका न हो।

१—अलंकृतम् संक्षिप्तं रसभाव निरंतरम्। काव्यादर्श, १.१८।

२—शृंगार वीर शान्तानामे को अंगी रस इष्यते।
अंगानि सर्वे अपि रसाः सर्वे नाटकसंधयः। साहित्यदर्पण, ६.३.१७।

३—नगरार्णव शैलर्तु चन्द्रार्कोदय वर्णनैः।
उद्यान सलिलक्रीड़ा मधुपान रतोत्सवैः।
विप्रलम्भैं विवाहैश्च कुमारोदयवर्णनैः।
मंत्रदूत प्रयाणाजि नायकाभ्युदयैरपि॥ काव्या काव्यादर्श, १.१६.१७।

महाकाव्य में कथानक के इर्द-गिर्द अनेकानेक वस्तु-व्यापारों का वर्णन नितान्त आवश्यक है। लक्षणकारों ने इनकी पूरी सूची गिना दी है। संस्कृत के अलंकृत महाकाव्य का प्रधान लक्षण है कि उसमें घटना-प्रवाह चाहे क्षीण हो पर अलंकृत वर्णनों की प्रधानता होगी।

नाटक के समान संस्कृत के महाकाव्यों में भी भाव-व्यंजना प्रधान तत्व है। भावों को परिपक्व बनाकर रस की योजना अवश्य करनी होती है। रस की उत्पत्ति पात्रों और परिस्थितियों के सम्पर्क, संघर्ष और क्रिया-प्रतिक्रिया से दिखाई जाती है। श्रृंगार, वीर और शान्त रसों में से कोई एक रस प्रधान होता है। अन्य सभी रस स्थान-स्थान पर गौण रूप में प्रकट होते रहते हैं।

मानवीय घटनाओं और व्यापारों के अतिरिक्त महाकाव्य में अमानवीय और अलौकिक तत्वों का समावेश भी अवश्य कराया जाता है। अतिप्राकृत घटनाओं और क्रियाकलाप का प्रदर्शन कहीं देवताओं के द्वारा कराया जाता है तो कहीं दानवों के द्वारा और कहीं इन दोनों से भिन्न योनि के जीवों द्वारा, जैसे—किन्नर, गन्धर्व, यक्ष, विद्याधर, अप्सरा आदि।

महाकाव्य में विविध अलंकारों की योजना होती है, उसकी शैली गरिमापूर्ण और कलात्मक होती है। उसमें विविध छंदों के प्रयोग का विधान होता है और उसकी भाषा उसकी गरिमामयी उदात्त शैली के अनुरूप तथा ग्राम्य शब्द-प्रयोग दोष से मुक्त होती है।

संस्कृत महाकाव्य का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम मोक्ष इन चारों फलों की प्राप्ति है।[१]

संस्कृत-महाकाव्य के रूप से परिचित होकर अब हम अपभ्रंश में महाकाव्य का विकास समझने की स्थिति में हैं।

ऐतिहासिक क्रम में देखें तो संस्कृत के पश्चात् पालि और प्राकृत भाषाओं का युग आता है। पालि में विशाल बौद्ध साहित्य होते हुए भी रसात्मक या शुद्ध साहित्य का अभाव है। जातक कथाओं, थेरी गाहा और अट्ठकहा के रूप में उसका कथा-साहित्य अवश्य चिरस्मरणीय है किन्तु पालि में किसी शुद्ध काव्य का निर्माण नहीं हो सका। हम देख चुके हैं कि बुद्ध चरित लिखने के लिए अश्वघोष को संस्कृत का सहारा लेना पड़ा था। प्राकृत में जैनों के धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त रसात्मक साहित्य की भी सृष्टि हुई। जैनों के द्वारा जो काव्य-ग्रन्थ लिखे गये वे अधिकतर चरित काव्य हैं। इन का निर्माण या तो पौराणिक शैली में हुआ या रोमांचक शैली में। प्राकृत में केवल दो ही महाकाव्य सेतुबंध (५ शती) और गउडवहो (७ शती) ऐसे हैं जो संस्कृत की शास्त्रीय शैली में निर्मित हुए हैं और ये दोनों महाकाव्य जैनेतर कथानक पर आश्रित हैं। प्राकृत के शेष सभी महाकाव्य या तो ऐतिहासिक-पौराणिक शैली में रचे गए हैं या रोमांचक शैली में। विमलसूरि का "पउमचरिउ" पौराणिक शैली के कई तत्वों से समन्वित सर्वप्रसिद्ध प्राकृत महाकाव्य है। इसी प्रकार कौतूहल की "लीला वई" को विद्वानों ने रोमांचक शैली का उत्कृष्ट प्राकृत महाकाव्य माना है।[२]

अपभ्रंश में काव्य-रचना जिस समय प्रारंभ हुई उसके पहले से संस्कृत और प्राकृत में काव्य-ग्रन्थ लिखे जाते थे। अपभ्रंश के साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश के बाद संस्कृत, प्राकृत और

१—दंडी – चतुर्वर्गफलायत्तं चतुरोदात्त नायकम्। काव्यादर्श, १.१५।
हेमचन्द्र—चतुर्वर्गफलो पायत्वम्। काव्यानुशासन, अध्याय ८।

२—लीलावई, सम्पादक डा० ए० एन० उपाध्ये, प्रस्तावना (अंग्रेजी)—मुनिजिन विजय, पृ० २१

अपभ्रंश तीनों भाषाओं में छठीं से तेरहवीं शताब्दी तक समानान्तर रूप से काव्य-रचना होती रही।[1] जैन कवि इन तीनों भाषाओं के माध्यम से धर्म-ग्रन्थ लिखते रहे। अपभ्रंश ने महाकाव्य का जो रूप अपनाया वह उसे संस्कृत से न प्राप्त होकर प्राकृत से मिला और वह महाकाव्य का वही रूप है जिसे प्राकृत ने संस्कृत को भी दिया था। जिस प्रकार शास्त्रीय शैली का महाकाव्य संस्कृत की विशेषता है उसी प्रकार ऐतिहासिक-पौराणिक और रोमांचक शैली के महाकाव्य प्राकृत की विशेषता हैं। अभी कहा गया है कि प्राकृत में शास्त्रीय शैली के केवल दो महाकाव्य सेतुबंध और गोडवहो हैं। शेष महाकाव्य बाकी तीन शैलियों में रचित हैं, जैसे विमलसूरि कृत पउमचरिय गुणपाल कृत जम्बू चरित लक्ष्मण देवकृत णेमिणहचरिय आदि पौराणिक शैली के तथा कौतूहल कृत लीलावई रोमांचक शैली के महाकाव्य हैं। अपभ्रंश ने ऐतिहासिक शैली को भी छोड़ दिया। उसके सभी महाकाव्य या तो पौराणिक शैली में लिखे गये हैं या रोमांचक शैली में।

अपभ्रंश के इन दोनों शैलियों के काव्य ग्रन्थ प्रायः चरित-काव्य कहलाते हैं। संस्कृत के चरित काव्य चारों शैलियों में मिलते हैं, प्राकृत में तीनों शैलियों में और अपभ्रंश में उपर्युक्त दोनों शैलियों में। तात्पर्य यह है कि चरित नाम से काव्य रचना की प्रथा जैनों में उस समय इतनी लोकप्रिय थी कि उपलब्ध काव्यों में से अधिकांश चरित नाम वाले हैं। यहाँ तक कि अनेक जैन पुराण भी चरित नाम से लिखे गये। डाक्टर भायाणी का मत है कि "स्वरूप की दृष्टि से अपभ्रंश के पौराणिक काव्यों और चरित काव्यों में बहुत अन्तर नहीं है। पौराणिक काव्यों में विषय का विस्तार बहुत अधिक होने से संधियों की संख्या पचास से सवा-सौ तक होती है जबकि चरित काव्यों में विषय-विस्तार मर्यादित होता है जिससे सन्धि-संख्या अधिक नहीं होती। शेष बातों—जैसे संधि, कडवक, तुक पंक्तियुगल आदि—में दोनों में कोई भेद नहीं है।"[2]

वास्तविकता तो यह है कि अपभ्रंश में चरित, कथा और पुराण इतने घुल-मिल गये हैं कि उनमें अन्तर करना कठिन है। हर कथात्मक और पौराणिक महाकाव्य चरित काव्य है क्योंकि हर एक में चरित या चरितों का काव्य-शैली में वर्णन है। अन्तर है तो केवल यह कि पौराणिक चरित काव्यों में किसी शलाका पुरुष, तीर्थंकर आदि के चरित का वर्णन होता है और कथात्मक काव्य में लोक कथाओं और लोकगाथाओं से भी किसी चरित को लेकर उसे कथा का नायक बनाया जा सकता है; अर्थात् कथात्मक शैली के महाकाव्य का प्रधानचरित जन-सामान्य भी हो सकता है; अथवा वह कवि की कल्पना से उद्‌भूत भी हो सकता है। पौराणिक शैली के महाकाव्यों में कवि-कल्पना को ऐसी स्वतंत्रता नहीं है, उनमें पुराणों के शलाका-पुरुषों का ही जीवन-चरित लिखा जाना अनिवार्य है।

१—अपभ्रंश के साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश के समय के विषय में विद्वानों में मतभेद अब भी बना है। डा० सुनीतिकुमार चाटर्ज्या इसे चौथी शताब्दी के आस-पास मानते हैं (इंडो आर्यन और हिन्दी, पृ० ९९) प्रो० हीरालाल जैन के अनुसार "छठीं शताब्दी में अपभ्रंश काव्य संस्कृत और प्राकृत काव्य की बराबरी में आ बैठा था," (अपभ्रंश भाषा और साहित्य-नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५०, अंक—३—४, पृ० १०६।

२—डा० हरिवल्लभ चूनीलाल भायाणी—भूमिका (गुजराती) धाहिल कृत पउमसिरिचरिउ, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, पृ० १५।

अपभ्रंश के महाकाव्यों का परिचय पहले दिया जा चुका है।[1] पौराणिक शैली के महाकाव्यों में स्वयंभू कृत "पउमचरिउ" एवं रिट्ठणेमिचरिउ, पुष्पदन्त कृत 'महापुराण' 'धवलकृत' 'हरिवंसपुराण' विशेष प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त 'जम्बू स्वामिचरिउ' (वीर कवि), पासचरिउ (विबुध श्रीधर) पासुपुराण (पद्मकीर्ति) णेमिनाह चरिउ (हरिभद्र) सान्तिणाहचरिउ (शुभकीर्ति) चन्दप्पह चरिउ (भट्टारक यशः कीर्ति) बाहुबलि चरिउ (धनपाल) सम्भवणाह चरिउ (तेजपाल) आदि वैयक्तिक पुरुषों के चरित पर आधारित महाकाव्य भी प्रसिद्ध हैं।

अपभ्रंश के महाकाव्य या तो रामायण या महाभारत का जैन रूपान्तर उपस्थित करते हैं, या जैनों के त्रिषष्ठि शलाका पुरुषों का जीवनवृत्त एक साथ प्रस्तुत करते हैं या पौराणिक पुरुषों का अलग-अलग जीवन-चरित वर्णन करते हैं। उदाहरण के लिए स्वयंभू कृत "रिट्ठणेमि-चरिउ" या हरिवंस पुराण हिन्दूमहाभारत का जैन रूपान्तर है। पुष्पदन्त का "महापुराण" त्रिषष्ठिशलाका पुरुषों का चरित वर्णन करता है और हरिभद्र के "णेमिनाह" चरिउ में केवल तीर्थंकर नेमिनाथ का चरित वर्णित है।

अपभ्रंश के पौराणिक शैली के सभी महाकाव्यों में कुछ विशेषताएँ समान रूप से पायी जाती है। सब का आरम्भ एक ही प्रकार से होता है। सभी महाकाव्य तीर्थंकरों की स्तुति से प्रारंभ होते हैं। पुनः सभी में पूर्व-कवियों और विद्वानों का स्मरण, सज्जन-प्रशंसा, दुर्जन-निन्दा, काव्य-रचना में प्रेरणा और सहायता करने वालों की स्तुति, विनम्रता-प्रदर्शन, काव्य-विषय के महत्व का वर्णन, मगध देश और राजगृह का वर्णन, श्रेणिक महाराज की प्रशंसा, महावीर वर्धमान का राजगृह में समवसरण, श्रेणिक का उसमें आना और प्रश्न करना—ये विषय आते हैं। फिर वक्ता गणधर गौतम या वर्धमान और श्रोता श्रेणिक के प्रश्नोत्तर के रूप में पूरी कथा कही जाती है। सब में चरित नायकों और उनसे सम्बन्धित व्यक्तियों के विभिन्न भवान्तरों का वर्णन, प्रधान कथा के आवश्यक अंग के रूप में, होता है। भवान्तर-वर्णन का मुख्य कारण जैनों की कर्म-फल-प्राप्ति में अचल आस्था है। परिणामस्वरूप ये सभी महाकाव्य वैराग्यमूलक और शान्तरस पर्यवसायी हैं।

अपभ्रंश के सभी महाकाव्यों में स्थान-स्थान पर जैन-धर्म के सिद्धान्तों का उपदेश मिलता है। सब में देवता, यक्ष, गन्धर्व, विद्याधर आदि अमानव अपने अलौकिक, अप्राकृत कार्य दिखाते हैं जिनसे कथा के प्रवाह को सहायता मिलती है और उसकी बहुत सी समस्याएँ सुलझ जाती हैं।

यद्यपि सभी पौराणिक महाकाव्यों का उद्देश्य जैनधर्म का प्रचार करना है तथापि उनमें प्रेम और युद्ध का वर्णन पर्याप्त से अधिक मात्रा में मिलता है। प्राकृतिक वस्तुओं—प्रभात, संध्या, रजनी, चन्द्रमा, नदी, सागर, पर्वत आदि—से लेकर स्त्रियों के अंग-प्रत्यंग—मुख, केश, नाक, आँख, अधर, उरोज, बाहु, त्रिवली, उरु, पाद, आदि—के रसपूर्ण वर्णन में कवियों ने समान रूप से रुचि प्रदर्शित की है। अवसर मिलने पर उन्होंने रति-क्रीड़ा वर्णन से भी मुख नहीं मोड़ा है। इसी तरह युद्ध-वर्णन में उन्होंने रण-प्रयाण से लेकर उसके समस्त कौशलों का वर्णन आयुधों के नाम गिनाते हुए किया है। अपने धर्म के प्रचार के प्रति अत्यधिक सजग होते हुए भी जैन कवियों ने जीवन की वास्तविकताओं की उपेक्षा

१—देखिए पीछे अध्याय १

नहीं की है। कथा में परिवर्तन की स्वतंत्रता उन्हें नहीं थी, इस कमी की पूर्ति उन्होंने वर्णन में स्वतंत्रता का उपयोग कर की है।

इन जैन पौराणिक महाकाव्यों का समस्त वातावरण जैनधर्म के सिद्धान्तों से ओत-प्रोत है। उनके सभी छोटे-बड़े पात्रों का अन्त में जैन धर्मानुयायी बन जाना आवश्यक है।

अपभ्रंश के कथात्मक या रोमांचक शैली के महाकाव्यों में अधिक प्रसिद्ध भविसयत्त-कहा (धनपाल), सुदंसणचरिउ (नयनन्दि), विलासवई कहा (साधारण कवि) करकंडुचरिउ (कनकामर) पज्जुण्णकहा (सिद्ध तथा सिंह), जिणदत्तचरिउ (कवि लक्ष्मण) णयकुमारचरिउ (माणिकराज) सिद्धचक्कमहाप्प (रइधू) हैं।

पौराणिक महाकाव्यों की तुलना में इन कथात्मक महाकाव्यों की एक बड़ी विशेषता उनका प्रेमाख्यान-प्रधान होना तथा साहसिक यात्रा-वर्णनों एवं आश्चर्यजनक घटनाओं से भरा होना है। इनमें युद्ध का वर्णन भी पौराणिक शैली के महाकाव्यों की अपेक्षा अधिक होता है। प्रत्यक्षतः इनका उद्देश्य जैन-धर्म-प्रचार है और सारी कथा धर्म के आवरण से आच्छादित होती है। पौराणिक शैली के महाकाव्यों की भाँति इनमें भी पात्रों के पूर्वभवों का वर्णन अवश्य रहता है, बीच-बीच में जैन-सिद्धान्तों का कथन होता है, जैन- मुनि उपदेश देते हैं, जैन-मन्दिरों में पूजा-पाठ का वर्णन होता है, अंत में सभी का संसार-त्यागी बन जैन-धर्म में दीक्षित होना दिखाया जाता है। इस प्रकार कथा शान्त रस में पर्यवसित होती है। पर इन रोमांचक महाकाव्यों में धार्मिकता का सांसारिकता से विचित्र मेल दिखाई देता है। ऐसा लगता है कि धर्म के आवरण में जैन कवियों ने प्रेमाख्यान लिखे हों। कदाचित् समय और समाज की रुचि की माँग को पूरा करने के लिए उन्हें ऐसा करना पड़ा क्योंकि आठवीं से पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी तक की सभी भाषाओं में इस तरह की साहित्य-रचना के प्रमाण मिलते हैं।

प्रेम और युद्ध के वर्णनों के साथ रोमांचक महाकाव्यों में कल्पनाश्रित और अतिशयोक्ति-पूर्ण बातों की भरमार मिलती है। साहसिक कार्यों, अलौकिक, अतिप्राकृत और अति मानवीय शक्तियों के समावेश से कथा में रोमांचक गुण बढ़ाने का प्रयास यत्र-तत्र-सर्वत्र मिलता है। रोमांचक काव्य के कवियों का यह भी प्रयास होता है कि भवान्तर-वर्णन के समान अवान्तर-कथाओं के वर्णन से काव्य की कथावस्तु में जटिलता पैदा की जाय जिससे पाठक की उत्सुकता उनके प्रति बनी रहे। सब रोमांचक महाकाव्यों में लोक-प्रचलित कथानक-रूढ़ियों का प्रयोग भी खुलकर होता है। चित्र-दर्शन या गुण-श्रवण से प्रेम होना, सिंहलद्वीप या समुद्र-यात्रा में जहाज टूटना और विपत्ति को झेलते हुए नायक का किसी राजा की राजधानी में पहुँचकर अन्त में उसकी कन्या को प्राप्त करना, विरह से ऊबकर नायिका का आत्महत्या के लिए सन्नद्ध होना और तत्क्षण नायक का प्रकट होकर उसकी प्राण-रक्षा करना आदि ऐसी कथानक रूढ़ियाँ हैं जो युगों से जन-मन का रंजन करती आ रही हैं और इसीलिए जिनका उपयोग जैन कवियों ने मुक्त हस्त होकर अपनी रचनाओं में किया है। इस तरह अपभ्रंश के रोमांचक महाकाव्य एक साथ ही धार्मिक और ऐहिक दोनों उद्देश्यों की पूर्ति के लिए लिखे गये प्रतीत होते हैं।

अपभ्रंश के महाकाव्यों की इन आभ्यंतरिक विशेषताओं का वर्णन करने के पश्चात् उनकी वाह्य प्रबन्धात्मक रूढ़ियों को भी देख लेना चाहिए।

संस्कृत में महाकाव्यों का सर्गबद्ध होना प्रथम लक्षण कहा गया है। अपभ्रंश के महाकाव्य संधि-बद्ध होते हैं। हर संधि कई कडवकों में विभाजित होती है जिनकी संख्या प्रायः १५ और २० के अन्दर सीमित होती है। हर कडवक में कुछ पंज्झटिका या अलिल्लह छंदों के पश्चात् घत्ता का प्रयोग मिलता है। स्वयंभू ने अपभ्रंश में इस शैली को आरंभ किया और बाद के सभी अपभ्रंश कवियों ने इसका अनुगमन किया। बाद में इसी शैली में जायसी ने "पद्मावत" और तुलसीदास ने "रामचरित-मानस" की रचना की। स्वयंभू ने अपने महाकाव्यों को काण्डों में भी विभक्त किया था, कदाचित् रामायण और महाभारत के प्रभाव से। पर बाद के अपभ्रंश कवियों ने कांडों में विभाजन की इस पद्धति को नहीं अपनाया।

तुकान्त मात्रिक छंद अपभ्रंश की अपनी विशेषता है। इन छंदों का मुक्त प्रयोग अपभ्रंश के महाकाव्यों में हुआ। इनमें पज्झटिका या पद्धडिया, अलिल्लह या अडिल्ल और रड्डा बहु प्रचलित छंद हैं। पज्झटिका, जिसका अधिकांश में प्रयोग हुआ है, हिन्दी के चौपाई-छंद का ही एक रूप है। दोहा या दूहा का प्रचलन भी अपभ्रंश-काल से ही आरंभ हुआ। छंद की दृष्टि से अपभ्रंश महाकाव्य के रूपविधान का हिन्दी पर अत्यधिक प्रभाव दिखाई देता है। इसका कुछ विस्तार से वर्णन आगे किया जायगा।

अपभ्रंश महाकाव्य की यह भी एक प्रबन्धात्मक रूढ़ि है कि कथा का प्रारंभ दो व्यक्तियों के प्रश्नोत्तर से होता है। ये व्यक्ति अधिकांशतया श्रेणिक और गौतम गणधर होते हैं। कथा की शृंखला को सुव्यवस्थित रखने के लिए बीच में भी स्थान-स्थान पर प्रश्नोत्तर की शैली का उपयोग किया जाता है। "रिट्ठणेमिचरिउ" में कौरव-पाण्डवों के बीच कई दिन तक चलने वाले युद्ध का वर्णन इसी शैली में हुआ है। वस्तुतः इस शैली का आदि उत्स लोककथाओं या कथात्मक काव्यों में ढूंढ़ा जा सकता है जिनका अपभ्रंश के महाकाव्य पर बहुत अधिक प्रभाव है। अन्य विशेषताओं की भाँति अपभ्रंश महाकाव्य की इस विशेषता को भी हम हिन्दी महाकाव्यों में अपनाये जाते हुए देखेंगे।

अध्याय ६

पउमचरिउ एवं रिट्ठणेमिचरिउ काव्य-रूप

इसके पूर्व के अध्याय में अपभ्रंश में महाकाव्य के विकास का विवेचन हो चुका है। प्रस्तुत अध्याय में पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ के काव्य-रूप पर विचार किया जायगा।

पहली बात तो यह है कि दोनों ग्रन्थों के निर्माण में धार्मिक भावना से अनुप्राणित होते हुए भी महाकवि स्वयंभू का मूल उद्देश्य उन्हें काव्य-ग्रन्थ बनाना था। कवि ने अपने इस उद्देश्य का उद्घोष बार-बार किया है। पउमचरिउ के मंगलाचरण में आदि तीर्थंकर ऋषभ जिन की अभ्यर्थना करने के तुरन्त बाद कवि अपने काव्य-कमल के जयशील होने की अभिलाषा करता है—

दीहर-समास-णालं सद्द-दलं अत्थ-केसरुग्घवियं।
बुह-महुयर-पीय-रसं सयम्भु-कव्वुप्पलं जयउ॥

(दीर्घ समास जिसके मृणाल हैं, शब्द पत्ते हैं, अर्थ के पराग से जो सुवासित है और विद्वान् भ्रमर बनकर जिसका रस-पान करते हैं स्वयंभू कवि का ऐसा काव्य-कमल जयशील हो।)

पउमचरिउ की प्रथम संधि के प्रथम कडवक में चौबीस तीर्थंकरों का स्मरण और गुण-गान करने के पश्चात् कवि कहता है—

इय चउवीस वि परम-जिण पणवेप्पिण भावें।
पुणु अप्पाणउ पायडमि रामायण-कावें॥ १. १. १९.

(इस प्रकार इन चौबीस परम जिनों की भाव सहित बन्दना कर मैं इस रामायण-काव्य के माध्यम से अपने आपको प्रकट करता हूँ।)

रामकथा की रचना में प्रवृत्त कवि केवल धर्म-चर्चा में नहीं लगा है, अन्यथा वह अपने को "कविराज" न कहता—

पुणु रविसेणायरिय-पसाएँ। बुद्धिए अवगाहिय कइराएँ। १. २. ९.

(तदनन्तर आचार्य रविषेण के प्रसाद से कविराज (स्वयंभू) ने अपनी बुद्धि से (राम-कथा का) अवगाहन किया।)

जैन-परम्परा में दीर्घकाल से प्रचलित रामकथा-धारा का अवगाहन करने के लिए तत्पर कवि अपने को कविराज कहकर एक प्रकार से आत्म-विश्वास की सूचना देता है।

आगे की कतिपय पंक्तियों में आत्म विनय प्रकट करता हुआ वह अपने को "कुकई" कहता है और काव्य-रचना के विविध अंगों से अनभिज्ञता प्रकट करता है।[1] वह कहता है, "फिर भी मैं काव्य-व्यवसाय को नहीं छोड़ पा रहा हूँ"—

ववसाउ तो वि णउ परिहरमि। वीर रड्डाबद्ध कव्वु करमि। १. ३. ९.

१—प० च०, १.३।

भामह, दण्डी आदि से अनभिज्ञता स्वीकार करने वाला पउमचरिउ का कवि रिट्ठणेमिचरिउ में भी पहले कुछ ऐसा ही अज्ञान प्रकट करता है—

> चिंतवइ सयंभु काइ करिम्म। हरिवंस-महण्णउ कें तरम्मि ॥
> गुरु-वयण-तरंडउ लद्धु णवि। जम्महो वि ण जोइउ को वि कवि ॥
> णउ णाइउ बाहत्तरि कलाउ। एक्कु वि ण गंथु परिमोक्कलाउ ॥
> तहिं अवसरि सरसइ धीरवइ। करि कव्वु दिण्ण मइ विमल मइ ॥

(स्वयंभू को चिन्ता हो रही है कि हरिवंश-रूपी महासागर को कैसे पार करूँ। गुरु-शिक्षा की नौका प्राप्त नहीं की और न जन्म-भर किसी कवि का दर्शन किया। बहत्तर कलाओं में से किसी का ज्ञान नहीं और एक भी ग्रन्थ का अवलोकन नहीं किया। उसी समय सरस्वती ने कवि को धैर्य दिया कि हे कवि, काव्य करो, मैंने तुम्हें विमल मति दी।)

सरस्वती का वरदान प्राप्त कर मानो कवि का आत्म-विनय, आत्म-विश्वास में परिवर्तित हो जाता है और वह बताने लगता है कि रिट्ठणेमिचरिउ की रचना में उसे किस-किस कवि-आचार्य से क्या-क्या काव्य-तत्व प्राप्त हुए। इन्द्र से व्याकरण, भरत से रस; व्यास से विस्तार, पिंगलाचार्य से छन्द, भामह-दण्डी से अलंकार, बाण से शब्दाडम्बर, श्री हर्ष से निपुणत्व, अन्य कवियों से कवित्व, चतुर्मुख से दुवई, ध्रुवक, पद्धडिया आदि छन्द प्राप्त कर कवि रिट्ठणेमिचरिउ के निर्माण में प्रवृत्त होता है।[1]

आशय यह है कि स्वयंभू के दोनों ग्रन्थों की प्रस्तावना से यही विदित होता है कि कवि काव्य-रचना का अभियान कर रहा है, न कि किसी प्रकार के धर्म-ग्रन्थ या पुराण-रचना का। स्वयंभू के दोनों ग्रन्थों के काव्य-रूप पर विचार करने के पूर्व कवि के उद्देश्य का यह स्पष्टीकरण आवश्यक था।

काव्य-रूप से क्या तात्पर्य है, इसे भी यहाँ स्पष्ट कर देना चाहिए। काव्य-रचना में प्रवृत्त कवि अपनी विषय-सामग्री का नियोजन कई प्रकार से कर सकता है, अपनी प्रतिभा और विषय-वस्तु की माँग के अनुसार वह उसे महाकाव्य, खण्ड-काव्य, गीति-काव्य, नाटक, गद्य-काव्य—जैसे कहानी, उपन्यास—आदि कोई रूप दे सकता है। फिर उस वृहद् रूप-विधान के अन्तर्गत वह विषय-सामग्री के उप-विभाजन की योजना बनाता है, विविध कथा-तत्वों के बीच परिग्रहण और परित्याग की नीति निश्चित करता है, वर्णन-विस्तार और संक्षेपीकरण का विचार करता है, पात्रों का आपेक्षिक महत्व निर्धारित कर उनके चरित्र-चित्रण के अवसर निकालता है, रस और अलंकारों के समावेश की युक्ति सोचता है, अपनी बहुज्ञता-प्रदर्शन का मौका ढूंढ़ता है, और यह सब कुछ करते हुए उसका प्रयत्न यह होता है कि जो काव्य-रूप उसने चुना है उसके विविध अंगों में, वर्णनों में और चित्रणों में उचित अनुपात रहे ताकि पूरी रचना रूप-सौष्ठव के गुण से समन्वित हो सके।

पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ के काव्य-रूप पर विचार करते समय हमें ऊपर कथित बातों को ध्यान में रखकर चलना होगा जिससे हम देख सकें कि स्वयंभू को अपनी कृतियों को सुष्ठु, सुगठित और समानुपात-गुण-समन्वित बनाने में कहाँ तक सफलता हुई है।

१—रि० च०, १.२।

काव्य-रूपों में पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ महाकाव्य की कोटि में आते हैं। महाकाव्य के अनेक प्रकारों में इनकी गणना पौराणिक चरित महाकाव्यों की श्रेणी में है। कवि ने इनको कहीं "पुराण" कहा है, कहीं "चरित"। इसका कारण यह है कि जिस समय इन ग्रन्थो की रचना हुई उस समय जैन कवियों के द्वारा संस्कृत और प्राकृत में इन नामों से पौराणिक और चरित महाकाव्यों की एक नई शैली का आविष्कार हो चुका था। अपभ्रंश में इस नई महाकाव्य-शैली का प्रचलन स्वयंभू ने किया। इस नई शैली के महाकाव्यों के लिए मूल प्रेरणा और कथावस्तु जैनाचार्यों की एतद् विषयक धार्मिक कृतियों या जैन-पुराणों से प्राप्त हुई। पौराणिक और चरित महाकाव्यों की मुख्य विशेषताओं का कुछ वर्णन गत अध्याय में हो चुका है।[1] यह भी बताया जा चुका है कि पौराणिक और चरित महाकाव्यों में वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है। यह भी एक कारण हो सकता है कि स्वयंभू ने अपने काव्य को कहीं पुराण कहा है और कहीं चरित।

"पउमचरिउ" की अधिकांश पुष्पिकाओं में कवि ने उसे पउमचरिउ या पौमचरिउ कहा हैं। १८ संधि के अन्त में उसे "रामएव चरिउ" कहा गया है और ८६ सन्धि की पुष्पिका में केवल "रामचरिय"। १ संधि में कवि ने ग्रंथ को "रामायण काव" (१. १. १९) कहा है और संधि २३ और ४० के अन्तर्गत उसे "राघव चरिय" नाम दिया है। ग्रन्थ के अन्त की प्रशस्ति में स्वयंभू के पुत्र त्रिभुवन स्वयंभू ने उसे "रामायण पुराण" कहा है।[2] इसके अतिरिक्त ग्रन्थ की कुछ पाण्डुलिपियों में "पद्म पुराण" भी लिखा मिलता है। तात्पर्य यह है कि अधिकांश में "चरिउ" नाम से अभिहित होते हुए "पउमचरिउ" "पुराण" संज्ञा भी प्राप्त करता आया है।

इसी तरह "रिट्ठणेमिचरिउ" चरिउ के साथ "पुराण" भी कहलाता रहा है। वह "हरिवंश" नाम से भी प्रसिद्ध है। प्रारंभ में कवि को "हरिवंस-महर्णव" तैरने की चिन्ता होती है।[3] पुनः सरस्वती का आशीर्वाद प्राप्त कर वह "हरिवंस-कहा" आरंभ करता है। ग्रन्थ के अन्त में उसे हरिवंश के साथ ही "भारत पुराण" भी कहा गया है।

इह भारह-पुराण सुपसिद्धउ। णेमि,चरिय-हरिवंसा इद्धउ।।
सबसे अन्त में कहा गया है—इति हरिवंश पुराणं समाप्तं।

नामों की सार्थकता देखने के लिए पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ के "पुराणत्व" और "चरितात्मकता" पर विचार किया जाय, उसके पहले इनके नामकरण में एक अन्तर ध्यान देने योग्य है। रिट्ठणेमिचरिउ को कहीं हरिवंश कहा, कहीं हवंरिश पुराण और कहीं भारत पुराण। प्रत्येक नाम से कथावस्तु का कोई-न-कोई अंश द्योतित होता है। रिट्ठणेमि से तीर्थंकर नेमिनाथ का कथांश सूचित होता है, हरिवंश से यादव वंश की कथा की ओर संकेत होता है और भारत पुराण से कौरवों-पाण्डवों के संग्राम की ओर। "रिट्ठणेमिचरिउ" के सब नाम मिलकर उसकी पूरी कथा-वस्तु को भली-भाँति प्रकट कर देते हैं। "पउमचरिउ" और उसके विविध पर्यायों में राम की ही एकान्त प्रधानता है। यह है भी ठीक, क्योंकि पउमचरिउ में रामकथा में कोई मिश्रण नहीं है। राक्षस-वानर-विद्याधर, जो अपनी कथाओं से रामकथा

१—देखिए अध्याय ५, पृ०

२—इय रामायण पुराणं समत्तं १७.

३—चिन्तवइ सयंभु काइ करम्मि। हरिवंश-महण्णउ के तरम्मि। १, १. रि० च०।

की पृष्ठभूमि बनाते हैं, उसके नामोल्लेख में स्थान के अधिकारी नहीं है। नेमि तीर्थंकर को जो स्थान हरिवंस में प्राप्त है उसका लेश भी सुव्रत तीर्थंकर को "पउमचरिउ" में नहीं है। समूचे पउमचरिउ में केवल दो बार उनका नाम आया है।[1] केवल इतने से "पउमचरिउ" का नामकरण उनके नाम पर होना संभव नहीं था। रिट्ठणेमिचरिउ की एक पंक्ति का[2] प्रेमी जी ने ऐसा अर्थ निकाला है जिससे "पउमचरिउ" का दूसरा नाम सुव्वय चरिउ (सुव्रत चरित) भी होता है। पर भायाणी जी ने सुव्वय पाठ को अशुद्ध मान प्रेमी जी के अर्थ को अमान्य कह दिया है।[3] भायाणी जी का मत ठीक भी लगता है क्योंकि जिस ग्रन्थ में सुव्रत स्वामी का, दो बार नाम आने के अतिरिक्त, कुछ भी चरित न आया हो, उस ग्रन्थ को "सुव्वयचरित" कैसे कहा जा सकता है ?

यह तो हुई नाम की बात। अब इन ग्रन्थों के "पुराणत्व" और "चरितात्मकता" पर विचार करें। इनके "पुराण" कहलाने से भ्रम नहीं होना चाहिए। ये ग्रन्थ जैन पुराणों में नहीं हैं वरन् जैन-पुराणों पर आधारित ये काव्य-ग्रन्थ हैं। अपभ्रंश में पुराण नाम से जितने ग्रन्थ रचित हैं वस्तुतः वे सभी काव्य-ग्रन्थ हैं। हिन्दू पुराणों के समकक्ष जिन्हें हम जैन पुराण कहते हैं वे सभी दिगम्बर जैनाचार्यों द्वारा संस्कृत में निर्मित हैं। वे जैनों के धार्मिक ग्रन्थ हैं, साहित्यिक नहीं। यों तो कोई पुराण ऐसा नहीं होगा जो काव्य-तत्वों से सर्वथा असम्पृक्त हो। श्रीमद्भागवत के सम्बन्ध में तो बिंटरनित्स का कहना है कि भाषा, शैली, छन्द और कथा की अन्विति, सभी दृष्टियों से वह एक साहित्यिक रचना है।[4] अग्नि-पुराण छन्द, अलंकार और रस-शास्त्र की दृष्टि से भी स्वतंत्र अध्ययन का विषय हो रहा है। रवि के "पद्मपुराण" और जिनसेन के हरिवंस में स्थान-स्थान पर मर्मस्पर्शी और रस-सिक्त काव्यात्मक वर्णन हैं। "पद्मपुराण" में पवनंजय और अंजना के संभोग शृंगार का वर्णन इस प्रकार हुआ है कि वह अश्लीलता की सीमा स्पर्श करता है।[5] फिर भी पुराणों की गणना काव्य ग्रन्थों में नहीं की जाती, उनका उद्देश्य धार्मिक और उपदेशात्मक होता है और उनकी रूप-रचना में प्रबन्धात्मकता, कथान्विति, अलंकृति और भाषा सौन्दर्य का ध्यान नहीं रखा जाता, रस परिपाक भी उनका लक्ष्य नहीं होता। पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ काव्य ग्रन्थ हैं क्योंकि उनकी रूप-कल्पना तथा निर्मिति उपर्युक्त विशेषताओं को सामने रखकर की गई है। उन्हें पौराणिक शैली का महाकाव्य इसलिए कहा जाता है कि काव्य-गुणों के साथ ही उनकी रूप-रचना में कुछ विशेषताएँ पुराणों की भी शामिल हैं—जैसे वर्णन में वक्ता-श्रोता प्रणाली, भवान्तर-कथाएँ, अलौकिक-अप्राकृत-तत्व, घटना-वैचित्र्य, कथा के अन्तर्गत कथा कहने की प्रवृत्ति, भवान्तर कथन, उपदेशात्मकता, स्वमत प्रचार आदि। कुछ लोग पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ को पौराणिक महाकाव्य केवल इसलिए भी कहना पसन्द करेंगे कि उनकी कथावस्तु पुराणों से ली गई है किन्तु हम जानते हैं कि यह विचार-धारा गलत है। कुमारसम्भव, रघुवंश, शिशुपाल-बध आदि महाकाव्योंको हम पौराणिक शैली का महाकाव्य नहीं कहते, यद्यपि उनकी कथावस्तु पौराणिक है।

१—२३. १०. १ तथा ४०. १. १।

२—काऊण पौम चरियं सुव्वय चरियं च गुणगणग्घवियं। रि० च० ९९।

३—भायाणी संपादित "पउमचरिउ" खंड १, प्रस्तावना, पृ० ४३।

४—ए हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर, खण्ड १, पृ० ५५६।

५—पद्मपुराण, पर्व १६. १९१-२०९।

पउमचरिउ और रिट्टणेमिचरिउ के पौराणिक शैली के महाकाव्य कहे जाने का एक प्रधान कारण यह है कि इनकी कथा का वर्णन, पुराणों के ढंग पर वक्ता-श्रोता पद्धति से हुआ है। दोनों में प्रश्नकर्त्ता श्रेणिक हैं और उत्तर में राम तथा कृष्ण की कथा का आख्यान करने वाले गणधर गौतम हैं। श्रेणिक के जिज्ञासामय प्रश्न और गौतम के उत्तर की शब्दावली[१] दोनों ग्रन्थों में लगभग समान है। संवाद की निरन्तरता का बोध बनाये रखने के लिए पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ की कथा के बीच में भी श्रेणिक-गौतम का प्रश्नोत्तर दुहराया जाता है।[२] पुराणों की भाँति इन दो प्रधान वक्ता-श्रोता के अतिरिक्त अन्य अनेक सम्वाद-कर्त्ताओं की भी योजना बीच-बीच में मिलती है। कहीं ऋषभ, कहीं अजित तीर्थंकर जैन-धर्म के सिद्धान्तों का कथन करते हैं तो कहीं कोई केवली लिकाश पालों के भवान्तरों का वर्णन करता है, कहीं भीष्म पितामह मृत्यु शैय्या पर पड़े जिन-धर्म का कर्मकाण्ड बताते हैं तो कहीं नेमि तीर्थंकर यादव-वंश के विनाश की सूचना देते हैं। इस प्रकार पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ की पूरी कथा प्रश्नोत्तरों, सम्वादों और व्याख्यानों के रूप में आगे बढ़ती है।

अवान्तर कथाओं का भी इन महाकाव्यों में बाहुल्य है। पउमचरिउ में पूरा विद्याधर काण्ड—जिसमें बानरों, राक्षसों और विद्याधरों का वर्णन है—अवान्तर कथाओं का ही काण्ड है। अयोध्याकाण्ड में बज्र-कर्ण-सिंहोदर, कल्याणमाला, वनमाला, कपिल आदि प्रसंग अवान्तर कथाओं के उदाहरण हैं। विद्युदंग चोर और जटायु के उपाख्यान भी इसी काण्ड में मौजूद हैं। सुन्दरकाण्ड में सुग्रीव-विट सुग्रीव, हनुमान-महेन्द्र, दधिमुख-अंगारक की अवान्तर कथाएँ हैं।

रिट्ठणेमिचरिउ का पूरा महाभारत-प्रसंग अवान्तर कथा के रूप में लेना चाहिए। प्रारंभ में ही बसुदेव का जो इतना विस्तार किया गया है वह भी अवान्तर कथा है।[३] इसमें सन्देह नहीं कि रिट्ठणेमिचरिउ में पउमचरिउ की अपेक्षा अवान्तर कथाओं की संख्या कम है, किन्तु इसका मुख्य कारण यह है कि महाभारत के युद्ध का विस्तृत वर्णन कवि को और कथाओं के लिए अवकाश नहीं देता।

अलौकिक-आप्रकृत तत्वों का समावेश स्थान-स्थान पर मिलता है। योद्धाओं की ओर से उनकी सिद्धियाँ या विद्याएँ प्रायः युद्धकरती दिखाई गई हैं।[४] अनेक उपसर्गों का भी वर्णन

१—श्रेणिक : (क) परमेसर पर सासणेंहि सुव्वह विवरेरी।
कहें जिण-सासणें केम थिय राहव केरी॥
अणे लोएंहि ढक्करिवन्तएंहि। उप्पाइउ मन्तिउ मन्तएंहि। प० च०
(ख) थिउ जिण-सासणे केम, कहि हरिवंसु भडारा॥
णउ फिट्टइ अज्जवि मंति मणे, विवरेरउ सुव्वइ सव्व जणे। रि० च०
गौतम : (क) तं णिसुणेवि वुच्चइ गणहरेण। सुणे सेणिय किं वहु वित्थरेण। प० च०।
(ख) तहिं सुण वियय्यछ मुणि मणहव। सुणि सेणिय आहासइ गणहरु। रि०च०

२—प० च०, संधि ५.८६। रि० च०, संधि, ३६, ४०, ५५, ६५ आदि।

३—रि० च०, संधि १।

४—प० च० संधि १०, १२, ४२, ४३, ८५ आदि। रि० च०, संधि ३०।

मिलता है जिसमें अलौकिक और अमानवीय कृत्यों के दर्शन होते हैं।[१] घटना-वैचित्र्य से भी पाठकों को चकित किया जाता है।[२]

पौराणिक वर्णनों की भाँति पउमचरिउ और रिट्ठणेमि भी भवान्तर-कथनों से परिपूर्ण हैं। इनके कारण कथा की गति प्राय: अवरुद्ध हो जाती है।[3] उपदेशात्मक प्रवृत्ति और स्वधर्म-प्रचार की मूल प्रेरणा से लिखे जाने के कारण इन ग्रन्थों में जैन-सिद्धान्त-कथन की भी अधिकता है।[४] इनके कारण भी कथा-प्रवाह शिथिल और अवरुद्ध होता है।

पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ की रचना-शैली की उपर्युक्त कुछ विशेषताएँ ही उन्हें पौराणिक शैली का महाकाव्य सिद्ध करती हैं। उनके काव्य-रूप पर इन विशेषताओं की अमिट छाप है। इनके कारण उन पर धार्मिकता का गहरा आवरण पड़ गया है और काव्य-कृति के रूप में उनका प्रभाव स्थान-स्थान पर दब-सा गया है। इसका विश्लेषण हम अभी आरंभ करते हैं। किन्तु उसके पहले इन काव्यों की "चरितात्मकता" के विषय में भी थोड़ा विचार कर लेना उपयुक्त होगा। चरितकाव्य की विशेषता यह है कि वह वर्णन-प्रधान न होकर व्यक्ति-प्रधान होता है; अर्थात् वह कुछ घटनाओं को चुनकर उन्हीं के विस्तृत वर्णन पर ध्यान केन्द्रित नहीं करता वरन् नायक और उससे सम्बन्धित पात्रों के जीवन-वृतान्तों को आद्योपान्त देने का उपक्रम करता है। वह घटना-विशेष का नहीं, वरन् समग्र जीवन का विवरण प्रस्तुत करना चाहता है। उसकी शैली शीघ्र-गामी होती है। पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ दोनों इसी प्रकार के चरित काव्य हैं जिनमें राम और कृष्ण तथा उनसे सम्बन्धित अनेकानेक पात्रों का जीवन-चरित—भवान्तरों के सहित—आद्योपान्त वर्णित हुआ है। इस उपक्रम में काव्य-तत्वों को स्थान-स्थान पर जो क्षति पहुँची है उसका वर्णन नीचे किया जा रहा है। पौराणिक काव्य में भी जीवन गाथात्मक और उपदेशात्मक प्रवृत्ति से काव्य को क्षति पहुँचती है, यह ऊपर कहा जा चुका है। इसलिए वस्तुतः पौराणिक काव्य और चरितात्मक काव्य की समस्याएँ एक सी हैं, उनके गुण-अवगुण एक से हैं और किसी कृति के काव्य-रूप और प्रभाव पर उनकी प्रतिक्रिया एक सी होती है। इसलिए विद्वानों ने पौराणिक काव्य और चरित-काव्य में कोई भेद नहीं माना है।[५]

अब महाकाव्य के रूप में पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ का विश्लेषण करते हुए हम देखेंगे कि स्वयंभू ने महाकाव्य की शर्तों को कहाँ तक निभाया है और उनके धार्मिक पूर्वाग्रह का इन कवियों के काव्य-रूप पर क्या प्रभाव हुआ है।

प्रत्यक्षतः पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ में महाकाव्य के सभी लक्षण विद्यमान हैं। दोनों सर्गबद्ध रचनाएँ हैं, दोनों की कथावस्तु सर्वाधिक ख्याति-प्राप्त है, दोनों के नायक भारतीय संस्कृति के मूलाधार दो महान् युग पुरुष हैं, दोनों की भाषा साहित्यक, ग्राम्यत्व दोष रहित, पांडित्यपूर्ण प्रांजल और प्रौढ़ है, दोनों में जीवन की नाना दशाओं और अनुभूतियों का चित्रण

१—प० च०, संधि ३२, ४१, ४७।

२—प० च०, संधि ४७।

३—प० च०, संधि, २२, ३३, ३५, ६९, ७९, ८४ आदि रि० च०, संधि, ९८ आदि।

४—इसका विस्तृत वर्णन स्वयंभू के "धार्मिक और दार्शनिक विचार" नामक अध्याय में मिलेगा।

५—हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृ० १७५।

है, दोनों प्रकृति के अनेक दृश्यों और वस्तु-वर्णनों से अलंकृत हैं, दोनों में अलंकारों की विशद योजना है, दोनों का पर्यवसान जीवन के चरम उद्देश्य की महान् सिद्धि की उच्च भूमि पर शान्त-रस में होता है। इस प्रकार पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ में लगभग वे सभी विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं जिनकी हम सामान्य रूप से एक महाकाव्य में खोज करते हैं।

विश्लेषण करने पर इन ग्रंथों के काव्य-रूप पर और अधिक प्रकाश पड़ता है। इन महाकाव्यों की रूप-योजना में कुछ बातें सामान्य रूप से लागू होती हैं। दोनों महाकाव्यों को कवि ने काण्डों में विभक्त किया है, फिर काण्डों को संधियों में। संधियाँ कई उपविभागों में बाँटी गई हैं जिन्हें कडवक कहते हैं। कडवक प्रायः ८ यमकों का बना होता है—यद्यपि इस नियम के अपवाद भी बहुत से मिलते हैं। प्रत्येक कडवक के अन्त में एक घत्ता होता है। हर सन्धि के प्रारम्भ में भी घत्ता की ही भाँति का एक छन्द पाया जाता है। इसके द्वारा सन्धि की प्रधान घटना का पूर्व-ज्ञान हो जाता है। सन्धि के अन्त में पुष्पिका होती है जिसमें प्रायः उस सन्धि में वर्णित विषय का उल्लेख मिलता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि कथा-वस्तु को काण्डों में विभाजित करने की योजना स्वयंभू को आदि कवि वाल्मीकि से मिली। स्वयंभू के पूर्ववर्ती जैन लेखकों में ऐसा विभाजन नहीं मिलता। विमल सूरि ने "पउमचरिय" के प्रथम ३५ अध्यायों को "उद्देस्स" कहा है और शेष ८३ अध्यायों को "पर्व"। इस विभेदीकरण का रहस्य ज्ञात नहीं। रविषेण ने "पद्मपुराण" के अध्यायों को "पर्व" नाम से अभिहित किया है। इन दोनों में से किसी ने अपने ग्रन्थ को खण्डों या काण्डों में नहीं बाँटा है। महाभारत पर्वों में विभक्त है और पुनः प्रत्येक पर्व कई अध्यायों में। महाभारत के पर्व "रामायण" के काण्डों के समक्ष हैं और अध्याय सर्ग, संधि या "उद्देस्स" के। कथावस्तु के काण्डों में विभाजन की परिकल्पना महाकवि वाल्मीकि का आविष्कार है। स्वयंभू ने अपनी कथा में उन्हीं का अनुकरण किया है।

अब हम पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ को अलग-अलग लेकर प्रत्येक के काव्य-रूप का परीक्षण कर सकते हैं।

पउमचरिउ ५ काण्डों में विभक्त है—विद्याधर, अयोध्या, सुन्दर, युद्ध और उत्तर। इनमें क्रमशः २०, २२, १४, २१ और १३ संधियाँ हैं। इस प्रकार पउमचरिउ में कुल मिलाकर ९० संधियाँ हैं। इनमें सब १२६९ कडवक हैं। सबसे बड़ी ८४ संधि है जिसमें कडवकों की संख्या २५ है। १० कडवकों वाली ४७वीं संधि सबसे छोटी है। कडवकों की संख्या की दृष्टि से अयोध्या काण्ड सबसे बड़ा और उत्तरकाण्ड सबसे छोटा है, इनमें क्रमशः ३२७ और २०० कडवक हैं। जिस प्रकार नाटक में अंक उत्तरोत्तर छोटे हो जाते हैं उसी प्रकार का कोई नियम पउमचरिउ के काण्ड-विभाजन में नहीं निभाया गया है। यदि ऐसा होता तो सुन्दरकाण्ड से युद्धकाण्ड का आकार इतना बड़ा नहीं होने पाता। सुन्दरकाण्ड में १४ संधियाँ और २०० कडवक हैं तो बाद में आने वाले युद्ध कांड में २१ संधियाँ और ३१४ कडवक हैं। संधियों की दृष्टि से उत्तरकांड सुन्दरकाण्ड से छोटा है, लेकिन कडवकों की संख्या उत्तर-काण्ड में अधिक है, उसमें सब २१३ कडवक हैं। तात्पर्य यह है कि कथावस्तु को काण्डों, संधियों या कडवकों में विभाजित करते समय कवि ने किसी अनुपात का सिद्धान्त सामने रखा हो, ऐसा नहीं प्रतीत होता। किसी कला कृति की बाह्य रूप-रचना में ऐसे अनुपात का महत्व होता है, यह बताने की आवश्यकता नहीं।

कथावस्तु का काण्डों में विभाजन करने में स्वयंभू ने स्वतन्त्रता से काम लिया है। विमलसूरि ने "पउमचरिय" की प्रस्तावना में बताया है कि रामकथा के सात अधिकार हैं— १—विश्व की स्थिति २—वंशोत्पत्ति ३—युद्ध के लिए प्रस्थान ४—युद्ध ५—लवण एवं अंकुश की उत्पत्ति ६—निर्वाण और अनेक भव ।[1] किन्तु उन्होंने इन अधिकारों के अनुसार ग्रन्थ का कोई विभाजन नहीं किया है, अर्थात् ऐसा नहीं है कि उन्होंने इन अधिकारों को प्रदर्शित करने के लिए ग्रन्थ को ७ खण्डों या काण्डों में बाँटा हो। स्वयंभू ने विमल के ७ अधिकारों द्वारा सूचित रामकथा का ही वर्णन किया है, किन्तु ग्रन्थ को काण्डों में विभाजित किया है और ऐसा करते समय उन्होंने स्वतन्त्रता का परिचय दिया है। विमल की एक विशेषता स्वयंभू में सर्वत्र नहीं मिलती। विमल सूरि ने "पउमचरिय" के प्रत्येक पर्व या अध्याय के अन्त की गाथा में उसमें वर्णित कथा-भाग का उल्लेख कर दिया है। स्वयंभू से यह नियम नहीं चल पाया है। "पउमचरिउ" की केवल १, २, १३, १७ और १८ संधि की पुष्पिकाओं में वर्णित विषय का संकेत मिलता है, शेष में नहीं। त्रिभुवन-स्वयंभू-रचित ८३ से ९० संधि की पुष्पिकाओं में फिर इस नियम का पालन हुआ है।

"पउमचरिउ" के काण्डों के नाम उनके विषय की दृष्टि से सार्थक हैं। कुछ काण्डों में अति व्याप्ति दोष है, जैसा कि आगे के विवरण से ज्ञात होगा। विद्याधर काण्ड में, आरम्भ की ४ संधियों को छोड़कर, जिनमें ऋषभ, जिन और उनके पुत्र भरत-बाहुबलि की कथा है, शेष १६ संधियों में विद्याधरों का ही वर्णन है। विद्याधर, वानर और राक्षस तीनों एक ही मूल से उद्भूत तीन वंश हैं। इन्हीं वंशों के राजाओं और योद्धाओं की परम्परा ईर्ष्या, प्रीति, प्रतियोगिता और संग्राम की चर्चा पूरे काण्ड में वर्णित है। इन्द्र, बालि और रावण विद्याधरों, वानरों और राक्षसों के मुख्य प्रतिनिधि हैं जिनके कृत्यों से इस काण्ड का अधिकांश भाग निर्मित हुआ है। इनमें भी रावण की प्रमुखता है। ९वीं संधि में उसका जन्म होता है और तब से लेकर अन्त तक इस कांड की कथा पर उसका प्रभाव छाया रहता है। उसकी साधना से और वैश्रवण, इन्द्र, यम, सहस्रकिरण आदि प्रतिद्वन्द्वियों पर उसकी विजय से सम्बन्धित घटनाओं का वर्णन कवि ने बड़ी तल्लीनता से किया है। अगर रावण किसी से हारता है तो वानर-राज बालि से।[2] उस हार का प्रतिशोध लेने के लिए कैलास पर जिन-ध्यान में स्थित बालि पर रावण उपसर्ग करता है। वह कैलास के तलभाग में प्रविष्ठ होकर उसे ऊपर टाँग लेने का प्रयत्न करता है पर अन्त में उसके भार से पिसते-पिसते बचता है और बालि की स्तुति करता है। रावण की दूसरी पराजय नैतिक पराजय है। वह तभी होती है जब रावण धर्मरथ महाऋषि के सामने यह स्वीकार करता है कि वह सब कुछ कर सकता है पर अन्य जिन-भक्तों की भाँति कोई महाव्रत नहीं ले सकता।[3] यहीं से उसकी आगामी पराजय की भूमिका तैयार होने लगती है, यद्यपि कवि स्पष्ट शब्दों में इसे कहता नहीं। रावण पर-स्त्री पर, उसकी इच्छा के विरुद्ध अधिकार नहीं करेगा, ऐसी प्रतिज्ञा वह महाऋषि के सामने करता है। लेकिन सीता का प्रसंग, जो आगे आने वाला है, सिद्ध करता है कि रावण अपनी इस प्रतिज्ञा को सच्चे मन से नहीं निभाता। यह उसकी पराजय का दूसरा मूल कारण है।

१—ठिइवंस समुपत्ती, पत्थाणरणं लवंकुसुप्पत्ती ।
निव्वाणमणेयभवा, सत्त सत्त पुराणेत्थ अहियारा ॥ १, ३२ ।

१—प० च० संधि १२ ।

२—वही, संधि १८ ।

कवि ने विद्याधर काण्ड में रावण को जो इतना स्थान और महत्व दिया है उसका मुख्य कारण यह है कि वह आगे प्रतिनायक के रूप में आने वाला है। विस्मय इस बात पर होता है कि विद्याधर काण्ड की पूरी कथा इस भाँति वर्णित है कि उससे आगे आने वाली कथा का कोई आभास नहीं होता। वह वानरों, विद्याधरों और राक्षसों के पारिवारिक कलह, प्रतिद्वन्द्विता और युद्धों का स्वतंत्र इतिहास सा लगता है। सम्पूर्ण ग्रंथ की जो आधिकारिक कथावस्तु है उसका यह अविच्छेद्य अंग नहीं लगता। राम-कथा से विद्याधर काण्ड कुछ इतना निरपेक्ष लगता है कि पाठक चाहे तो इसका स्वतंत्र रसास्वादन कर सकता है।

इस कथन में स्वयंभू की निंदा भी है और प्रशंसा भी। प्रबन्धात्मकता और कथान्विति की माँग के अनुसार कवि को चाहिए था कि वह यथास्थान आगामी कथा भाग से प्रस्तुत वर्णन का सम्बन्ध-सूत्र स्थापित करता चले। प्रशंसा की बात यह है कि विद्याधर कांड में कवि ने इतनी तन्मयता दिखाई है कि वह विद्याधरों के संसार में सब कुछ भूल गया है। पाठक भी अति मानवीय जगत में पहुँच कर थोड़ी देर के लिए वहीं रम जाता है। ऐसे मोहक वातावरण की सृष्टि में तल्लीन कवि के लिए आश्चर्य नहीं कि वह आगे की घटनाओं से सूत्र जोड़ने का ध्यान खो बैठा हो।

विद्याधर काण्ड के वस्तु-संगठन में कहीं भी शैथिल्य नहीं दिखाई देता। घटनाओं में क्रमबद्धता और पूर्वापर सम्बन्ध बराबर मिलता है। केवल एक स्थान ऐसा है जहाँ पूर्व परिचय के अभाव में कुछ देर के लिए कथा-प्रवाह समझने में कठिनाई होती है। जब भीम और सुभीम पूर्व जन्म के स्नेह से घनवाहन का आलिंगन करते हैं।[१] उस समय तक पाठक को यह पता नहीं रहता कि ये भीम-सुभीम कौन हैं। इसलिए वह कठिनाई में पड़ जाता है। इसका पता आगे[२] चलकर होता है कि ये महाराज सगर के साठ हजार पुत्रों में हैं। वस्तुतः पाठक को इसकी सूचना पहले होनी चाहिए थी।

युद्ध-वर्णन स्वयंभू का प्रिय विषय है और उसका क्रम विद्याधर कांड में आरंभ हो जाता है। कथा-प्रवाह को मंद बनाने में उनका बड़ा हाथ होता है पर उसके बिना पात्रों के चरित्र-चित्रण का अवसर ही नहीं मिलता। युद्ध के साथ स्वयंभू ने मानवीय और प्राकृतिक सौन्दर्य का चित्रण भी मुक्त हस्त से किया है। जल क्रीड़ा का वह मनोरम वर्णन जिसके विषय में कवि की गर्वोक्ति[३] प्रसिद्ध है, इसी कांड में मिलता है।

अयोध्या कांड में पहुँचने पर राम के जन्म के साथ आधिकारिक कथा का आरंभ होता है। वह बड़ी तीव्रता से आगे बढ़ती है और तीन संधियों में राम का विवाह और वनवास दोनों हो जाते हैं।[४] आगे की २४ से ३५ तक की संधियों में अवान्तर कथाओं का वर्णन है जिससे राम-लक्ष्मण के शौर्य, पराक्रम, शरणागत-रक्षा और जिन-धर्म के प्रति अनुरक्ति का बार-बार बोध कराया जाता है। आधिकारिक कथा ३६ वीं संधि से पुनः आगे बढ़ती है। जब खर

१—प० च०, ५. १०. ११।

२—वही, ५. ११. ३।

३—जल कीलाए स्वयंभू चरमुहरुवं च गोग्गह-कहाएं।
  मद्दं च मच्छवे हैं अज्ज वि कइरणो न पावन्ति ॥ १४. १३. १०.।

४—संधि २१. २२. २३।

राक्षस की पत्नी चन्द्रनखा राम-लक्ष्मण पर आसक्त होती है और उनसे ठुकराई जाकर पति को युद्ध के लिए प्रेरित करती है। ३८वीं संधि में रावण द्वारा सीता-हरण होता है। फिर वियोग से संतप्त राम विराधित विद्याधर की राजधानी तमालंकार नगर में आश्रय ग्रहण करते हैं और वहाँ से सीता की खोज की योजना बनाते हैं। उधर रावण लंका के नन्दन वन में सीता को स्थित कर उन्हें फुसलाने के प्रयत्न में लगता है। उसके अनर्थकारी कार्य का अवश्यम्भावी परिणाम जानकर विभीषण आशाली विद्या से लंका के चारों ओर माया का प्राचीर खिंचवा कर उसकी रक्षा का प्रबन्ध करता है।

अयोध्याकाण्ड में वर्णित इस कथा भाग को देखकर उसके नाम के औचित्य पर संदेह होने लगता है। इतना तक तो ठीक है कि राम के जन्म, व्याह और बनवास के वृत्तान्त इस काण्ड के अन्तर्गत वर्णित हों। वाल्मीकि में राम के चित्रकूट-वास तक की घटना का वर्णन अयोध्या कांड में है। पर इसके आगे की घटनाएँ अरण्य और आगे के काण्डों में आती हैं। पर स्वयंभू ने रावण द्वारा अपहृत सीता के लंका पहुँचने तक की कथा का वर्णन अयोध्या कांड में ही कर दिया है। इसके लिए कोई औचित्य नहीं है। कथावस्तु को समेटने की शीघ्रता में कवि को इस अनौचित्य का ध्यान कहीं रहा और उसने अयोध्याकांड के अन्तर्गत अयोध्या से लेकर लंका के अंदर तक के कार्य-कलाप का वर्णन कर दिया है।

अयोध्याकांड में कवि ने कथा का जो ढाँचा बनाया है उसमें एक बात की संक्षिप्तता बहुत चिन्त्य लगती है। राम-जन्म के वर्णन में स्वयंभू ने बड़ी कृपणता दिखाई है। चारों भाइयों के जन्म का वर्णन उन्होंने दो पदों के एक यमक में कर दिया है। कैकयी को वरण करने के बाद दशरथ कुछ समय तक कौतुक-मंगल नगर में रहे। फिर बहुत समय के बाद वे अयोध्या लौटे। दशरथ राजा को सकल कलाओं से पूर्ण चार पुत्र उत्पन्न हुए।[१] राम जन्म की इस आकस्मिकता पर पाठक भौचक्का-सा रह जाता है। उसके लिए न तो विशेष रूप से कोई तैयारी होती है और न कोई वातावरण तैयार किया जाता है। हम जानते हैं कि हर तीर्थंकर के जन्म की तैयारी में कितना समय और स्थान लगाया जाता है। केवल पूर्व-स्वप्नों का और प्रकृति का आह्लाद वर्णन करने में कवियों ने कलम तोड़ दी है, अपना काव्य-कौशल दिखाने में कुछ उठा नहीं रखा है। इसी पउमचरिउ में आदि तीर्थंकर ऋषभ के जन्म की तैयारी में कई कडवक व्यय हुए हैं जबकि इनके न होने से मूल कथा को क्षति पहुँचने की कोई आशंका नहीं थी। पर काव्य के नायक राम के जन्म-वर्णन में—जन्मोत्सव का तो वहाँ नाम ही नहीं है—कवि ऐसी कंजूसी करे, इसका एक ही कारण हो सकता है और वह है धार्मिक पूर्वाग्रह।

जन्म-वर्णन की भाँति ही चारों भाइयों का बाल-वर्णन भी नहीं के बराबर है। कवि ने केवल इतना कह कर संतोष कर लिया कि राजा दशरथ के चार पुत्र मानो भूमंडल के लिए चार महासमुद्र, ऐरावत हाथी के दाँत या सज्जनों के मनोरथों के समान थे।[२] जन्म लेते ही

१—बहु-वासरेंहि अउज्झ पइट्ठइं। सह-वासव इव रज्जे बइट्ठइं॥
सकल कला-कलाव संपण्णा। ताम च चारि पुत्र उप्पण्णा॥ २१.२।

२—प० च०, २१.५.१-२।

चारों भाइयों की कवि ऐसे उपमानों से अभ्यर्थना करेगा, कौन जानता था? इससे तो कई गुणा सुन्दर, स्वाभाविक और विस्तृत वर्णन बाल-कृष्ण का रिट्ठणेमिचरिउ में हुआ है।[1]

अयोध्याकांड में दो स्थानों पर वर्णन-क्रम में कुछ गड़बड़ी लगती है। २४ संधि के पहले कड़वक में राम के वन चले जाने पर अयोध्या की विपन्न दशा का वर्णन है। दूसरे कड़वक में राजा दशरथ के दीक्षा ग्रहण करने की तैयारी का वर्णन है। ३ से ५ कड़वकों में भरत-दशरथ-सम्वाद है जिसमें दशरथ भरत को समझाते हैं कि अभी भरत को राज सुख भोगने का समय है न कि दीक्षा ग्रहण करने का। दशरथ यह भी कहते हैं कि यदि दीक्षा ही इष्ट थी तो राज-पद की कामना क्यों की?[2] इतना कह दशरथ भरत को राजपट्ट बाँध देते हैं। फिर छठे कड़वक में किसी के द्वारा भरत को सूचना दिलाई जाती है कि लक्ष्मण और राम बन को चले गये हैं।[3] इसे सुन भरत मूर्च्छित हो जाते हैं। प्रश्न यह है कि क्या अभी तक भरत को राम-वन-गमन की सूचना नहीं थी, क्या वे अयोध्या के शोक में, जिसका विस्तृत वर्णन ऊपर हो चुका है, सम्मिलित नहीं थे? आखिर वह थे कहाँ?

इसी तरह २५. ८. १२ में बताया गया है कि लक्ष्मण राम को जिनालय में साधनारत छोड़कर सिंहोदर के भवन में घुसे। लेकिन आगे चलकर २५. १२. ८ में वे फिर सिंहोदर-भवन में जाते हुए मिलते हैं। इस बीच वह वजकर्ण आदि के यहाँ जाते हूए दिखाई देते हैं। यह क्रम भी समझ में नहीं आता।

इन दो गड़बड़ियों के अतिरिक्त अयोध्याकाण्ड की कथावस्तु सुनियोजित ढंग से आगे बढ़ती है। उसमें प्रवाह और गतिमयता है। कवि ने कथा को सरस बनाने के लिए उसमें काव्य-तत्वों का पर्याप्त समावेश किया है। इसके लिए अवसर उससे वनों, नदियों और अन्य प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में निकाला है। वनवासियों के जीवन के वर्णन में भी उसने रस लिया है।[4] लक्ष्मण के अनेक युद्धों का वर्णन तो है ही, क्योंकि युद्ध-वर्णन के प्रति कवि की ऐसी स्पृहा है कि उसके लिए वह सर्वत्र मौका निकाल लेता है।

तात्पर्य यह है कि अयोध्याकांड में समाहारात्मक प्रवृत्ति अधिक होने से उसके नाम में अनौचित्य आ गया है पर काव्यात्मक सौन्दर्य से वह भरपूर है।

अयोध्याकाण्ड के पश्चात् सुन्दरकांड आता है। सुन्दरकांड का यह नाम क्यों पड़ा, यह सदैव से एक समस्या रही है। यह नाम वाल्मीकि रामायण से आरंभ होकर स्वयंभू से होता हुआ तुलसी के "मानस" तक में पाया जाता है। मानस के व्याख्याता सुन्दरकांड के इस नामकरण के लिए अनेक सुन्दर तर्क प्रस्तुत करते हैं। इन तर्कों में सुन्दरकांड के काव्य-सौष्ठव और हनुमान द्वारा प्रदर्शित भक्ति के चरम आदर्श पर बहुत बल दिया जाता है। पर ये दोनों तर्क ऐसे नहीं हैं जिनके विषय में यह कहा जा सके कि ये वाल्मीकि-रामायण और स्वयंभू के पउमचरिउ पर भी लागू होते हैं। फिर तुलसी के इन पूर्ववर्तियों ने इस कांड को सुन्दरकांड

१—रि० च०, संधि ५।

२—तो किं पहिलउ पट्टु पडिच्छिउ। २४. ५. ७।

३—केण भी कहिउं ताम भरहेस हो। गय सोमित्ति-राम वण-वास हो। २४. ६. ७.।

४—भील बस्ती का वर्णन ६४. १३। गोकुल बस्ती का वर्णन ३४. ११।

क्यों कहा ? इसका एक ही कारण प्रतीत होता है और वह कारण ऐसा है जो तीनों रचनाओं के लिए उपयुक्त ठहरता है। सुन्दरकांड का यह नाम इसलिए पड़ा कि सीताहरण के पश्चात् इस कांड में राम को पहली बार उनके विषय में सुसम्वाद प्राप्त हुआ और उनकी प्राप्ति की आशा जागृत हुई। नाटक की भाषा में यह प्राप्त्याशा का कांड है, इसलिए यह सुन्दरकांड है। यह वह कांड है जिसमें घटना-चक्र राम के अनुकूल घूमने लगता है। अतः तीनों महाकवियों ने इसे यह नाम देना उपयुक्त समझा।

अधिक संभावना इसी बात की है कि सुन्दरकांड नाम स्वयंभू की स्वतंत्र उद्भावना नहीं है, वाल्मीकि के अनुकरण पर पउमचरिउ में सुन्दरकांड को यह नाम मिला।

अरण्यकांड की मुख्य घटना, सीता-हरण को पीछे घसीटकर अयोध्याकांड में दिखाने के बाद स्वयंभू वाल्मीकीय रामायण के किष्किन्धाकांड की मुख्य घटना, राम-सुग्रीव-मैत्री को आगे बढ़ाकर सुन्दरकांड में खींच ले गये हैं। राम की अजेय शक्ति में सुग्रीव के संशय को दूर करने के लिए कोटि-शिला-संचालन के प्रसंग की अवतारणा जैन-रामकथा के आवश्यक अंग के रूप में होनी जरूरी थी।[1] स्वयंभू ने उसका निर्वाह बिना किसी अनावश्यक विस्तार के कर दिया है। राम-सुग्रीव-मैत्री को सार्थक बनाने के लिए राम-दल में हनुमान का आगमन आवश्यक था। कवि ने पूरे महत्व-प्रतिपादन के साथ उनका आह्वान और स्वागत राम की ओर से कराया है।[2] इसके लिए उसने पूरी एक संधि खर्च की है। यहीं से हनुमान का उत्कर्ष प्रारम्भ होता है जो निरन्तर चरम-विन्दु की ओर बढ़ता जाता है। सीता की खोज में लंका की ओर जाते हुए हनुमान मार्ग में अनेक पराक्रमपूर्ण कार्यों का परिचय देते हैं। किन्तु माता के साथ किये गये दुर्व्यहार को स्मरण कर उनका अपने नाना महेन्द्र से प्रतिशोध के लिए युद्ध रोप देना[3] उनकी गौरव-वृद्धि में सहायक नहीं होता। इसमें एक महान उद्देश्य के लिए प्रेषित व्यक्ति पर थोड़ी देर के लिए उसके संकुचित निजी स्वार्थ की विजय दिखाई पड़ती है। इससे यह लाभ अवश्य होता है कि राजा महेन्द्र भी राम की ओर आ जाता है। पर इसके लिए एक पूरी संधि का नियोजन अपव्यय कहा जायगा।

सुन्दरकांड वस्तुतः हनुमान की विजयों का कांड है। स्वयंभू ने घटनाओं का नियोजन इस प्रकार किया है कि उनसे थोड़ा नाटकीय वातावरण भी उत्पन्न हो जाता है। हनुमान विभीषण से मिलते हैं और उसका मन रावण की ओर से फेरकर सीता की खोज में नन्दन वन में पहुँचते हैं। वहाँ सीता राक्षसियों से घिरी मिलती हैं। हनुमान छिपकर राम-मुद्रिका गिराते हैं जिसे देख सीता सुख में विभोर होकर हँसने लगती हैं। त्रिजटा राक्षसी इसका कुछ और ही अर्थ लगाती है और झट रावण के पास पहुँचकर उसे "सुसम्वाद" सुनाती है। कामान्ध रावण भी समझता है कि सीता उस पर प्रसन्न हो गई हैं और वह अपनी रानी मन्दोदरी को उनकी अभ्यर्थना के लिए भेजता है। हर्ष से फूली हुई मन्दोदरी सीता के पास पहुँचती है और उन्हें फुसलाने लगती है। उसका प्रयत्न विफल होता है, इतना ही नहीं सीता उसे राम की अँगूठी दिखाकर कहती हैं—यह सब मेरे मनोरथों को पूरा करने वाली है और तुम्हारे लिए

१—प० च० ४४, १६।
२—प० च०, संधि ४५।
३—वही, संधि ४६।

दुःख की पोटली है।[1] यह सुन और देखकर मन्दोदरी आपे में नहीं रहती और शूल लेकर सीता पर दौड़ती है। ठीक उसी समय हनुमान मन्दोदरी और सीता के बीच कूद पड़ते हैं। हनुमान की भर्त्सना से तिलमिलाती हुई मन्दोदरी नन्दन वन से भाग निकलती है।

न केवल घटनाओं के नाटकीय ढंग से नियोजन की दृष्टि से वरन् उनके काव्यमय वर्णन की दृष्टि से भी स्वयंभू को सुन्दरकांड में बड़ी सफलता मिली है।

हनुमान के सीता का सन्देश लेकर लंका से लौटने पर राम-सेना अभियान के लिए तैयार होती है। वह समुद्र पार होकर लंका के निकट हंस द्वीप में पड़ाव डालती है। सुन्दरकांड में घटना-क्रम यहीं तक दिखाया गया है। इस कांड में घटना-व्यक्तिक्रम का कोई उदाहरण नहीं मिलता। काव्य-सौष्ठव हनुमान के पराक्रम और लंका सुन्दरी के रूप-वर्णन में दिखाई देता है। सीता का रूप-वर्णन भी एक स्थान पर मिलता है।[2] इस प्रकार इस कांड में वीरता और शृंगार का अद्भुत सम्मिश्रण प्रदर्शित हुआ है।

सुन्दरकांड के अन्त में राम की सेना समुद्र पार कर लंका के निकट आकर स्थित हो जाती है। राम-रावण की सेनाओं का संघर्ष और रावण की पराजय का वर्णन युद्धकांड में मिलता है। युद्ध कांड की सभी घटनाएँ लंका कांड में होती है, इसलिए इसका नाम लंका कांड भी हो सकता था। बाद में तुलसी के "मानस" में यही नाम मिलता है। स्वयंभू के सामने वाल्मीकि का उदाहरण था। "रामायण" की भाँति उन्होंने भी इस कांड को युद्ध कांड नाम दिया है। युद्ध-प्रधान इस कांड के लिए यह नाम सर्वथा उपयुक्त है।

युद्ध काण्ड का आरम्भ विभीषण के रावण का त्याग कर राम-दल में मिलने से होता है। भाई का यह विलगाव रावण के लिए अपशकुन स्वरूप है। इसके बाद की ५८ संधि में अंगद के असफल दौत्य-कर्म का वर्णन है। इन दोनों संधियों में कवि रावण की आगामी पराजय की प्रस्तावना बड़ी कुशलता से तैयार कर देता है। फिर सेनाओं की साज-सज्जा के सहित ४ दिन के युद्ध का सजीव चित्रण मिलता है। चौथे दिन लक्ष्मण को शक्ति लगती है। परिणाम-स्वरूप युद्ध की गति में शिथिलता और विषयान्तर का अवसर उपस्थित हो जाता है। विशल्या की कथा और उसका भवान्तर-वर्णन दो संधियाँ (५८, ५६) खा जाता है। तत्पश्चात् ही नन्दीश्वर-उत्सव और रावण की बहुरूपिणी विद्या की साधना का वर्णन आरम्भ हो जाता है। इसमें भी दो संधियाँ खप जाती हैं। फिर रावण सीता को फुसलाने की अन्तिम चेष्टा करता है और विफल होने पर उसका मन फिर जाता है और वह निश्चय करता है कि दूसरे दिन राम पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् वह सीता को लौटा देगा। अन्त की चार संधियों में राम-रावण के अन्तिम युद्ध, लक्ष्मण के हाथ से उसकी मृत्यु और स्वजनों के द्वारा उसकी अन्त्येष्टि का वर्णन है।

यह कहा जा सकता है कि विशल्या की कथा का इतना विस्तार से वर्णन न होता तो युद्ध-कांड की कथा-वस्तु का संगठन बिल्कुल निर्दोष होता। रावण द्वारा बहुरूपिणी विद्या के लिए अनुष्ठान उतना अप्रासंगिक नहीं है।

१—महु-सहल-मणोरह-गारउ तुम्हहं दुक्खहं पोट्टलउ। ४६, १५, १०
२—प० च०, ४६. ८।

युद्ध काण्ड का मुख्य काव्यात्मक आनन्द ६२ संधि में है जहाँ रावण गुप्त रूप से रात्रि के अन्धकार में नगर में घूमकर अपने योद्धाओं का अपनी रमणियों से सम्भाषण सुनता है जिसमें कामिनियों की शृंगारमय चेष्टाओं के बीच वीरता की रोमांचकारी उक्तियाँ सुनाई पड़ती हैं। ५८ संधि में राम के सेनानायकों के वे चुनौती पूर्ण संदेश भी पठनीय हैं जो वे विपक्षी के सेनापतियों के पास अंगद द्वारा भेजते हैं।

युद्धकाण्ड का पूरा वातावरण युद्धमय है। ६२ संधि में शृंगार की किंचित् झलक मिल जाती है। ७६ संधि में जहाँ रावण के निधन पर विभीषण, मन्दोदरी और अन्य कुटुम्बी विलाप करते हैं शोकपूर्ण करुणा की सृष्टि हुई है। अन्तिम संधि, जिसमें रावण का दाह-कर्म होता है, निर्वेद पूरित है। इस प्रकार युद्धकाण्ड में कवि वीर, शृंगार, करुण और शान्त चार रसों का समावेश कर सका है।

उत्तरकांड में रामकथा का शेषांश वर्णित है। इसलिए इसका यह नाम उचित प्रतीत होता है। राक्षसों का बल-पराक्रमध्वस्त हो जाने पर उनमें बचे-खुचे लोग जैन-दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। राम को सीता की पुनः प्राप्ति होती है। विभीषण को लंका का राजा बनाकर वे ६ वर्ष तक लंका में रहते हैं। उनके अयोध्या लौटने पर भरत प्रवज्या ग्रहण कर लेते हैं और राम राज्य का दायित्व सँभालते हैं।[१] इसके बाद सीता के निर्वासन और लवण-अंकुश के जन्म तथा पराक्रम का वृतान्त आता है। फिर सीता की वापसी और उनकी अग्नि-परीक्षा तथा जिन-दीक्षा का वर्णन है।

यहाँ तक की कथा बहुत व्यावहारिक कौशल के साथ और काव्यात्मक ढंग से वर्णित है। ८४ और ८५ संधि में, फिर विषयान्तर उपस्थित होता है जहाँ कवि रामकथा के सभी प्रधान पात्रों के भवान्तरों का वर्णन विस्तार से करने लगता है। सीता के वैराग्य के बाद पाठक का मन वस्तुतः राम-लक्ष्मण की कथा जानने को उत्सुक रहता है। भवान्तर वर्णन उसकी रसानुभूति में व्यवधान उपस्थित करता है। लेकिन राम-लक्ष्मण की कथा को थोड़ी देर के लिए टाल देने में कवि का एक उद्देश्य हो सकता है। वह इस कथा-भाग को बिल्कुल अन्त में देना चाहता है। अन्त की तीन संधियाँ इसी को समर्पित हैं। लक्ष्मण की मृत्यु से राम को वैराग्य हो जाता है, फिर उन्हें केवल ज्ञान होता है। वह नरक में वास करने वाले वासुदेव (लक्ष्मण) और प्रति वासुदेव (रावण) के भविष्य के भवों का वर्णन करते हैं। तदन्तर अन्य जिन भक्तों के साथ राम भी निर्वाण प्राप्त करते हैं। राम-कथा का समापन राम के निर्वाण के साथ होता है। इसे केवल संयोग नहीं कहा जा सकता, यह कवि की सुविचारित योजना है। "पउमचरिउ" नाम रखने की यही सार्थकता है।

उत्तरकाण्ड का वातावरण धार्मिकता लिये हुए है। उसमें शान्ति, विराग और निर्वेद का स्वर प्रधान है। जैन सिद्धान्तों और विश्वासों का प्रतिपादन होने के कारण आधुनिक दृष्टिकोण से, उसमें साम्प्रदायिक प्रवृत्ति भी मिलेगी, पर कवि के उद्देश्य को सामने रखते हुए इसे अनिवार्य कहा जायगा।

यह काण्ड शृंगार के स्पर्श से लगभग अछूता है। राम-लक्ष्मण के साथ लवण-अंकुश का युद्ध क्षण भर के लिए वातावरण को क्षुब्ध बनाता है पर शीघ्र ही फिर शान्त हो जाता है।

१—प० च०, संधि ७९।

शृंगार और वीर दोनों रसों से रहित होने के कारण उत्तरकांड में काव्य-सौन्दर्य नहीं मिलेगा। सीता की उक्तियाँ अवश्य उन्मेषकारिणी हैं। अन्यथा कथावस्तु उपदेशों, प्रवचनों और भवान्तर कथनों से दबी हुई है।

रिट्ठणेमिचरिउ

आकार में "पउमचरिउ" से बड़ा होने पर भी रिट्ठणेमिचरिउ केवल ४ कांडों में विभाजित है। उनके नाम हैं—यादव, कुरू, युद्ध और उत्तरकांड। इनकी संधियों की संख्या ११२ है जो चारों कांडों में क्रमशः १३, १९, ६० और २० के हिसाब से वितरित हैं। सब संधियों में मिलाकर १९३७ कडवक हैं। पउमचरिउ की भाँति ही रिट्ठणेमिचरिउ में संधियों में कडवकों की संख्या का कोई नियम नहीं है, किसी में उनकी संख्या कम है किसी में अधिक। ५५ संधि में कडवकों की संख्या २९ है जिससे बड़ी संख्या किसी संधि में नहीं है।

काण्डों में संधियों के इतने विषम वितरण को देखते हुए यह तो स्पष्ट ही है कि कवि इनके वितरण की समुचित व्यवस्था नहीं कर सका है।

"रिट्ठणेमिचरिउ" का भी आरम्भ-वंदना से होता है, लेकिन पउमचरिउ से रिट्ठणेमि-चरिउ में एक अन्तर है। पउमचरिउ की प्रथम पंक्तियों में कवि ने आदि तीर्थंकर ऋषभ की वन्दना की है। तदनन्तर प्रथम संधि के प्रथम कडवक में वह सभी तीर्थंकरों का स्मरण और गुणगान करता है। उसके बाद कवि कहता है कि इन चौबीस तीर्थंकरों की भाव संहित वन्दना करके मैं रामायण काव्य में अपने आपको प्रकट करता हूँ।[1] पर रिट्ठणेमिचरिउ के आरम्भ में वह केवल नेमि तीर्थंकर की वन्दना करता है और काव्य आरम्भ कर देता है।

पणमामि णेमि तित्थंकरहो। हरि बल-कुल-णहतल ससहरहो।

अतएव कहा जाता सकता है कि रिट्ठणेमिचरिउ को आरम्भ करने का ढंग अधिक सीधा और व्यावहारिक है। सम्भव है कि पउमचरिउ में सभी तीर्थंकरों का गुणगान करने के बाद कवि को रिट्ठणेमिचरिउ में उसकी आवश्यकता न अनुभव हुई हो।

यादव काण्ड के प्रारम्भ में यादव-वंश का इतिहास थोड़े में देकर कवि समुद्रविजय और वसुदेव की कथा आरम्भ कर देता है। जैन कृष्ण-कथा में वसुदेव को अत्यन्त रूपवान चित्रित किया गया है। स्वयंभू ने वसुदेव के रूप पर आसक्त स्त्रियों के विचित्र और विपरीत व्यवहारों का बड़ा हृदयग्राही चित्रण किया है। कोई स्त्री अधरों में अंजन लगाती है तो कोई अलक्तक से नेत्रों को रंगती है, कोई क्षण-क्षण पर मूर्च्छित और खिन्न होती है, कोई नीबी का बन्धन छोड़ने लगती है तो कोई पयोधरों का। कोई बालक को विपरीत भाँति से अंक में लेती है और उसका मुख किसी ओर है तो वह स्तन किसी ओर देती है।[2]

१—प० च०, १, १, १६।

२— का वि अहरु समप्पइ अंजणु।
कवि देइअ अलत्तउ णिय णयणे। मुच्छिज्जइ किज्जइ खणि जे खणे।
कवि छोड़इ णीवी बंधउ। ढिलारउ करइ पईहरणउ॥
कवि बालु लेइ विवरीय तणु। मुहु अण्णहि अण्णहि देइ थणु। रि० च० १, ४।

पुरवासियों के निवेदन पर जब समुद्रविजय भाई के बाहर निकलने पर अंकुश लगा देते हैं तो वसुदेव घर छोड़ देते हैं और अपनी मृत्यु का झूठा प्रचार कराकर गुप्त रूप में भ्रमण करते हुए सहस्रों राजकुमारियों को वरण करते हैं। अन्त में रोहिणी के स्वयम्बर में समुद्रविजय से भेंट होने पर वसुदेव फिर घर लौटते हैं। ४ संधि में वसुदेव और कंस के बीच गुरु-शिष्य सम्बन्ध का वर्णन है। जरासंध की घोषणा पर वसुदेव और कंस सिंहरथ को बाँध लाते हैं। पुरस्कार में कंस को जरासंध की कन्या जीवद्यसा प्राप्त होती है। ५ संधि में कृष्ण-जन्म और उनकी बाल लीला का वर्णन है। ६ संधि में कंस का वध होता है। ७ संधि में जरासंध के आक्रमणों से मथुरावासियों को बचाने के लिए कृष्ण कुटुम्बियों के सहित द्वारिका चले जाते हैं। ८ संधि में नेमि का जन्म होता है। ९ संधि में शिशुपाल-पराभव और रुक्मिणी-हरण का वृतान्त है। १०, ११, १२ संधियों में प्रद्युम्न के जन्म, हरण तथा कालसंवर की स्त्री के प्रेम-पाश से निकल कर उनके पुनः घर जाने की कथा वर्णित है। अन्त की संधि में शंब और सुभानु के ऊपर प्रद्युम्न के विजय पाने की कथा है।

यादव वंश की कथा शृंखला-बद्ध और तीव्रता से आगे बढ़ने वाली है। उसकी मुख्य उपलब्धि यह है कि वह इस काव्य के ३ प्रमुख पात्रों—कृष्ण, नेमि और जरासंध को हमारे सामने ला देती है। कंस का अथ और इति इसी काण्ड में हो जाता है। उसका आगमन कुछ भव्यता लिये हुये है, पर उसका अवसान परम्परा के अनुरूप मलीनता से आच्छादित है। वसुदेव के आश्रय से कवि को शृंगार वर्णन का अवसर मिल जाता है। वसुदेव और समुद्रविजय के बीच, रोहिणी स्वयम्बर के अवसर पर, युद्ध भी होता है। रिट्ठणेमिचरिउ का यह पहला युद्ध है, जो दो भाइयों के बीच होता है। स्मरणीय है कि पउमचरिउ में भी पहला युद्ध दो भाइयों-भरत-बाहुबलि-के बीच दिखाया गया है। यह केवल संयोग है या कवि की सुविचारित योजना ?

यादव के बाद कुरुकांड आता है। यह भी कौरव-पांडवों के कुल-परिचय से आरम्भ होता है। धृतराष्ट्र के अन्धे होने से पाण्डु राज्य चलाते हैं पर धर्म के बिना पाण्डु को कुछ अच्छा नहीं लगता—

पंडुहे रज्जु करंताहो धम्मु विणु अणु ण रुच्चइ। १४, ९।

पाण्डु महाऋषि संघ में जाकर दीक्षा ग्रहण करते हैं और कुछ समय पश्चात् देवलोक सिधारते हैं।[1] इसके पश्चात् पाण्डवों के प्रति कौरवों का विद्वेष और वैर-भाव आरम्भ होता है। गांधारी भी कुन्ती से ईर्ष्या करने लगती है।[2] पाण्डवों को कालकूट विष तक दिया जाता है।[3] फिर गुरु द्रोणाचार्य से कौरव-पाण्डव शस्त्र-शिक्षा ग्रहण करते हैं और अर्जुन प्रति-योगिता में विजयी होकर गुरु से वरदान प्राप्त करते हैं।[4] फिर तो कौरव पाण्डवों के विनाश की तैयारी में लग जाते हैं।

१—रि० च० सं० १५।

२—तो गंधारिए कलहियतु, किं तुम्ह जे पुत्त पियारउ।
जो ए कौंतिएउ सिक्खवहि, कत्तिउ मक्खामि सय बारउ।१६, २ रि० च०।

३—पुण कालकूड विसु दिण्णु तहो, पुणु क्खर भुवंगिहि चाविअउ।।१६, ३।

४—परितुट्ठे पच्छहो विप्प वरु, मइ सरिसु होउ संचालहिउ।।१६, ८।

१८ सन्धि में पाण्डवों के लाक्षागृह-दाह से बच निकलने का वृतान्त वर्णित है। वनभ्रमण करते हुए वे द्रौपदी स्वयंबर में पहुँचते हैं।[1] द्रौपदी को स्वयम्बर में जीतकर पांडव वहीं पांचाल में रहने लगते हैं जब तक कि विदुर उन्हें पुनः बुलाकर इन्द्रप्रस्थ नहीं लाते। २४ सन्धि में पांडव जुवा में कौरवों को सब कुछ हार कर वनवास के लिए निकलते हैं। वे कुन्ती को विदुर के संरक्षण में छोड़ जाते हैं। कुन्ती विलपती हुई पीछे रह जाती है—

हउ पाविणि पावहो तणिय खाणि।

वनवास-काल में पांडवों के साहसपूर्ण कार्यों का वर्णन २५, २६, २७ संधियों में मिलता है। वनवास के अंतिम चरण में वे विराटनगर पहुँचते हैं—

हिंडिवण गहणे पडिपरक मडफ्फर साडहो।
जसे सहिया गमय पंडव पायर विराटहो॥ २८।

दुर्योधन वनवासी पांडवों को विनष्ट करने की योजना बनाता रहता है। वह जालन्धर नामक गंधर्व को पाडवों से माया-युद्ध करने को भेजता है। पर उसकी पराजय होती है। तब कौरवों ने और भी माया-युद्धों की योजना की। पर वीर पांडवों के सामने उनकी एक न चली। कांड के अंत में कुन्ती पुत्रों से मिलने वन में जाती है।

कुरु-काण्ड की कथावस्तु बहुत कुछ महाभारत पर आधारित है। दो-एक प्रसंगों को छोड़कर, जिनकी कवि ने स्वतंत्र उद्‌भावना की है, शेष के लिए उसने जैन-परम्परा से अधिक हिन्दू-परम्परा और महाभारत का सहारा लिया है। बीच में कुन्ती आदि से कराई गई जिन-वंदना कवि ने स्वमत-प्रचार की भावना से समाविष्ठ की है। कुरु-कांड का वातावरण युद्ध-पर्व का वातावरण है जिसमें महाभारत के लिए मानों शस्त्र-अभ्यास हो रहा हो। होनहार की प्रबलता दोनों पक्षों को उसी ओर खींचे लिए जा रही है।

युद्ध कांड के आरंभ में द्वारावती में कृष्ण से पांडवों की मंत्रणा होती है और युद्ध रोकने के प्रयत्न में कौरवों के यहाँ दूत रूप में पुरोहित भेजा जाता है। वह निष्फल लौट आता है। फिर संजय कृष्ण-पाण्डवों से मिलते हैं। पर कोई मार्ग नहीं निकलता। दुर्योधन अपने हठ पर दृढ़ रहता है। गांधारी और विदुर उसे लम्बी सीख देते हैं।[2] लेकिन दुर्योधन पर कोई प्रभाव नहीं होता। विदुर गृह-त्याग कर जिन-दीक्षा ले लेते हैं। जरासंघ के सेनापतित्व में कौरवों की सेना रण-क्षेत्र में डट जाती है, तब कृष्ण एक दूत कर्ण को समझाने के लिए भेजते हैं जो कर्ण से कहता है कि पाण्डु तुम्हारे पिता, कुन्ती तुम्हारी माता और पाण्डव तुम्हारे भाई हैं।[3] पर कर्ण उत्तर देता है कि यह सिर तो अब कौरवों का हो गया है, अपना राज्य मैं पाण्डवों को देता हूँ।[4] आगे की संधि में वीरों के बल-विक्रम का वर्णन है और ३७ संधि में महाभारत का समारम्भ हो जाता है।

३९ से ४५ तक की संधियों में एक-एक करके दूसरे दिन से लेकर आठवें दिन तक के

१—रि०च०, संधि २१।

२—संधि ३४।

३—पंडु जणेव कोंति जणणि पंडव तुहु सहोयर भायर। ३५.१५।

४—ऐत्तिल्लउ णवर करेसि कज्जु सिर कुरुह देमि पंडवहं रज्जु। ३५.१६।

युद्ध का वर्णन है।[1] ४७ संधि में भीष्म पितामह शर-शैय्या पर पड़े हुए हैं और ४८-४९ संधि में उनके द्वारा जैन-दर्शन का व्याख्यान कराया जाता है। ५० संधि में भीष्म दोनों कुलों को नाश से बचाने के लिए अंतिम उपदेश[2] देते हुए शरीर का त्याग करते हैं और द्रोण को सेनापति बनाया जाता है।[3]

५२ संधि से ५५ संधि में अभिमन्यु के पराक्रम, उसके द्वारा चक्रव्यूह को भेदने के प्रयत्नों का तथा उसकी मृत्यु का वर्णन है। फिर ५६ संधि में विषादमय दृश्यों के बीच जयद्रथ के वध का उपक्रम होता है लेकिन व्यवधान पड़ता जाता है और उसकी मृत्यु ६७ संधि में होती है।[4] ६८ संधि में दुर्योधन गुरु द्रोण से पाण्डवों के विनाश के विषय में नये सिरे से सोच-विचार करता है। ७१ संधि में कर्ण के हाथों भीमनन्दन घुडुक की मृत्यु होती है। ७३ संधि में द्रोण आहत होते हैं। अगली संधि में १५ वें दिन का युद्ध समाप्त होता है।[5] ७५ संधि में कर्ण सेनापति बनाया जाता है।[6] इसी संधि में द्रोण-सुत अश्वत्थामा की मृत्यु होती है और कृष्ण-दुर्योधन आमने-सामने होते हैं।[7] नेतृत्व कर्ण के हाथ में बना रहता है। संधि ८० में युद्ध समाप्त कर देने का एक बार फिर प्रयत्न होता है पर पाण्डवों के हृदय में प्रतिशोध की ज्वाला प्रज्ज्वलित होने के कारण कोई फल नहीं निकलता। उन्हें दुर्योधन की अनीतियों का स्मरण होता है और वे कृष्ण के सामने बहुत कुछ कहते हैं। उधर दुर्योधन का दर्प भी कम नहीं हुआ है। वह कहता है भला कौरवों के केहरि-झुण्ड में पाण्डव-रूपी मृग किस प्रकार प्रवेश कर सकते हैं।[8] ८४ संधि में दुर्योधन स्वयं मोर्चा सँभालता है। ८६ संधि में युद्ध का १८ वाँ दिन प्रारंभ होता है, ८८ संधि में दुर्योधन-भीम का गदा युद्ध होता है और ९१ संधि में १८ वें दिन का युद्ध समाप्त होता है।[9] गलित-दर्प दुर्योधन जब युधिष्ठिर के सामने लाया जाता है तो ऐसा प्रतीत होता है मानो दावाग्नि से दग्ध कानन हो अथवा जल-निःशेष पारावार हो।[10] संधि ९२ में मगध-नरेश और कृष्ण की अंतिम भिड़न्त है। कृष्ण उसका काम-तमाम कर उसके मुकुट को धूलि-धूसरित कर देते हैं।

युद्ध-कांड के नाम के अनुरूप इस पूरे कांड में कवि ने युद्ध का ही वर्णन किया है। भीम और विदुर से जैन-दर्शन और नीति का कथन भी कराया गया है। गांधारी और अभिमन्यु

१—अट्ठमे दिवसहो भिडियइं कुरु पंडिवाणी यइं। संधि ४५।

२—मं करहु परोप्परु गोत खउ। ५०.६।

३—पट्टु बद्धु रणे दोणहो। ५०.९

४—हंसे तोडिवि कमलु जिहं उव्वणि णेमिउं तहो ताव हो।
    तेण विघात्तिय धरणि यले सिरु फुट्टेवि गउ पुरयइ सवहो। ६७.१३।

५—तो पण्णरहंमउ गउ वासरु भज्ज महागिरि कुक्कु विवायरु। ७५.१५।

६—पवद्धु पट्टु रणे कण्णहो। ७५.१।

७—एं महाहवे घोसइ विवि वाणी णहो घोसइ।
    जेत्तहे पंकयणाहु तेत्तहे वसुमइ होसइ।। ७५.१२।

८—रणरणंगहु मज्झे तं वोलिज्जइ अंसरइ।
    कुरु-केसरि-विन्दे पंडव हरिणु कि पइसरइ।। ८१.८।

९—तो अट्ठारहमउ दिवस गउ। ९९.१।

१०—णं काणणु दड्ढेवि दवग्गि थिउ। णं सोसहो पारावार थिउ। ९१.१।

के कथन भी जैन-मत की व्याख्या में सहायक होते हैं। युद्धों के वर्णन में पुनरावृत्ति अनिवार्यतः हुई है, पर इसमें सन्देह नहीं कि अनेक स्थल बड़ी ही चित्रात्मक और जीवन्त भाषा में वर्णित है।

इस काण्ड के विषय में बड़ी शिकायत यह है कि कवि ने इसे बहुत बड़ा और अनुपात-हीन बना दिया है। एक-एक प्रसंग में कई संधियों को लगा देना इसका कारण है। बगल-बगल के कम आकार वाले कांडों के बीच युद्ध कांड ऐसा ही प्रतीत होता है जैसे छोटे सिर और छोटी टाँगों के बीच स्थित विशाल तोंद।

महाभारत की समाप्ति पर कृष्ण द्वारावती पहुँच जाते हैं और पाण्डव भी दक्षिण मथुरा के लिए प्रस्थान करते हैं।[1] ९५ संधि से जिणवर नेमि का प्रसंग पुनः सामने आता है। ९६ संधि में नेमि के पराक्रम से अभिभूत कृष्ण उनकी कपटपूर्ण प्रशंसा करते हैं और उनके विवाह का प्रस्ताव करते हैं। विवाहोत्सव में अतिथियों के भक्षण के हेतु मारे जाने के लिए बाँधे हुए पशुओं को देखकर नेमि का हृदय करुणा से भर जाता है और उन्हें संसार से विराग हो जाता है। ९७ संधि में माता द्वारा नेमि की अभ्यर्थना कराई गई है। ९८ संधि में वे जिन-तत्वों की विस्तृत व्याख्या करते हैं। ९९ संधि में समवशरण का वर्णन है। इसके बाद की संधियों में कृष्ण की रानियों के भवान्तर, गजकुमार निर्वाण, दीपायन-मुनि, द्वारावती-दाह, बलभद्र-शोक, हलधर-दीक्षा, जरत्कुमार-राज्य-लाभ, पाण्डव-गृहवास, मोहपरित्याग, पांडव-भवान्तर आदि विषयों का वर्णन जाता है।

रिट्ठणेमिचरिउ के उत्तरकांड की समाप्ति "पउमचरिउ" जैसी नहीं हो पाई है। "पउमचरिउ" का समापन उनके नाम के अनुरूप राम के निर्वाण के साथ होता है। रिट्ठणेमि-चरिउ नाम की सार्थकता तब होती जब वह नेमि निर्माण के साथ ९९ संधि में समाप्त हो जाता आगे की संधियों का विस्तार रिट्ठणेमिचरिउ के लिए असंगत नहीं तो अनिवार्य भी नहीं है। अन्त में पाण्डव-भवान्तर का वर्णन होने से रिट्ठणेमिचरिउ का हरिवंस नाम अधिक उप-युक्त प्रतीत होता है।

इस कांड की उपलब्धि यह है कि कुरु और युद्ध कांडों के बीच में आ जाने के कारण नेमि-कथा का जो सूत्र टूट गया था उसे कवि ने इसमें फिर से जोड़ा और उसे परिणति तक पहुँचाया। इस कांड का धार्मिक महत्व अधिक है साहित्यिक कम।

पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ दोनों ग्रंथों के काव्य-रूप पर तुलानात्मक दृष्टि डालें तो प्रतीत होगा कि पहले को सुगठित और काव्यात्मक बनाने में कवि को अधिक सफलता हुई है। उसके विविध काण्डों के आकार में समानुपात का अधिक ध्यान है, उनमें काव्य-रस से सिक्त स्थलों की अधिकता है और जीवन की परिस्थितियों की विविधता की दृष्टि से भी वह अधिक सफल काव्य है।

१—पडिवत्ति अहाव्हं करिवि तेहिं पुण्णु विण्हु पयाणउं जायवेंहि।
चउविस संवच्छर गमेवि भद्ठ पुड्ढु सरहस वारावइ पयट्ठ ॥ ९३.६ ।

अध्याय ७.

चरित्र-चित्रण

पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ के पात्रों के चरित्र-चित्रण पर विचार करते हुए कुछ बातें ध्यान में रखनी चाहिए। इन काव्यों की कथावस्तु अनुत्पाद्य और पुराण-प्रसिद्ध होने के कारण उनके सभी पात्र हमारे जाने-पहचाने हैं। उनके प्रति भारतीय जनता के हृदय में विशेष प्रकार की भावना संस्कार-रूप में बद्धमूल है। किसी कवि के लिए संभव नहीं कि वह सहसा हमारा मत उनके प्रति परिवर्तित कर दे या एक नितान्त नवीन दृष्टिकोण के अनुमोदन की आशा हम से करे। उदाहरणार्थ, बंगल के ख्यातनामा कवि माइकेल मधुसूदन दत्त ने "मेघनाथ-वध" काव्य के द्वारा रावण के प्रति एक सर्वथा नवीन दृष्टिकोण रखा और उसे बहुत ऊँचा पात्र सिद्ध करना चाहा, पर कवि के काव्योत्कर्ष की सराहना होते हुए भी उसके द्वारा चित्रित रावण का चरित्र मान्य नहीं हो सका।

जो कार्य माईकेल मधुसूदन दत्त ने एकाकी रूप में किया वह कार्य सामूहिक रूप में, धार्मिक विश्वास के अंग के रूप में, जैन-परम्परा में बहुत प्राचीन काल से होता रहा है। हिन्दू-सम्प्रदाय में रावण आदि को राक्षस कहकर आद्योपान्त उन्हें निन्दा और भर्त्सना का पात्र ठहराया गया है। जैन-धर्म में ऐसा नहीं है। इस विषय में जैन-धर्म की उदारता की प्रशंसा करते हुए डाक्टर हीरालाल जैन ने कहा कि "रावण और जरासंघ जैसे जिन अनार्य राजाओं को वैदिक परम्परा के पुराणों में कुछ घृणित भाव से चित्रत किया गया है उनको भी जैन पुराणों में उच्चता और सम्मान का स्थान देकर अनार्य जातियों की भावनओं को भी ठेस नहीं पहुँचने दी। इन नारायण के शत्रुतों को भी उन्होंने प्रतिनारायण का उच्च पद प्रदान किया है। रावण को दशमुखी राक्षस न मानकर उसे विद्याधर वंशी माना है।...इन पुराणों में हनुमान, सुग्रीव आदि को बंदर नहीं, विद्याधर वंशी राजा माना गया।[1]"

दूसरी बात जो ध्यान में रखने की है वह यह है कि पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ के सभी पात्र जैन मतावलम्बी हैं। ऐसा नहीं है कि वे जैन-धर्म में परिवर्तित होते हुए दिखाये गये हों, वे जन्म से ही जैन मतानुयायी हैं। इस विषय में डा० हीरालाल जैन कहते हैं कि "राम और लक्ष्मण तथा कृष्ण और बलदेव के प्रति जनता का पूज्य भाव रहा है व उन्हें अवतार-पुरुष माना गया है। जैनियों ने तीर्थंकरों के साथ-साथ इन्हें भी त्रेसठ शलाका पुरुषों में आदरणीय स्थान देकर अपने पुराणों में विस्तार से उनके जीवन-चरित्र का वर्णन किया है। जो लोग जैन-पुराणों को हलकी और उथली दृष्टि से देखते हैं, वे इस बात पर हँसते हैं कि इन पुराणों में महापुरुषों को जैन मतावलम्बी माना गया है व कथाओं में व्यर्थ हेरफेर किये गये हैं। उनकी दृष्टि इस बात पर नहीं जाती कि कितनी आत्मीयता से उन्हें अपने भी पूज्य बना लिया है और इस प्रकार अपने तथा अन्य धर्मों, देश, भाइयों की भावना की रक्षा की है।[2]"

१—डा० हीरालाल जैन : भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, १९६२, पृ० ४-५।
२—वही पृ० ४।

डाक्टर जैन के मत की आलोचना करना यहाँ हमारा उद्देश्य नहीं है। यों तो जैन धर्म को बहुतों ने हिन्दू धर्म से सर्वथा भिन्न न मानकर उसकी एक शाखा-मात्र माना है। फिर भी जैनाचार्यों ने जिस समय राम और कृष्ण जैसे महान् हिन्दू युग-पुरुषों को अपने शलाका पुरुषों की पंक्ति में स्थान दिया उस समय उनका उद्देश्य हिन्दू-धर्म की प्रतियोगिता में जैन मत को ऊँचा उठाना ही रहा होगा। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि अन्य धर्मों में प्रचलित राम और कृष्ण की विपरीत और असंगतियों से भरी कथा को वे सीधे और तर्क-संगत रूप में कहना चाहते हैं। स्वयंभू की दोनों कृतियों के आरम्भ में श्रेणिक-गौतम के प्रश्नोत्तर में भी यही बात कही गई है। जिस युग की बात हम कह रहे हैं वह धार्मिक प्रतिद्वन्द्विता का युग था। हर धर्म इस फेर में था कि दूसरे धर्मों पर अपनी श्रेष्ठता प्रतिपादित करे। ऐसा करने में वह अन्य धर्मों की अच्छी बातों को, जो उसके उन्नयन में सहायक हों, अपनाने में नहीं हिचकता था। यह नीति जैनाचार्यों की थी और यही नीति शंकराचार्य जैसे हिन्दू-आचार्यों की थी जिसके लिए उन्हें "प्रच्छन्न बौद्ध" का लांछन सहना पड़ा।

जो हो, "पउमचरिउ" और "रिट्ठणेमिचरिउ" के सभी पात्र जन्मतः जैन धर्मावलम्बी है। यह स्वयंभू की उद्भावना नहीं है। यह नीति तो जैनाचार्यों की वृहत् धार्मिक योजना का एक अंग थी, स्वयंभू अपने काव्य के शक्तिशाली माध्यम द्वारा उस नीति के प्रचारक बने। उनकी देन यह है कि अपने पात्रों के चित्रण में वह बार-बार ऐसा अवसर निकालते हैं जब वे जिन-वन्दना या जैन-काण्ड के प्रतिपादन में लगे हों अथवा जैन धर्म पर उपदेश कथन या श्रवण कर रहे हों। ऐसे उदाहरण दिये जायें तो उनका कभी अन्त नहीं होगा। राम सीता को वरण करने के बाद अपने घर आये तो आषाढ़ की अष्टमी के दिन उन्होंने जिनेन्द्र का अभिषेक किया,[१] वन जाने के ठीक पूर्व रात्रि के अन्धकार में वे सिद्धवरकूट जिन-भवन में पहुँचे और जिनेश्वर की देर तक आराधना करते रहे।[२] वनवास-काल में सहायतार्थी वज्रकर्ण के प्रतिद्वन्द्वी सिंहोदर को पराजय देने के पूर्व राम सीता और लक्ष्मण के साथ सहस्रकूट जिन-भवन में जाते हैं और वहाँ चन्द्रप्रभु की अत्यन्त शोभित प्रतिमा का दर्शन करते हैं।[३] आगे बढ़ने पर कपिल-प्रसंग घटित होने पर जैन-मुनि का धर्म-माहात्म्य पर लम्बा व्याख्यान होता है जिससे कपिल ब्राह्मण का मत भी बदल जाता है और वह राम को आशीर्वाद देता है कि जिस प्रकार जिनेश्वर पुण्य कर्म से बढ़ते हैं उसी प्रकार आपका यश धर्म-कार्य से चन्द्र और कुन्द पुष्प के समान बढ़ता रहे।[४] वंशस्थ नगर में पर्वत-स्थित मुनियों पर किये गये उपसर्ग को दूर कर राम जैन-धर्म का निरूपण करते हैं। अन्त में मुनियों को केवल ज्ञान उत्पन्न हो जाता है।[५] फिर कुलभूषण मुनि जो अब केवली बन गये हैं, राम के प्रश्न करने पर, सभी व्रतों का, पुण्य-पाप के फल का और स्वर्ग-नरक का विस्तृत विवेचन करते हैं।[६] राम के और

१—आसाढट्ठमिहिं किउ एहवणु जिणिन्दहो राएं। २२, १।

२—तं णिएवि भुवणु भुवणेसरहो। पुणु किउ पणिवाउ जिणेसरहो॥२३, १०, १।

३—तहिं चन्दप्पह-बिम्बु णिहालिउ। जं सुरवर तरु-कुसुमोमालिउ॥२५, ७, ६।

४—जेम समुद्दु महाजलेण जेम जिणेसरु सुक्किय कम्में।
चन्द-कुन्द-जस-णिम्मलेंण तिह तुहुं वड्ढु णाराहिव धम्में। २८, ११, ११।

५—संधि ३२, ७ और ३२, ११, ९।

६—संधि ३४, १-९।

आगे बढ़ने पर दंडक वन में जटायु पक्षी मिलता है जिसके भवान्तर-कथन के संदर्भ में जैनों के नयवाद नामक दार्शनिक सिद्धान्त की व्याख्या महामुनि द्वारा कराई जाती है और बौद्धों के शासन को व्यर्थ सिद्ध कराया जाता है।[1] सीता-हरण के उपरान्त जब राम विराधित की राजधानी तमलंकार नगर में आश्रय लेते हैं तो पत्नी-वियोग से विकल राम विशाल विहार और मठों को छोड़ते हुए जिन-मन्दिर में पहुँचकर प्रार्थना करते हैं और मन को निराकुल बनाते हैं।[2] वानरों का संशय दूर करने के लिए जब कोटिशिला उठाने का प्रश्न आता है उस समय लक्ष्मण के कोटिशिला में हाथ लगाने के पूर्व राम अरहंत की स्तुति करते हैं।[3] रावण के वध के पश्चात् सीता की पुनः प्राप्ति होने पर वह तुरन्त शान्तिनाथ-जिनालय में आकर उनकी स्तुति करते हैं।[4] अयोध्या लौटने पर पुर-प्रवेश के पूर्व वे जिनेन्द्र का अभिषेक करते हैं।[5] मुनि कुलभूषण का अयोध्या में आगमन सुनकर राम उनका दर्शन करने जाते हैं और उनसे दस-प्रकार का जिन-धर्म सुनते हैं।[6] लक्ष्मण के वियोग में सुध-बुध-हीन राम जब पुनः चैतन्य होते हैं तो कोटिशिला पर तपश्चरण करते हैं और निर्वाण को प्राप्त होते हैं।[7]

राम जैसा ही हाल और चरित्रों का भी है। राम के महान् प्रतिद्वन्द्वी रावण की धार्मिक-प्रवृत्ति राम से भी बढ़ी हुई है। वैरियों से बदला लेने के लिए प्रारम्भ में ही वह एक हजार विद्याएँ सिद्ध करता है और स्वयंप्रभ नाम का विशाल नगर बसाता है। उस नगर में वह सहस्रकूट नाम का सुन्दर चैत्य गृह बनवाता है।[8] सुमेर या कैलास-पर्वत-स्थित ऋषभ जिनकी प्रतिमा के पूजनार्थ वह बार-बार जाता है।[9] युद्ध-काल में राम जिन-पूजा भूल जाते हैं पर रावण नहीं भूलता। नन्दीश्वर पर्व के अवसर पर वह शान्तिनाथ के मन्दिर में जाता है और विधिवत् आराधना करता है।[10] वानर-राज बालि अनन्य जिन-भक्त है, वह रावण की अधीनता इसलिए नहीं स्वीकार करता कि त्रिलोकपति जिनकी वन्दना करके वह किसी साधारण जन के सामने नहीं झुक सकता।[11]

"रिट्ठणेमिचरिउ" के पात्र भी जिन-भक्त हैं। राजकाज से ऊबकर पांडु महाऋषि-

---

१—संधि ३५, ५ :

२—रह-तिलक-चउक्केहि परिभमन्तु। बोहिय विहार मढ परिहरन्तु।
गउ ताम जाम जिण-भवणु दिट्ठु। परिअंचेवि अब्भन्तरे पइट्ठु ॥४०, १८।

३—जसु कुम्बुहि पसोउ भामण्डल। सो अरहंतु देउ तउ मंगलु। ४४, १६।

४—पेक्खन्तु णिवाणइं रावणहो कहि मिण रहुवइ रइ करइ।
स-कलत्तु स-भाइ-स-भिच्चयणु सन्ति जिणालउ पइसरइ ॥७८, १०, ८।

५—सं० ७८, २०१।

६—साहुहुं वन्दणहत्ति करेप्पिणु। दस-पयार जिण-धम्मु सुणेप्पिणु। ७६, १३।

७—संधि ८८, १३।

८—संधि ६, १३, ७।

९—देखिए संधि, १०.१, ११.२, १३.१०, १५.१०, १८.१।

१०—करेवि महोच्छउ पट्टणे वण-बलवद्दणे सम्परिवारु णिराउहउ।
अट्ठाणय-कल्लाणउ सरहसु रावणु गउ सन्तिहर हो सम्मुहउ ॥७, ३, ६।

११—पणवेप्पिणु तिल्लोकाहिवइ। सामण्णहो अण्णहो णउ णमइ।१२, ११, २।

संघ में जाते हैं और सुव्रत स्वामी से जिन-दीक्षा ग्रहण करते हैं ।[१] कौरवों की कुटिल नीति से जब पाण्डवों को राजधानी छोड़कर वारणावत-नगर जाना पड़ता है (जहाँ लाक्षागृह-दाह की घटना होती है) तो कुन्ती आर्त वाणी में जिन की स्तुति करती है ।[२] लाक्षागृह-दाह के षड्यंत्र से प्राण बचाकर पांडव आगे बढ़ते हैं तो एकचक्रा नगरी मिलती है। उसमें जिनालय देखकर वे प्रविष्ठ होते हैं और वन्दना करते हैं ।[३] दुर्योधन के अनीतिपूर्ण आचरण के विरुद्ध और युद्ध से विरत होने के लिए शिक्षा देते हुए विदुर जहाँ अनेक बातें बताते हैं वहाँ वह यह भी कहते हैं कि वह सिर केवल भार-स्वरूप है जो "त्रिभुवन-सार" के सम्मुख झुकता नहीं—

सो पा सीस परणिमिउ भारउं । जेहिं ण पणविउ तिहुयण सारउं—३४. ६.

जब दुर्योधन पर विदुर के उपदेश का प्रभाव नहीं होता तो वह खिन्न होकर जिन-दीक्षा ले लेते हैं—

णमि णेमिहिं णवकारु करेप्पिणु णिय सिरे मुट्ठिउ पंच भरेप्पिणु ।
जाउ महारिसि विहो पइट्ठउ । किउ तउ जो पुरुएवें दिट्ठउ ।। ३४.१८.

शर-शैय्या पर पड़े भीष्म पितामह जैन दर्शन के सभी तत्वों का विवेचन करते हैं और अन्त में कहते हैं—

सलिलहो मज्झे मयंक जिहं तिय मणु धरिवि न सक्कइ कोइ ।
जेण समाहि मरणु लइउ सो परमारहो भायणु होइ ।। ४८.१३.

महाभारत के १८ वें दिन जब दुर्योधन धराशायी होता है और उसका भविष्य अनिश्चित हो जाता है तो गांधारी आशीर्वाद देती है कि तू जन्म-जन्म में जिन-धर्म में उत्पन्न हो और जन्म में शुभगति को प्राप्त हो ।[४] महाभारत समाप्त कर जब बलदेव-कृष्ण आदि द्वारावती पहुँचते हैं और युद्ध की व्यस्तता से अवकाश मिलता है तो हलधर के ध्यान में आता है कि जिनवर का अभिषेक करना चाहिए ।[५] कृष्ण भी कहते हैं कि हम धन्य हैं जिनके ऐसा भाई हो ।[६] नेमि की माता तीर्थंकर-पुत्र और बलदेव-कृष्ण का स्तवन करती हुई कहती हैं कि तुम तीनों से संसार सनाथ है, तुम्हीं से सब ऋद्धियाँ और सिद्धियाँ हैं ।[७]

इन कुछ उदाहरणों से स्पष्ट होगा कि स्वयंभू के इन दोनों काव्यों के सभी प्रधान-अप्रधान पात्र जैन धर्मानुयायी हैं । स्वयंभू ने सबका चित्रण इसी रूप में किया है । वस्तुतः पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ का पूरा वातावरण धार्मिकता से ओत-प्रोत है । वह जिन-मय है । इससे

१—ताम महारिसि संघु पराइउं ।
तहि परमेसरु सुव्वय सामिउ । दिव्व णाणि सिव सासय गामिउ । १४, १४, १८ ।

२—वद्ट माण जिण मंदिर जेत्तहो । कुंतिए णिय णिय णंदण तेत्तहो ।१८, ६ ।

३—तो भुव दंड वेयंडव पहए, एक चक्कु गय पंडव ।
दिट्ठ जिणालय वंदिउ जिणवरु अजरामर पुरवर परमेसरु । २०.१ ।

४—जम्मे-जम्मे जिण धम्मु लइज्जहु । जम्मे-जम्मे सुहगइ पाविज्जहु । ६०.१७ ।

५—उप्पण्णु कोउ तो हल हलो । अहिसेउ ण किज्जहु जिणवर हो । ६५.४ ।

६—हउ धण्ण जसु भायर एहइ । ६६.५ ।

७—तुहुँ हरिवलु तिण्णिहि जगहो णाह । तुम्हिहि तिहिंहो तिहिहउ सणाह ।
तुम्हेंहि तिहि होंतिहि रयण रिद्धि । तुम्हें हितिहिं होंतिहि परमसिद्धि । ६७.८ ।

उनकी रसात्मकता को कितनी हानि पहुँची है, इसका विचार अगले अध्याय में मिलेगा। यहाँ तो स्वयंभू के चरित्र-चित्रण के प्रसंग में उनके पात्रों की एक सर्व-सामान्य विशेषता की ओर ध्यान आकृष्ट करना अभीष्ट था। इसका कुछ विस्तार से उल्लेख इसलिए किया गया है कि आगे विभिन्न चरित्रों की अन्य व्यक्तिगत विशेषताओं का विवेचन करते समय इस सामान्य विशेषता का बार-बार उल्लेख न करना पड़े।

स्वयंभू के पात्रों के चरित्र-चित्रण का अवलोकन करते समय एक और भी बात है जिसे हमें नहीं भूलना चाहिए। स्वयंभू का चरित्र-चित्रण आधुनिक यथार्थवादी ढंग का न होकर आदर्शवादी ढंग का है। इन दोनों ढंगों में बहुत अंतर है। आधुनिक उपन्यासों, कहानियों आदि में जो चरित्र-चित्रण हम देखते हैं वह यथार्थवादी ढंग का होता है। इनकी कथा-वस्तु प्रायः उत्पाद्य या कल्पित होती है और उनके पात्रों का चरित्र-चित्रण यथार्थवाद के सिद्धांतों पर चलकर मनोवैज्ञानिक भित्ति पर किया जाता है। आज का पाठक ऐसे चरित्रों के अध्ययन में आनन्द अनुभव करता है जो अपनी परिस्थितियों के प्रभाव से जीवन में चढ़ाव-उतार या उत्थान-पतन दिखाते हैं। कुछ कलाकार इन पात्रों का, जीवन-संघर्ष के अंत में, उत्कर्ष दिखाकर अपनी रचना को आदर्शोन्मुखी बना देते हैं। ऐसे भी कलाकार हैं जो अपनी रचना को एकदम यथार्थवादी रंग देने के विचार से पात्रों को परिस्थितियों से विजित दिखाकर छोड़ देते हैं। उत्पाद्य कथा-वस्तु वाली रचनाओं में पात्रों के मनमाना चरित्र-विकास की लेखक को स्वतंत्रता होती है, उसे व्यक्ति-वैचित्र्य दिखाने का पूरा अवसर मिलता है। आधुनिक मनोविज्ञान का लाभ उठाकर लेखक हर पात्र को व्यक्तिगत वैशिष्ट्य से समन्वित करने का प्रयत्न करता है। वांछनीय परिस्थितियों और घटनाओं की अवतारणा करता हुआ वह पात्र के चरित्र का क्रमिक विकास भी दिखाने में सफल होता है। विविध प्रकार की मनोदशाओं के चित्रण और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के बिना आज की कोई रचना सफल नहीं मानी जाती।

स्वयंभू का युग ही भिन्न था। तब चरित्र-चित्रण पर उतना बल नहीं दिया जाता था। व्यक्ति-वैशिष्ट्य या व्यक्ति-वैचित्र्य के स्थान पर तब रसात्मक अनुभूति पैदा करना ही कवियों और लेखकों का लक्ष्य होता था। स्वयंभू के सामने संस्कृत कवियों का रसानुभूति कराने का आदर्श ही था। पात्रों के चरित्र-विकास का भी प्रश्न नहीं था क्योंकि अनुत्पाद्य कथावस्तु के पात्रों का चरित्र प्रायः साँचे में ढला सा होता था। हर पात्र पहले से अपनी आदर्श विशेषता लिए हुए होता था जो परिस्थितियों से बदली नहीं जा सकती थी। या तो पात्र सात्विक कोटि के होते थे या तामस, या तो आदर्श पुण्यात्मा होते थे या आदर्श दुष्टात्मा। सामान्य कोटि के पात्र कम ही होते थे। उनके चरित्र की रूप-रेखा पहले से निर्दिष्ट होती थी, उनके हर काम से उनका वही वैशिष्ट्य बार-बार सामने आता है। जो वीर है वह जन्म से ही वीर है, जो धार्मिक प्रवृत्ति का है वह जन्म से ही धार्मिक है। मुख्य बात यह है कि उनकी वीरता या धार्मिकता में कोई वृद्धि या विकास या ह्रास के लिए अवकाश नहीं है। हनुमान जन्म से ही वीर हैं, हर तीर्थंकर जन्म से ही इतना धार्मिक ऐश्वर्य लाता है कि प्रकृति के चराचर अवाक् रह जाते हैं, इन्द्र उसके अभिषेक को दौड़ा आता है।

स्वयंभू के सामने सम्यक् चरित्र-चित्रण का यदि कोई उदाहरण था तो संस्कृत और प्राकृत कवियों का। यह नैतिकता-धार्मिकता से प्रभावित आदर्शवादी चरित्र-चित्रण का उदाहरण था। संस्कृत नाटकों तक में, जहाँ चरित्र-चित्रण कलाकार का एक विशेष दायित्व

समझा जाता है, दृष्टि-विस्तार धीरोदात्त, धीरशान्त, धीर-ललित और धीरोद्धत—इन चार प्रकार के नायकों तक सीमित था। चरित्र-वैचित्र्य या चरित्र-वैविध्य इस सीमा के बाहर कल्पनीय नहीं था। स्वयंभू के चरित्र-चित्रण की सफलता की परख इस कसौटी पर होनी चाहिए कि जिस धार्मिक और साहित्यिक आदर्शों की पृष्ठभूमि में वे पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ के पात्रों को पाते हैं उनकी सीमाओं में रहकर वे इनकी परम्परागत विशेषताओं को चित्रित करने में कितनी वाग्विदग्धता, मार्मिकता, हृदयग्राहिता और प्रभावकारिता दिखाते हैं। यह समझना भूल होगी कि अनुत्पाद्य कथानक वाले काव्यों में कवि को चरित्र-चित्रण के लिए कुछ करना ही नहीं होता। यदि ऐसा होता तो रामायण और महाभारत के कथानकों पर इतनी सारी रचनाएँ संभव ही न होतीं। परम्परागत चरित्रों के वर्णन में भी कौशल-प्रदर्शन का असीम क्षेत्र होता है।

स्वयंभू का चरित्र-चित्रण भी अपनी विशेषताएँ रखता है। उनमें चरित्र-वैशिष्ट्य के विशेष अंगों को चुन लेने और फिर बार-बार उन्हीं को उभाड़कर सामने रखने की बड़ी क्षमता है। वे हर पात्र के आद्यन्त चित्रण पर विश्वास नहीं रखते। राम का चित्रण उन्होंने जनक की शबरों से रक्षा के अवसर से आरंभ किया है तो रावण का चित्रण उसके जन्म-काल से। कृष्ण का चित्रण उनके जन्म और बाल लीला से आरंभ किया गया है तो बलदेव का नेमि के अभिषेक-दिवस से। जैसे एक चित्रकार दो-तीन बार के तूलिका-संचालन से हमारे सामने एक सजीव चित्र प्रस्तुत कर दे, वही हाल स्वयंभू का है। उनके चरित्रांकन में चित्रात्मकता बहुत अधिक है। अपनी उर्वर कल्पना के सहारे कवि ऐसी उपमाएँ या उत्प्रेक्षाएँ ढूंढ़कर लाता है कि उसका प्रस्तुत-विधान न केवल चक्षु-गोचर-सा होने लगता है वरन् अपनी सजीवता में वह अत्यन्त प्रभावकारी और स्मरणीय भी होता है। रण-क्षेत्र में खंडित-चक्र, भूमि-शायी अभिमन्यु का चित्र केवल एक पंक्ति में अविस्मरणीय बना दिया गया है—

चक्क खंडु थिउ बालहो करयले। अट्ठमि चंद-बिंदु णं णहयले। ५५.२६.

स्नान के अनन्तर और भोजन ठीक पूर्व जिन-प्रतिमा के पूजन के लिए जाते हुए धवल-वस्त्र-आभूषित रावण का यह धार्मिक रूप कितना भव्य है—

सोहइ धवल-वडेण आवेढिउ दससिर-सिरु पवरु।
णं सुर-सरि वाहेण कइलासहो तणउ तुंग-सिहरु। ७३.४.१०.

इस तरह के अनगिनत उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनके द्वारा स्वयंभू की विशिष्ट चरित्र-चित्रण शैली का पता लगता है। चरित्रों के ऐसे रूपांकन की उनमें अद्भुत प्रतिभा है जिससे उनके विशेष गुणों का प्रतिपादन होता है।

नीचे पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ के कुछ पात्रों का स्वयंभू द्वारा अंकित चित्र प्रस्तुत किया जाता है।

राम—अयोध्या के राजा दशरथ और रानी अपराजिता के पुत्र हैं। अपने तीन छोटे भाइयों—भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न—के समेत वे मानो भूमंडल के लिए चार महासमुद्र, ऐरावत हाथी के दाँत या सज्जनों के मनोरथों के समान थे।[1] बचपन से ही उनमें अपार शक्ति और पराक्रम

१—एव चयारि पुत्त तहों राय हो। णांइ महा-समुद्द महि-मायहो ॥
णांइ दन्त णिव्वाण-गइन्दहो। णांइ मणोरह सज्जण-बिन्दहो ॥ २१. ५. प०च०

है। शबर-पुलिंदों से आक्रान्त राजा जनक के सहायतार्थ पिता को अभियान के लिए उद्यत देख राम यह कह स्वयं जाने को तैयार हो जाते हैं कि "मेरे जीवित रहते हुए आप जारहे हैं। आप तो मुझे यह आदेश दें कि मैं शीघ्र शत्रु का संहार करूँ।"[१] दशरथ उनकी सुकुमार अवस्था देख शंकालु होते हैं, तब राम यह कर उन्हें आश्वस्त करते हैं कि "क्या बाल रवि अन्धकार नष्ट नहीं करता ?[२]" पवन की तरह राम अग्नि के समान लक्ष्मण को साथ लेकर शत्रुओं की सेना पर टूट पड़े और उसे ध्वस्त कर दिया।[३]

राम के जीवन की यह पहली प्रधान घटना है जो उनके आगामी संघर्षमय जीवन की प्रस्तावना करती है। यह घटना प्रतीक है उस कर्ममय जीवन की जो अन्याय को मिटाने और न्याय की प्रतिष्ठा करने में सतत तत्पर दिखाई देता है यह वह घटना है जो आगे की घटना-श्रृंखला की जननी कही जा सकती है।

सीता-स्वयंवर के अवसर पर एकत्र असंख्य अभिमानी राजाओं का मान मर्दनकर राम प्रत्यंचा चढ़ाते हैं और सीता को—जो वस्तुतः जनक द्वारा उनकी वाग्दत्ता हो चुकी है[४]—प्राप्त करते हैं। उसी क्षण ज्योतिषी भविष्यवाणी करते हैं कि "इस कन्या के कारण बहुत से राक्षसों का का विनाश होगा।[५]" यह राम के आगे के कर्त्तव्य की मानो सूचना है। वह अयोध्या पहुँचकर अविचल रति-सुख-भोग में अवस्थित होते हैं[६] कि उनके वनवास का समय उपस्थित हो जाता है। सौतेली माँ कैकेयी अपने पुत्र भरत के लिए केवल राज चाहती है। राम एक कदम आगे बढ़ जाते हैं। वह जानते हैं कि उनके अयोध्या में रहते भरत के लिए राज करना संभव नहीं होगा।[७] इसलिए वह पिता के आदेश को मानकर न केवल राज भरत के लिए छोड़ देते हैं वरन् १६ साल के लिए अयोध्या भी छोड़कर वनवास का व्रत ले लेते हैं। माता से आज्ञा लेकर उनके घर से निकलते समय राम के सामने हिमालय से गंगा-सरीखी सीता भी निकल कर खड़ी हो जाती हैं। राम उन्हें साथ ले लेते हैं। भरत के लिए उनके मन में ईर्ष्या, द्वेष या प्रतिहिंसा का लेश भी नहीं है। अपने हाथ से वह भरत को राजपट बाँधते हैं।[८] लक्ष्मण को भरत-कैकेयी और दशरथ पर क्रुद्ध और अनर्थ पर तुला हुआ देखकर वह उन्हें भी साथ वन जाने को कहते हैं।[९] रघुवंश-शिरोमणि राम अपनी विशाल-हृदयता और दूरदर्शिता से पारिवारिक कलह का निवारण करते हैं और स्वेच्छा से वन की राह लेते हैं।

१—"मइं जायन्ते ताय तुहुं चल्लहि। हणमि वइरि छुडु हत्थुत्थल्लहि॥" २१.६।

२—किं तम हणइ न बाल रवि ? २१,६।

३—एक्कु पवणु अण्णेक्कु हुआसणु। २१.७।

४—आणइ जणय-णराहिवेण तहिं काले वि अप्पिय राहवहो। २१, ७. ६।

५—"आयहे कण्णहे कारणेण होसइ विणासु बहु-रक्खसहु। २१. १३. ६।

६—थियइं अउज्झहे अवचलहं रइ-सोक्ख सइं भुंजन्ताइं। २१.१४.१०।

७—वह माता कौशल्या से ऐसा कहते भी हैं—

जिह रवि-किरणेंहि ससि न पहावइ। तिह मइं होन्तें भरहु ण भावइ। २३.५।

८—णिय-मन्दिरहो विणिग्गय जाणइ णं हिमवन्त हो गंग महा-णइ। २३.६।

९—रज्जें किज्जइ काइं तायहो सच्च-विणासे।

सोलह वरिसइं जाम वे वि वसहु वण-वासे॥ २३.८.६।

वन-मार्ग पर पग बढ़ाते ही उनके आत्म-संयम की परीक्षा होती है। रति-कर्म-निरत स्त्री-पुरुषों के रूप में वह काम-महायुद्ध देखते हैं। सीता की ओर देखकर राम हँस देते हैं, मानो सुरता सक्त नर-नारियों के अज्ञान ने उन्हें बरबस हँसा दिया हो। अयोध्या की सीमा पर पहुँचकर गंभीर नदी के तट से वह पीछे आती हुई सेना को लौटा देते हैं और उसे आदेश देते हैं कि आज्ञा-पालक, तुम लोग आज से भरत के सैनिक बनो।[१] यह कह कर नीति परायण राम आगे बढ़ते हैं कि उनके वन गमन का समाचार पाकर भरत उन्हें अयोध्या लौटाने के उद्देश्य से जा पहुँचते हैं। भरत के पीछे लगी कैकेयी भी जाती है। अपने निश्चय पर दृढ़ राम दोनों को सम्बोधित करते हैं और भरत के सिर पर फिर से राजपट्ट बाँध उन्हें वापस कर देते हैं। इस प्रकार राज-बाधाओं से निष्कंटक हुए वन के कंटकमय मार्ग पर राम आगे बढ़ते हैं।

वनवास का जीवन घटना-संकुल है, इतने पर भी राम बहुत शान्तधीर-गम्भीर दिखाई देते हैं। वन्य प्रकृति, नदी, पहाड़, जंगल उन्हें बहुत आकृष्ट करते हैं, भील आदि वन्य जातियों के जीवन-व्यापारों के निरीक्षण में उनकी बड़ी रुचि है। उनकी बस्ती में सीता और लक्ष्मण के साथ वह निवास करते हैं[२] और उनके संसर्ग से उन्हें अतीव आनन्द होता है। धानुष्क वन से लेकर, जहाँ से उनकी वन यात्रा आरम्भ होती है, सुदूर दक्षिण में दंडकवन-स्थित क्रौंच नदी तक, जहाँ सीताहरण होता है, उनके जीवन का यही क्रम रहता है। उनका मानसिक संतुलन सदैव स्थिर रहता है और उनके आन्तरिक सौख्य पर वाह्य घटनाएँ कोई प्रभाव नहीं छोड़तीं। सज्जनों[३] के परित्राण और दुष्टों[४] के दलन और मान-मत्सर-भंग की अनेक घटनाएँ होती हैं, कृतज्ञ राजाओं की ओर से अनेक कन्या-दान होते हैं, कितनी ही सुन्दरियाँ स्वेच्छा से आत्म-दान करती हैं[५] पर इन सब में राम अपने को पीछे रखकर लक्ष्मण को आगे रखते हैं। सर्वत्र कर्तृत्व लक्ष्मण का दिखाई देता है, पर सर्वत्र उसकी प्रेरक शक्ति राम होते हैं। सफलता लक्ष्मण को मिलती है, वरद आशीर्वाद राम का होता है। धर्म चर्चा में राम लक्ष्मण के आगे रहते हैं, मुनियों पर किये गये उपसर्ग को दूर करने में भी राम अधिक क्रियाशील दिखाई देते हैं।[६] पुराण-कथा में उनकी अधिक जानकारी भी है और रुचि भी। वह स्थल[७] बड़ा ही मनोरम है जहाँ वट-वृक्ष से आरम्भ करके राम-सीता को उन सभी वृक्षों का नाम-पूर्वक संकेत करते हैं जिनके नीचे तीर्थंकरों को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ था। राम के वनवास-जीवन की निस्पृह सरलता, निःस्वार्थ कर्त्तव्य परायणता, प्रकृति के प्रति सहज आसक्ति और धर्माभिरुचि की छवि बड़ी ही मनोहारी है।

सीता-हरण के अवसर पर राम के स्त्री-परायण हृदय का कोमल-करुण पक्ष उद्घाटित होता है। पत्नी-वियोग में वह हाहाकार के साथ विलाप करने लगते हैं और अपने

१—"तुम्हेंहि एवहि आणवडिच्छा। भरहंहो भिच्च होह हियइच्छा।" २३.१४।

२—तं तेहउ वणु भिल्लहुं केरउ ॥ हरि-बलएवहिं किउ विवरेरउ ॥ २४.१२।

३—वज्रकर्ण, बालिखिल्य, मुनिवर्ग, जटायु, सुग्रीव, विराधित आदि।

४—सिंहोदर, रुद्रभूति, कपिल ब्राह्मण, महीधर, अनंतवीर्य, अरिदमन, उत्पाती, यक्षादि, विट सुग्रीव, राक्षसादि।

५—कल्याणमाला, बनमाला, जितपद्मा आदि तथा अन्य अनेक।

६—प० च० संधि ३२।

७—प० च०, ३२.४–५।

को असहाय अनुभव कर कुटुम्बि-जनों को बिखेर देने वाले भाग्य-देवता को कोसते हुए मूर्च्छित हो जाते हैं।[१] आकाशगामी-मुनियों का स्त्री-निन्दक उपदेश उनके वियोग की ज्वाला को शान्त नहीं करता और वे कभी चेतन, कभी अचेतन अवस्था में वन की देवियों, लता-वृक्षों और पशु-पक्षियों से सीता के विषय में पूँछते फिरते हैं।[२] विराधित अपने नगर में ले जाकर उन्हें राजपाट सौंप देता है पर राम अपने को सान्त्वना नहीं दे पाते, सीता के वियोग में वह क्षीण से क्षीणातर होते जाते हैं।[३] सुग्रीव की मैत्री के पश्चात् जब हनूमान सीता की खोज में जाते हैं तो पहचान के लिए उन्हें अँगूठी देते हुए राम जो संदेश भेजते हैं उनमें अपनी दशा का मार्मिक चित्रण करते हैं।[४] सीता का संदेश लेकर हनुमान के लंका से लौटने पर राम आनन्द से विह्वल हो जाते हैं और अपनी विशाल भुजाओं से हनुमान का आलिंगन करते हैं।[५]

जब विभीषण भाई को छोड़कर राम से आकर मिल जाता है तो राम उसके उपकार के बदले में कहते हैं कि "मैं तुम्हें लज्जित नहीं होने दूंगा और समग्र लंका का राज्य तुम्हें दूंगा। रावण का सिर तोड़कर मैं उसे कृतान्त का अतिथि बनाऊँगा।[६] रावण पर इतना रोष होते हुए भी राम उसे अन्तिम अवसर देते हैं और अंगद को दूत बनाकर उसके पास भेजते हैं कि अभिमान और अनीति छोड़कर संधि कर ले।[७] मदांध रावण पर इसका कोई असर नहीं होता और युद्ध होकर रहता है।

युद्ध-काल में राम का करुण-कोमल हृदय एक बार फिर प्रदर्शित होता है। लक्ष्मण को शक्ति लगने पर भाई के वियोग की आशंका से करुणा-विगलित राम की वही दशा हो जाती है जो सीता-वियोग के अवसर पर हुई थी। वह मूर्च्छित हो जाते हैं।[८] संज्ञा प्राप्त होने पर वह लक्ष्मण की कीर्ति-गाथा गाने लगते हैं।[९] उसी प्रकार की असहाय उक्ति उनके मुख से

१—कहिं हउं कहिं हरि कहिं घरिणि कहि घरू कहिं परियणु छिण्णउ।
भूप-वलिव्व कुटुम्बु जणे हय-वइवें कह विक्खिण्णउ ॥ ३९. २. ९।

२—हे कुंजर कामिणि-गइ-गमन। कहें कहि मि दिट्ठ जइ मिगणयण। —३९.१२।

३—खर-दूसण-मन्दिरं पइसरेवि। चन्दोयर-पुत्तहो रज्जुदेवि।
साहारु ण वन्धइ कहि मि रामु। वइदेहि-विओएं खामु खामु ॥ ४०.१८।

४—दुब्बइ, सुन्दरि तुज्झ विओएं। झीणु करी व करिणि-विच्छोएं ॥
झीणु सु-धम्मु व कलि-परिणामें। झीणु स-पुरिसु व पिसुणालावें ॥
झीणु मयंकु व वर-पक्ख-क्खएं। झीणु मुणिन्दु व सिद्धिए कंखएं ॥
झीणु कु-राउलेण वर-देसु व। अवह मज्झे कइ-कव्व-विसेसु व ॥
झीणु सु-पन्थु व जग-परिचत्तउ। रामचन्द्र तिह पइं सुमरन्तउ। ४५.१५।

५—इय वारियाइं सुणेवि वड-दुम-पारोह-विसालेहिं।
अवरुंडिउ हणुवन्तु राहवेण साइं भुव-डालेहिं ॥ ५५.१२।

६—भणइ रामुणेउ पइं लज्जावमि। णीसावण्ण लंक भुंजावमि ॥
सिर तोडमि रावण हो जियन्तहो। संपेसमि पाहुणउ कयन्तहो ॥५७.१२।

७—अहिमाणु मुएप्पिणु करहि संधि।५८,२।

८—सोमित्ति-सोय-परिणामेण रहुवर-णन्दण मुच्छियउ।६७,२।

९—६७.३।

फिर निकल जाती है जैसी सीता-हरण के अवसर पर निकली थी।[१] घोर दुख के क्षणों में हम प्रायः असहाय अनुभव करते हैं और सभी प्रियजनों की याद हमें बरबस आती है। यहाँ राम की भी वही दशा हो रही है। भाई के प्रति राम के हृदय में अतिशय स्नेह है, हम जानते हैं कि अन्त में भाई की मृत्यु और तज्जन्य वियोग से राम पागल हो जाते हैं और फिर सांसारिक सम्बन्धों से उनका नाता ही टूट जाता है।

रावण की मृत्यु होने पर राम के चरित्र की एक और महानता प्रकट होती है। साधारण व्यक्ति प्रतिद्वन्द्वी के आहत होने पर उसे रौंदता हुआ अपने इष्ट के लिए भागता। राम ऐसा नहीं करते, वह लपक कर सीता के लिए नन्दन-वन में नहीं जा पहुँचते, प्रत्युत वह भाई के विछोह पर विभीषण को सान्त्वना देते हैं,[२] रावण की अन्त्येष्टि-क्रिया सम्पन्न कराते हैं, विभीषण को उसके भविष्य के प्रति आश्वस्त करते हैं और फिर विभीषण के अनुनय पर सीता से मिलने जाते हैं।[३] इस प्रकार एक भाई ने जो अमूल्य निधि अनीतिपूर्वक अपहृत की थी, दूसरा भाई उसे विनयपूर्वक लौटा देता है।

लोकमत के प्रति राम का आदर-भाव सीता-अपवाद के प्रसंग में प्रकट होता है। किन्तु जब उन्हें अपनी भूल का पता चलता है तो वह सीता से अपराध के लिए क्षमा-याचना करते हैं। वह कहते हैं, "क्षुद्र-निन्दकों के छल-छन्द में पड़कर मुझसे बडी भूल हो गई है, मैंने तुम्हारा अपमान किया है और बहुत दुःख दिया है, हे परमेश्वरी, एक बार मुझ पर दया करके मेरा अपराध क्षमा कर दो।"[४] राम की प्रार्थना व्यर्थ होती है। सीता संसार से विरक्त होकर उसी क्षण सर्वभूषण मुनि से जिन-दीक्षा ग्रहण करती हैं। अल्पकाल के लिए राम भावावेष में आकर सर्वभूषण मुनि पर झपटते हैं, पर मुनि के निकट पहुँचते ही उनकी सुबुद्धि लौट आती है।[५] अन्त में लक्ष्मण की मृत्यु से राम भी संसार से विरक्त हो जाते हैं और निर्वाण की प्राप्ति के लिए तपश्चरण में लग जाते हैं।

राम के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता उनके आचरण की सरलता, निष्कपटता और निर्भीकता है। अतुल पराक्रमी होते हुए भी घमण्ड उन्हें नहीं छू गया है। त्याग, विनय और शालीनता की वह प्रतिमूर्ति हैं। परम-जिन में उनकी अपार श्रद्धा है। वह शरणागत-रक्षक और मर्यादा-पालक हैं। राम के चरित्र की दीप्ति से "पउमचरिउ" दीपित लगता है। स्वयंभू ने उन्हें एक महान् आदर्श चरित्र के रूप में चित्रित किया है।

१—कहिं तहुं कहि हउं कहिं पिययम, कहिं जणेरि कहिं जणणु गउ।
हय विहि विच्छोउ करेप्पिणु, कवण मणोरह पुण्ण तउ।७०.३।

२—पेक्खेवि रामेण समरंगणे रामणहो मुहाइं।
आलिंगेप्पिणु धीरिउ रुवहि विहीसण काइं। आदि। ७७, १. १२।

३—विभीषण की उक्ति—

अहो अहो परमेसरवासरहि पच्छएं लंकाउरि पइसरहि॥
मिलि ताव भडारा जाणइहें तउ दुत्तर-विरह-महाणइहें॥
थक्कु तिजगविहूसण-कुंभयले मय-परिमल-मेलाविय-भसले॥७८,६।

४—तं परमेसरि महु मरुसेज्जहि। एक्क-वार अवराहु खमेज्जहि॥ ८३.१६.४।

५—कर मउलि करेवि मुणि वन्दिउ। णय-सिरेण सिरि-हलहरेण॥ ८४.१६.१२।

धार्मिक कारणों से प्रतिनायक रावण का वध लक्ष्मण के हाथ से कराया जाता है और स्थान-स्थान पर वासुदेव के रूप में लक्ष्मण का नाम राम से पहले उल्लिखित मिलता है।[१] पर जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है लक्ष्मण की प्रेरक शक्ति और मार्ग-दर्शक राम हैं और लक्ष्मण के सभी कामों पर उनका नियंत्रण है। धीरोदात्त नायक के जितने गुण हैं वे राम में पाये जाते हैं। इसलिए इसमें तो सन्देह के लिए कोई स्थान ही नहीं है कि पउमचरिउ के नायक राम हैं। कवि का मन्तव्य भी यही है और राम का चरित्र-चित्रण भी यही सिद्ध करता है।

लक्ष्मण

लक्ष्मण जन्म से उद्धत स्वभाव हैं। जो वस्तु उनके स्वभाव में अटल-अचल है वह है अग्रज राम के प्रति अपार प्रेम। राम के स्थान पर भरत को राज्य देने का प्रश्न आने पर दशरथ राम से कहते हैं,[२] यदि मैं तुम्हें छोड़कर उसे (भरत को) राज्य दे दूँ तो लक्ष्मण लाखों को साफ कर देगा। तब न मैं बच पाऊँगा, न भरत, न कैकेयी, न कुमार शत्रुघ्न और न सुप्रभा। दशरथ की आशंका ठीक है क्योंकि जब लक्ष्मण को राजाज्ञा का समाचार मिलता है तो वह तमतमा उठता है और महामेघ के समान गरज कर कहता है, किसने आज धरणेन्द्र के फण से मणि को तोड़ लिया है? देववज्र दंड को किसने हाथ से मोड़ दिया है? प्रलय की अग्नि में कौन पड़ना चाहता है? क्रुद्ध शनि की ओर कौन देखना चाहता है?······ कृतान्त से महायुद्ध कौन चाहता है? राम के जीते जी राजा दूसरा कौन हो सकता है? अथवा किंबहुना, में ही आज भरत को पकड़कर अशेष राज्य अपने हाथ से राम को अर्पित किये देता हूँ।[३]

लक्ष्मण का काल, यम और कलि से भी भयंकर रूप[४] देखकर राम उनका हाथ पकड़ लेते हैं और कहते हैं "तात नाशक राज्य के करने से क्या? चलो सोलह वर्ष तक हम दोनों वनवासी रहें।[५] अग्रज की आज्ञा स्वीकार करके लक्ष्मण उनके पीछे वन को चल देते हैं और सोलह वर्ष पर्यन्त शरीर की छाया की भाँति उनका साथ नहीं छोड़ते। वनवास-काल में जितनी घटनाएँ होती हैं सब में कर्तृत्व उनका और प्रेरणा राम की होती है। वज्रकर्ण की सहायता के लिए वह सिंहोदर को युद्ध में हराते हैं और दोनों की मैत्री कराकर उनकी कन्याओं का पाणिग्रहण करते हैं, कल्याणमाला के उद्धार के लिए रुद्रभूति का मान-मर्दित करते हैं, कपिल ब्राह्मण का मत्सर दूर कर उसे ज्ञान का प्रकाश देते हैं, वन माला को आत्म-हत्या से बचाते हैं और अनन्त वीर्य की भरत को हराने की योजना पर पानी फेरते हैं।

१—उदाहरणार्थ :

(क) णाणा-रयणाहरणहि पुज्जिय। वासुएव-बलएव विसज्जिय। २१.८.२।

(ख) हरि-बलएव पढुक्किय तेत्तहे। सीय-सयम्वर-मण्डउ जेत्तहे। २१.१३.२।

२—तइं मुएवि तासु जइ दिण्ण रज्जु। तो लक्खणु लक्खहं हणइ अज्जु॥
ण वि हउं ण वि भरहु ण केक्कया वि। सत्तुहण कुमारु ण सुप्पहा वि॥२१.६।

३—कें धरणिंद-फणा-मणि तोडिउ। कें सुर-कुलिस-दंडु भुएं मोडिउ॥ आदि २३.७।

४—कलि कियन्त-कालो व भीसणो।२३.८.१।

५—रज्जें किज्जइ काइं तायहो सच्च-विणासे।
सोलह वरिसइं जाम बे वि वसु वसहु वण-वासे॥२३.८.९।

वंशस्थ नगर में मुनियों पर किये उपसर्ग का जब राम लक्ष्मण द्वारा शमन हो जाता है और मुनि वर्ग वन्दना-भक्ति में लगता है तब लक्ष्मण शास्त्रीय संगीत आरंभ करते हैं जिसका भरत के नाट्य शास्त्र में भली-भाँति वर्णन है।[1] चंचल, युद्ध-प्रिय और रूक्ष प्रकृति के लक्ष्मण में प्रेम का होना उनके व्यक्तित्व में कुछ मिठास पैदा कर देता है। कृष्णा नदी तट पर वन-गजों से जुते रथ में राम-सीता को अन्दर बैठा और सारथी के रूप में स्वयं धुरे पर बैठ लक्ष्मण कुछ देर तक लीला-विहार करते हैं।[2] जैसे कोई व्यक्ति कठिन परिश्रम से थक कर थोड़ी देर के लिए किसी मनोरंजन में लीन हो जाय और फिर कार्य की व्यस्तता में डूब जाय वही हाल लक्ष्मण का है। पिछले कई संघर्षों से श्रान्त लक्ष्मण तनिक देर के लिए लीला-विहार करते हैं, प्रकृति का आनन्द लेते हैं कि पारिजात कुसुमों के पराग से मिश्रित सुगंधित पवन का झोंका आता है और कुमार लक्ष्मण भ्रमर की तरह आकृष्ट होकर उसके पीछे दौड़ पड़ते हैं, जैसे हाथी हथिनी की वांछा से दौड़ पड़ता है। वस्तुतः होनहार ही प्रेरित करके उन्हें उधर ले जाता है क्योंकि वहीं वंशस्थल में शंबूक-कांड घटित होता है जो राम-लक्ष्मण-सीता के जीवन में एक नए अध्याय का आरम्भ करता है।

शंबूक का सिर काटकर सूर्यहास खड्ग ले जब लक्ष्मण राम और सीता के पास आते हैं तो दोनों को महान् आश्चर्य होता है। कोमल स्वभाव सीता उनके साहस पर काँपने-सी लगती हैं कि "कुमार लक्ष्मण तो दिनोंदिन वहीं घूमते रहते हैं जहाँ युद्ध और विनाश का बसेरा हो।[3] यह सुनकर लक्ष्मण कहते हैं,[4] जिसमें पुरुषार्थ नहीं वह राजा कैसा ? मनुष्य की कीर्ति-दान सुकवित्व, आयुध और कीर्तन से ही फैलती है, वैसे ही जैसे जिनवर से यह संसार धवल बनता है। इनमें से जिसके मन को एक भी अच्छा नहीं लगता वह मर क्यों नहीं जाता, वह व्यर्थ ही यम का भोजन बनता है।

दान, सुकवित्व, आयुध और कीर्तन में से लक्ष्मण अपनी कीर्ति के विस्तार के लिए आयुध चुनते हैं। आजीवन वह आयुध का ही सहारा लेकर प्रतिपक्षी से लोहा लेते हैं। खरदूषण से युद्ध के लिए जाते समय राम उन्हें आशीर्वाद देते हैं, वत्स, तुम चिरायु बनो, यशस्वी हो, जय श्री वधू तुम्हारे हाथ लगे।[5] सीता कहती हैं, जिस प्रकार जिनवर ने पांच इन्द्रियों को पराजित किया उसी प्रकार तुम भी युद्ध में जीतो और शत्रु-सेना का नाश करो। राम-सीता के ये आशीर्वचन सदैव लक्ष्मण के साथ रहते हैं और कवच का काम करते हैं।

खर-दूषण की सेना का अकेले लक्ष्मण नाश करते हैं। सीता की खोज के लिए उपकरण जुटाना उन्हीं का काम है। विराधित को राम के पास लक्ष्मण लाते हैं। विट-सुग्रीव के आतंक से मुक्त होकर जब सुग्रीव स्त्री-सुख में अपनी प्रतिज्ञा को भूल जाता है तब लक्ष्मण उसके पास जाकर उसकी मति ठिकाने लगाते हैं।[6] जब रावण को मारने की राम की शक्ति पर

१—भरहें भरह-गविट्ठइं जाइं।३२.८.८।

२—धुरे लक्खणु रहवरें वासरहि। सुल्लीलए पुणु विहरन्ति महि॥ ३६.२।

३—परिभमइ जणद्दणु जहिं जे जहिं। विवें विवें कडमद्दणु तहिं जें तहिं॥ ३६.५।

४—३६.५।

५—प० च०, संधि, ३७.१३।

६—प० च०, संधि, ४४.३-४।

वानरों को शंका होती है तब लक्ष्मण कोटिशिला का संचालन कर उनकी शंका दूर करते हैं। वह कहते हैं, "अरे एक पाषाण खंड से क्या, कहो तो सागर सहित धरती ही उठा लूँ"।[१]

लक्ष्मण की शक्ति अजेय है। सीता का पता लगाकर और उनसे मिलकर जब हनुमान लंका से लौटने लगते हैं तो राम को संदेश देने के बाद सीता कहती हैं "युद्ध में दुर्वार वैरियों को पराजित करने वाले कुमार लक्ष्मण से भी मेरा यह संदेश कह देना कि लक्ष्मण, तुम्हारे रहते हुए भी सीता देवी रो रही है। न तो देवों से, न दानवों से और न वैरी विदारक राम से रावण वध होगा, केवल तुम्हारे भुज-युगल से रावण का वध होगा।[२]

सीता को ही नहीं, रावण को भी पता है कि लक्ष्मण कोई साधारण व्यक्ति नहीं, स्वयं वासुदेव हैं, क्योंकि सीता-हरण के ठीक पूर्व रावण की अवलोकिनी विद्या उसे सूचित कर देती है कि ये लोग त्रिषष्ठि महापुरुषों में से एक हैं और प्रच्छन्न रूप से वनवास कर रहे हैं।......... उनमें भी ये वासुदेव और बलदेव अत्यन्त ही बलिष्ठ हैं।[३] किन्तु होनहार वश रावण की बुद्धि पर पर्दा पड़ा रहता है।

लंका के निकट पहुँचने पर युद्धारम्भ के पूर्व जब राम रावण को अंतिम चेतावनी भेजते हैं तो उनकी उपदेशात्मक शब्दावली लक्ष्मण को अच्छी नहीं लगती। राम की भर्त्सना करते हुए वह बोल पड़ते हैं, ऐसे दृढ़ जिसके बाहु-दंड हों, जिसकी सेना में ऐसे प्रचंड वीर हों, वह दीन वचन क्यों बोले ? हे देव, मैं अकेले ही शत्रु को अपना लक्ष्य बना सकता हूँ।[४]

लक्ष्मण जैसे दुर्द्धर्ष वीर हैं वैसे ही आत्मविश्वासी भी। युद्धभूमि ही उनकी क्रीड़ा-भूमि है। विपक्षी का सिर ही उनका कन्दुक है। युद्धस्थल में शत्रुओं के रक्त से रंजित लक्ष्मण इस प्रकार दिखाई देते हैं मानो वनस्थली में बसंत क्रीड़ा कर रहा हो।[५] युद्ध लक्ष्मण के जीवन का स्वाभाविक व्यापार-सा लगता है। युद्ध-मय कर्मठता उनके स्वभाव का अभिन्न अंग है।

लंका में चौथे दिन के युद्ध में लक्ष्मण इन्द्रजीत को धराशायी करने के बाद रावण द्वारा विभीषण पर छोड़ी गई शक्ति को झेल कर मूर्च्छित हो जाते हैं। युद्ध-भूमि में लक्ष्मण के लिए ऐसा पराभव अपवाद स्वरूप ही है, उनके जीवन में ऐसी घटना इसके पूर्व या बाद में कभी नहीं घटित हुई। अन्तिम दिन के युद्ध में रावण उन पर चक्र से लक्ष्य करता है, पर उसे क्या पता था कि चक्र तो लक्ष्मण का ही है। वह जाकर उनके हाथ में बैठ जाता है[६] और उस चक्र से लक्ष्मण रावण का काम तमाम कर देते हैं।

इसके बाद लक्ष्मण को हम फिर अयोध्या में पाते हैं। सीता की निंदा सुन राम उन्हें

१--किं एक्के पाहण-खण्डेण धरमि स-सायर धरणि-वलुं। ४४.१४.९।

२—णउ देवेहिं णउ दाणवेहिं णउ रामें वइरि-वियारएण।
पर मारेव्वउ दहवयणु सइंभुय-जुअलेण तुहारएण ॥ ५०.१३।

३—"भोए भवट्ठम इय वासुएव बलएव"। ३८.७।

४—"दाढियउ जासु असु बाहु दंड जासु बले एत्थि णरवर मयंड ॥
सो दीण-वयणु पहु चवइ केंव एक्कल्लउ सन्धाणु देव ॥ ६८.२।

५—दिट्ठ रणंगणु राहवचन्दें। रमिउ वसन्तु णाइ गोविन्दें। ३८.११।

६—जं अण्ण-भवन्तरे अज्जियउ तं अप्पणहि समावडिय।
आणा-विहेउ सुकलत्तु जिह चक्कु कुमारहो करे चडिउ ॥ ७५.२१

निर्वासित करना चाहते हैं। लक्ष्मण के लिए राम का यह निर्णय असह्य है। जिस अन्याय के प्रतिकार के लिए वह जीवन भर संघर्ष करते रहे वही अन्याय भाई के द्वारा होने जा रहा है। लक्ष्मण के वीरत्व के लिए यह दुसह्य स्थिति है। भाई की अवज्ञा हो रही है, पर लक्ष्मण अपने हृदय के उद्‌गार को रोक नहीं सकते, विद्युत्-विलास सा जाज्वल्यमान निर्मल सूर्यहास खड्ग हाथ में लेकर वह कहते हैं, "जिस दुष्ट ने ऐसा कहा है उसे मैं आज ही प्रलय को समर्पित करता हूँ, जो गति मैंने महा-क्षुद्र खर की की है, जो गति मैंने रौद्र रावण की की है वही गति आज कुटिल-भुजंग-स्वभाव उस दुर्जन की करूँगा। महासती सीता पर कौन कलंक लगा सकता है जिसके नाम-लेने से दुःख का नाश होता है··· ··· ···।

राम लक्ष्मण का प्रतिकार स्वीकार नहीं करते हैं और सीता को वनवास देकर रहते हैं। पर इससे दोनों भाइयों के परस्पर प्रेम में अंतर नहीं पड़ता। देवताओं को भी इस प्रेम पर ईर्ष्या होती है और उनकी परीक्षा के लिए कोई देवता राम मर गये ऐसी वाणी लक्ष्मण को सुनाता है। उसे सुनते ही लक्ष्मण भातृ-वियोग की असह्य वेदना से प्राण त्याग देते हैं।

समग्र पउमचरिउ में लक्ष्मण से बढ़कर सच्चे और न्याय-निष्ठ वीर का चरित्र नहीं मिलता। न लक्ष्मण से बढ़कर भातृ-भक्त कोई भाई है।

सीता

प्रारम्भ में मौन मिलती हैं। उनके चरित्र का वास्तविक रूप हम वनवास के दिन से देखने लगते हैं। वह रावण की मृत्यु का निमित्त बनेगीं, यह हमें पहले ही मालूम हो जाता है। विभीषण द्वारा रावण का भविष्य पूछे जाने पर सागरवृद्धि भट्टारक ने पहले ही कह दिया है कि राज जनक की कन्या को लेकर होने वाले महायुद्ध में रावण मारा जायगा[२]। राम से पाणि-ग्रहण के अवसर पर भी ज्योतिषी भविष्यवाणी कर चुके हैं कि इस कन्या के कारण बहुत से राक्षसों का विनाश होगा।[३] इन भविष्य वाणियों के अनुरूप ही आगे की घटनाएँ होती हैं। पर इनसे सीता के चरित्र पर तो कोई प्रकाश पड़ता नहीं।

सीता का चरित्र उस दिन से उद्‌घाटित होना आरम्भ होता है जिस दिन राम राजाज्ञा से राजपाट त्याग कर स्वेच्छा से वनवास के लिए प्रस्थान करते हैं। माता से आज्ञा लेकर उनके महल से निकलते हुए राम के सामने सीता यों आकर खड़ी हो जाती है जैसे हिमालय से गंगा ही आ गई हों। वन में अलख जगाने के लिए गंगा-स्वरूपा सीता का यों आगे से मिलना शकुन होना चाहिए। पर आगे कवि कहता है—

णिग्गय सीयाएवि सिय हरन्ति णित-भवण हो।
राम हो दुक्खुप्पत्ति असणि णाइ दहवयण हो। २३.९।

सीता शकुन नहीं, किन्तु राम के लिए दुःख की उत्पत्ति और रावण के लिए वज्र थीं। वह तो होनहार की बात है, सीता के चरित्र की जो विशेषता हमें अच्छी लगती है वह यह कि वह पति के साथ वन का दुःख भोगने के लिए निकल पड़ती हैं।[४] वन-मार्ग में कितनी घटनाएँ

१—प०च०. संधि ८१.६।
२—तेंहि हलेवउ रक्खु महारणे। जणय-णराहिव-तणयहें कारणे। २१.१.४।
३—जायहे कण्णहें कारणेण होसइ विणासु बहु-रक्ससहुँ। २१.१३.९।
४—णिय-मन्दिर हो विणिग्गय जाणइ। णं हिमवंती गंग महा-नइ। २३.९।

हो जाती हैं पर सीता मौन बनी रहती हैं, मानों पति और देवर के कामों में उनकी कोई रुचि ही न हो। उनका मौन तब भंग होता है जब वे तृषाकुल होती हैं और पति से हिमशीतल और शशि की तरह स्वच्छ जल की तलाश के लिए प्रार्थना करती हैं।[1]

स्त्रीजनोचित कोमलता और आकुलता का परिचय देकर सीता फिर मौन हो जाती हैं। इस बीच कपिल ब्राह्मण, वनमाला, अनंतवीर आदि प्रसंगों से राम-लक्ष्मण निबटारा करते हैं। वंशस्थ नगर के वन में राम सीता को पुण्य-वृक्षों के विषय में बताते हैं, पर वहाँ भी सीता श्रोता और दर्शक-मात्र हैं, उनका स्वर वहाँ भी नहीं फूटता।[2] मुनियों पर किये गये उपसर्ग की भयंकरता देखकर कदाचित् सीता कुछ भयभीत होती हैं, यद्यपि कवि ने इसका कहीं उल्लेख नहीं किया है, राम-लक्ष्मण सीता को अभय-वचन कहते हैं, पर सीता यहाँ भी मौन हैं। क्रौंच नदी के तट पर राम-लक्ष्मण-सीता एक ही रथ पर विहार करते हैं, लेकिन सीता का मौन यहाँ भी भंग नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है मानो कवि सीता की समस्त मुखरता को, उनकी वाणी की सारी भावाभिव्यंजना-शक्ति को संचित करता चल रहा है। हमें सीता की मानसिक स्थिति का यदा-कदा ही कुछ आभास-मिल पाता है। उनका मौन उनके चरित्र की विशेषताओं को आवेष्ठित किये रहता है।[3]

शम्बूक का सिर काट कर सूर्यहास खड्ग को लिये हुए लक्ष्मण जब राम-सीता के सामने प्रकट होते हैं तब सीता की उक्ति से हमें उनकी मन: स्थिति का कुछ पता चलता है। वह कहती हैं हाथ, पैर, सिर और शरीर का नाश करने वाले इन युद्धों से मुझे उतना ही संताप होता है जितना कलिकाल और कृतान्त से।[4] सीता अयोध्या छोड़ने के बाद एक-के-बाद-एक अनेक युद्ध-कांड देख चुकी हैं, किन्तु उन्हें क्या मालूम कि शम्बूक-शिरच्छेद से उस महायुद्ध की प्रस्तावना होने जा रही है जिसमें उनकी भूमिका प्रधान होगी।

सीता का चरित्र-व्यंजक हृदयोद्गार हमें उस समय सुनाई देता है जब रावण उनका अपहरण करके लंका के लिए प्रस्थान करता है। जटायु पक्षी उनके लिए मर-मिटा पर सर्व-शक्ति-सम्पन्न देव उस निशाचरी अत्याचार को देखकर भी निष्क्रिय बने रहते हैं। सीता एक-एक का नाम लेकर देवों की भर्त्सना करती हैं और कहती हैं कि अब तो इस जन्म में राम और दूसरे जन्म में जिनवर की ही शरण मुझे प्राप्त हो। उन्हें सभी कुटुम्बियों का नाम याद आता है और सब की दुहाई देती हैं, फिर कहती हैं—

हा हा पुणु वि राम हा लक्खण। को सुमरमि कहों कहमि अ-लक्खण।

सीता अपने को इस समय बड़ी ही अभागिनी समझ रही हैं। जब से वह अयोध्या से निकली हैं उन्होंने उत्पात और युद्ध ही देखा है। इन सबका कारण वह अपने को ही मानती हैं—

१—जल कहि मि गवेसहो णिम्मलउ। जं तिस-हर हिम-ससि-सीयलउ। —२७.१२।

२—प० च०, संधि ३२.४–५।

३—प० च०, संधि ३२.१०।

४—कर-चलण-देह-सिर-खंडणहुं। णिव्विण माए हउं भण्डणहुं॥
हउं ताएं विण्णी केहाहुं। कलि-काल-कियन्तहुं जेहाहुं॥ ३६.५।

को संथवइ मइं को सुहि कहों दुक्खु महन्तउ ।
जहिं जहिं जामि हउं तं तं जि पएसु पलित्तउ ।। ३८.१५

मुझे कौन सहारा देगा, कौन मेरी सुधि करेगा, अपना भारी दुःख मैं किससे निवेदित करूँ ? मैं जिस प्रदेश में जाती हूँ वही आग से प्रदीप्त हो उठता है ।

अपने भाग्य की बात सोच मर्मान्तिक वेदना के भार से दबी हुई सीता का रूप उस समय बदल जाता है जब उन्हें रावण के लोलुप व्यवहारों का उत्तर देना होता है । उनके रूप पर आसक्त रावण अभी लंका भी नहीं पहुँचा है कि मार्ग में ही उनका आलिंगन करना चाहता है । सीता भर्त्सना के स्वर में कहती हैं—हे रावण, अल्प दिनों में ही रण में तुम्हारी पराजय होगी तब तुम मेरे स्थान पर राम के बाणों का आलिंगन करोगे ।[1]

लंका पहुँचने पर हम देखते हैं ज्यों-ज्यों रावण सीता को वशीभूत करने के प्रयत्न करता है, साम, दाम, दंड, भेद नीतियों से उनके प्रेम पर विजय पाना चाहता है त्यों-त्यों सीता के स्वर की तीव्रता बढ़ती जाती है, उनका सती-साध्वी का रूप निखरता जाता है । पति के कहने पर दौत्य-कार्य के लिए आई हुई मन्दोदरी के प्रति सीता के वचन बड़े ही मर्म-भेदी हैं । जब मन्दोदरी पति की प्रशंसा में वीरता, शौर्य, पराक्रम और वैभव के सभी विशेषण खर्च कर चुकी तो सीता कहती हैं कि मालूम होता है कि तुम्हारी किसी पर-पुरुष में इच्छा है, इसी से यह दुर्बुद्धि मुझे दे रही हो ।[2] मन्दोदरी के करपत्र से तिलतिल कटवाने की धमकी सुन सीता का तेज और बढ़ जाता है और वह कहती है तो अपने इरादे को आज ही पूरा कर डालो जिससे मैं पर पुरुष की छाया से मुक्ति पाऊँ । रावण सीता को समझाने जाता है तो सीता उससे कहती हैं—हे रावण, मेरे सामने से हट, तू मुझे पिता के समान है ।[3]

रावण ने सीता पर अनेक प्रकार के उपसर्ग कराए, उन्हें प्रलोभन दिये, नगर में घुमा कर अपना राजवैभव दिखाया पर वह उनका सतीत्व नहीं डिगा सका । हिमालय जैसे अचल और गंगा-जल जैसे पवित्र सीता के चरित्र पर रावण कालिमा की छाया नहीं डाल सका ।

लंका-निवास-काल में सीता के चरित्र की जो परीक्षा हुई उससे भी कठोर और निर्मम परीक्षा उनकी राम के द्वारा होती है । पर-पुरुष के अत्याचारों से पीड़ित होकर सीता का हृदय भग्न नहीं हुआ था, किन्तु अपने पति द्वारा उनके साथ जो अन्यायपूर्ण व्यवहार हुआ उससे सीता का हृदय भग्न हो जाता है और संसार से उन्हें विरक्ति हो जाती है ।

पति द्वारा निर्वासित सीता पुत्रों के लालन-पालन में अपना समय बिताने लगती है । किन्तु जब पति को एक प्रकार की सुबुद्धि लौटती है और अग्नि परीक्षा द्वारा उनके सतीत्व का खरापन जाँचने के लिए उन्हें वन से नगर में लाया जाता है तब सीता का मन जैसे विद्रोह कर बैठता है, वह प्रतिहिंसा से भर जाती हैं । उपस्थित नगर-निवासियों को चुनौती-सी देती हुई वह कहती हैं—तुम विश्वस्त होकर देखते रहो, आग यदि समर्थ हो तो मुझे जलाए ।

१—दिवसेहिं थोवएहिं तुहुँ रावण समरे जिणेवउ ।
  अम्हहुँ वारियएं राम-सरेहिं आलिंगेवउ ॥ ३८.६

२—मंदुलु तुहुं पर-पुरिस-पइट्ठी । ते कज्जे महु देहि कुबुद्धि ॥ ४१.१२ ।

३—ओसरु वहुवयण तुहुं अम्हहुं जणय-समाणउ । ४१.१४ ।

तुहु यक्खंतउ अन्णु विसत्थउ । डहउ जलणु जइ डहिवि समत्थउ ।।

और भी आगे कहती हैं कि यदि मेरा मन शुद्ध है तो इस दिव्य शक्ति के किए क्या होगा । सोना शुद्ध है तो आग में तपाये जाने पर भी सोना ही रहेगा ।[१] सीता प्रज्ज्वलित चिता में प्रविष्ठ होती हैं और ज्यों की त्यों निकल आती हैं । सीता का यह भास्वर रूप उनके चरित्र का चरम-उत्कर्ष है । उनके सामने राम सहम जाते हैं और अपने को अपराधी घोषित कर क्षमा की याचना करते हैं । पर सीता का मन विराग से भर चुका है । वह कहती हैं—

एवहिं तिह करेमि पुणु रहुवइ । जिह ण होमि पडिवारी तियमइ ।।

अब तो ऐसा करूंगी जिससे फिर स्त्री न बनना पड़े । जो सीता आरम्भ में इतनी मौन और शान्त मिलती हैं, जिनकी पतिपरायणता की चट्टान पर रावण का दर्प चूर-चूर हो जाता है वह सीता अन्त में सांसारिक व्यवहारों की निस्सारता से विरक्त होकर पति की प्रार्थना को भी अस्वीकार कर देती हैं । इस दृष्टि से सीता का चरित्र स्वयंभू ने अनुपम बना दिया है ।

रावण—स्वयंभू ने जितनी पूर्णता से रावण का चरित्र अंकित किया है उतनी पूर्णता से कदाचित राम का भी नहीं किया है । रावण की प्रारम्भिक साधनाओं का वर्णन बड़े विस्तार से प्राप्त होता है ।

रत्नाश्रव और कैकशी का पुत्र रावण जन्म से ही अतुल बलशाली है ।[२] वह बचपन में ही कभी हाथी के दाँत उखाड़ता और कभी अपने हाथ से उसके मुँह में पत्ते खिलाता ।[३] वह साहसी इतना है कि तोयद वाहन का मणि-जटित नौमुख वाला हार, जो नागराज से रक्षित है और जिसके पास फटकने की किसी की हिम्मत नहीं होती, खेल-खेल में उठाकर पहन लेता है । उसमें प्रतिशोध की भावना और दृढ़ संकल्प की शक्ति है । वैश्रवण से पूर्वजों की हार का बदला चुकाने के लिए वह प्रतिश्रुत होता है और घोर साधना से चन्द्रहास खड्ग तथा एक हजार विद्याएँ सिद्ध करता है ।[४] कैलाश-स्थित जिनालय की परिक्रमा करता हुआ वह घर लौटता है और मन्दोदरी से विवाह करता है । तदनन्तर वह एक-एक करके वैश्रवण, इन्द्र, वरुण, यम आदि सभी प्रतिद्वन्द्वियों को विजित कर अपने आधिपत्य का प्रसार चारों दिशाओं में करता है । यदि रावण को किसी के विरुद्ध सफलता नहीं मिलती तो वह बानरराज बालि से और उसका कारण यह है कि बालि जिनवर का परम भक्त है और जिन को छोड़कर किसी के सामने सिर नहीं झुकाता । रावण उसकी साधना में विघ्न डालने का प्रयत्न करता है । अपनी भूल का पता होने पर रावण बालि के सामने माथा टेकता है और उसकी स्तुति करता है ।[५] अनेक विद्याधर सुन्दरियाँ रावण पर अपने को न्योछावर कर देती हैं और अनेक को वह स्वयं अपहरण कर उपभोग करता है ।

१—किं किजइ अण्णांइ दिव्वे जेण विसुज्झहो महु मणहो ।
जिह कणय-लालि डाहुत्तर अच्छमि मज्झे हुआसहणहो ॥ ८३.९ ।

२—उप्पणु दसासणु अतुल-बलु । ९.३.६ ।

३—तो उप्पाडन्तु दन्त गयहुं करयलु छुहन्तु मुहँ पण्णयहुं ९.३.८ ।

४—सन्धि ९.१२ में कुछ विद्याओं के नाम दिये हैं ।

५—संधि १३.८ ।

राक्षसराज रावण बल, विद्या, बुद्धि, वैभव और जिन-भक्ति में अपने को अद्वितीय मान गर्व का अनुभव करता है तभी नियति उसके विरुद्ध अपना खेल आरम्भ करती है। उसकी प्रकृति में उसके विनाश का बीज छिपा है। उसके चरित्र में एक बहुत बड़ी दुर्बलता है जिसे वह अनन्तरथ केवल ज्ञानी के सम्मुख स्वयं स्वीकार करता है। वह कहता है, "मैं आग की ज्वाला को शान्त कर सकता हूँ, नागराज के फण से मणि ला सकता हूँ, दसों दिशाओं को चूर-चूर कर सकता हूँ, यम महिष पर सवारी कर सकता हूँ, सर्पराज के विषदन्त से विष ला सकता हूँ, इन्द्र को रण में परास्त कर सकता हूँ, सूर्य-चन्द्र की ज्योति छीन सकता हूँ, आकाश और धरती को एक कर सकता हूँ पर दुर्द्धर व्रत धारण नहीं कर सकता।[1]"

जो रावण इतना बलशाली है कि संसार के कठिन से कठिन कार्य कर सकता है, वह रावण अपने मन पर वश नहीं कर सकता। सबको जीत सकने वाला रावण अपने मन को नहीं जीत सकता। उसकी यह असमर्थता ही उसके पराभव का कारण बनती है।

अनन्तरथ केवल ज्ञानी के सामने रावण एक प्रतिज्ञा करता है, वह व्रत तो नहीं ले सकता, किन्तु किसी पर-स्त्री को उसकी इच्छा के विरुद्ध भोग नहीं करेगा।[2] इस प्रतिज्ञा को रावण अन्त तक निभाता है—किन्तु जैसा कि हम देखते हैं, इस प्रतिज्ञा का निर्वाह वह अपनी अन्तरात्मा से नहीं करता, केवल औपचारिक रूप में उसका पालन करता है। यदि ऐसा न होता तो वह सीता से केवल "हाँ" कहलाने के लिए साम, दाम, दंड, भेद की सारी नीतियाँ न अपनाता। किसी स्त्री के शरीर के उपभोग को यदि केवल प्रेम का प्रश्न माना जाय तो उस शर्त की पूर्ति उसे डरा-धमका कर किसी प्रकार "हाँ" कहला लेने से पूरी नहीं होती। रावण को सीता जैसी सती का प्रेम मिलने से तो रहा, वह उसकी सहमति इसी को मान लेगा यदि सीता किसी तरह उसके प्रस्ताव के प्रति "हाँ" कह दे। रावण को इसका सौभाग्य भी नहीं प्राप्त हो सका।

सच तो यह है कि स्त्री-आसक्ति रावण के चरित्र की ऐसी दुर्बलता है जो उसे पतन के गर्त में गिरा देती है और उसका विनाश करके छोड़ती है। सीता के रूप में नियति उसके विनाश का मार्ग तैयार कर देती है। दो-दो बार भविष्यवाणी हो चुकी है कि सीता रावण और राक्षस-वंश के नाश का कारण बनेगी।[3] किन्तु फिर भी रावण सीता के प्रति आसक्त होता है और अपने सर्वनाश को निमंत्रण देता है।

हम रावण की वीरता से, उसकी विजयों से, उसकी दर्पोक्तियों से जितना ही प्रभावित

१—सक्कमि धूमद्धएं झम्प देवि। सक्कमि फण-फणिमणि रयण लेमि ॥
सक्कमि गिरि-मंदरु णिद्दलेवि। सक्कमि दसदिस-वह दरम लेवि ॥
सक्कमि मारुत पोट्टलें छुहेवि। सक्कमि जम-महिसें समारुहेवि ॥
सक्कमि रयणायर-जलु पिएवि। सक्कमि आसी विसु अहि णिएवि ॥
सक्कमि सक्कहों रणें उत्थरेंवि सक्कमि ससि-सूरहं पह हरेवि ॥
सक्कमि महि गयण एक्कु करेंवि दुद्धर णउ सक्कमि वउ धरेवि।१८.२।
२—जं महँण समिच्छइ चारु-गत्तु। तं मण्ड लएमि ण पर कलत्तु।१८.३।
३—विभीषण के ज्योतिषी से पूछने पर (संधि २१.१) और सीता पाणिग्रहण के अवसर पर (संधि २१.१३)।

होते हैं उतना ही सीता के प्रति उसकी कामुकतापूर्ण मनोवृत्ति और चेष्टाओं से हमें घृणा और रोष होता है। सहस्रार, इन्द्र, वरुण, यम, वैश्रवण जैसे वीरों के युद्ध में छक्के छुड़ा देने वाला रावण चोर की भाँति सीता का रूप देखता है और फिर उससे राम को प्राप्त होने वाले शरीर-सुख की कल्पना करता हुआ ईर्ष्या में विभोर हो जाता है। वह सोचता है, इस राम का जीवन धन्य है। इसके साथ यह धन्या संलाप करती है, बार-बार पान देती है, इसके पैरों को अपनी गोद में रखती है, हाथ में हाथ लेकर बातचीत करती है, मालती-माला की तरह कोमल और चूड़ियों सहित अपने हाथों से आलिंगन करती है। नाना भंगिमा वाले संघर्षशील स्तनरूपी मातंगों से मुख चूमती है। विभ्रमभरित और विकारशील निर्मल तारा वाले नेत्रों से इसे देखती है।[1]

राम के भाग्य की कल्पना कर रावण ईर्ष्या में भस्म होने लगता है तो सीता के यौवन-पूर्ण रूप को देख उसे उन्माद होने लगता है, वह काम के बाणों से आहत हो जाता है और एक-एक करके काम की दसों अवस्थाओं का अनुभव करने लगता है।[2] रावण का वीरता से भरा हुआ जिन-भक्त का रूप हमारी दृष्टि से ओझल होने लगता है। सीता का छल से अपहरण करके जाता हुआ रावण मार्ग में कामुकता के वशीभूत हो उनके प्रति बहुत अनुचित, कुरुचिपूर्ण और अश्लील शब्द कहता है—"क्या तुम निष्कंटक राज्य का भोग नहीं करना चाहती है, क्या सुरति-सुख की इच्छा नहीं है, क्या किसी ने मेरा मान भंग किया है, क्या मैं दुर्भग हूँ या असुन्दर।[3]

रावण काम के इतना वशीभूत हो जाता है कि उसे अपनी प्रतिज्ञा भूल जाती है और वह सीता को आलिंगन करने के लिए बढ़ता है।[4] तब सीता को भर्त्सना शब्दों पूर्ण में कहना पड़ता है कि रावण, ठहर, कुछ ही दिनों में मेरे पति राम के बाणों का आलिंगन तुझे प्राप्त होगा।

जब रावण सीता को लेकर लंका पहुँचता है तब मन्दोदरी उसे हर तरह समझाती है।[5] वह कहती है जिनवर के शासन में ५ वस्तुएँ निषिद्ध हैं, उनमें पर-स्त्री सेवन भी है। "कालकूट खाने में जो सुख है, जो सुख प्रलय की आग में प्रवेश करने में है—जो सुख यम का शासन देखने में है, जो सुख तलवार की धार पर बैठने में है, जो सुख सिंह की दंष्ट्रा के नीचे आने में है—

१—जीविउ एक्कु सहलु पर एयहो। जसु सुहवत्तणु गउ परिछेय हो॥
जेण समाणु एह धण जम्पइ। मुह-मुहेण तम्बोलु समप्पइ॥
हत्थे हत्थ धरेवि आलावइ। चलण-जुअलु उच्छगे चडावइ॥
जं आलिंगइ वलय-सणाहहिं। मालइ-माला कोमल-बाहहिं॥
जं पेल्लावह-थण-मायंगेहिं। मुहु परिचुम्बइ णाण-भंगेहिं॥
जं अवलोइय णिम्मल-तारेंहिं। णयणहिं विब्भम-भरिय-वियारेंहिं॥

२—सीय णिएवि जाउ उम्माहउ। दसमुहु वम्मह-सर-पहराहउ॥
पहिलए वयणु वियारेहिं मज्जइ। पेम्म-परव्वसु कहीं वि ण लज्जइ॥ प्राचि ३८.५।

३—किं णिक्कण्टउ रज्जु ण भुंजहि। किं ण सुरय-सोक्ख मणु हुज्जहि॥
किं महु केण वी भग्गु मडप्फर। किं दुहउ किं कहि मि असुन्दर॥ ३८.१८।

४—एम भणेवि आलिंगह आवेहि। जणय सुयए णिब्भच्छिउ तावेहि। ३८.१८।

५—जिणवर-सासणें पंच विरुद्धइं दुग्गइ जाइ णिम्मि अविसुद्धइं॥ प्राचि ४१.६।

वही सुख इस नारी का भोग करने में है ।[१]" पर रावण पर पत्नी के इस उपदेश का कोई प्रभाव नहीं होता, उल्टे उसी को वह अपना दौत्य-कार्य देकर सीता के पास जाने को विवश करता है । उसमें इतना भी धैर्य नहीं है कि वह मन्दोदरी के लौटने तक प्रतीक्षा करे । अभी मन्दोदरी सीता को समझा-डरा-धमका रही थी कि रावण भी वहाँ जा पहुँचा[२] और दीन बनकर फिर उसी कुरुचि पूर्ण शब्दों में अनुनय करने लगा ।[३]

मन्दोदरी का दूतत्व और अपनी दलील विफल होती देख रावण सीता पर अनेकों उपसर्ग कराता है । विभीषण की शिक्षा का उस पर कोई असर नहीं होता । नरक का बीभत्स रूप, जो विभीषण द्वारा उसके सामने चित्रित किया जाता है, रावण के मन में सीता के प्रति कोई वितृष्णा नहीं उत्पन्न करता ।[४] वह अपना वैभव दिखाने के लिए सीता को पुष्पक विमान पर बैठाकर लंका का परिभ्रमण कराता है ।[५]

सीता को फुसलाने के रावण के प्रयत्नों का कोई अन्त नहीं । उनमें विशेषता यही है कि वह केवल अपने बल-वैभव और शारीरिक सुन्दरता अथवा संभोग-सामर्थ्य की ही बात करता है । प्रेम की साधना करने वाले सच्चे प्रेमी के भाव-लोक का उच्चादर्श उसमें नहीं मिलता । उसकी उक्तियों में स्थान-स्थान पर लम्पटता की झलक आती है, सच्चे प्रेमी के दृढ़ संकल्प की आभा से वे हीन हैं ।

रावण के चरित्र का यह पक्ष हमें घृणा से भर देता है । स्वयंभू ने इसका विस्तार भी इतना किया है कि इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती । मन्दोदरी और विभीषण के अतिरिक्त हनुमान[६] और अंगद[७] भी रावण को सीता को लौटाकर राम से संधि कर लेने के लिए बहुत समझाते हैं । पर रावण के मन में एक ही बात बसी हुई है । उस पर किसी की शिक्षा और उपदेश का असर नहीं होता । रावण की यही हठवादिता, यही कामुकता, यही अविवेक उसके महानाश का कारण बनती है ।

जब रावण का अन्त निकट ही आता है तब एक बार फिर उसके चरित्र में हम वह पुरानी विशेषता लौटते हुए देखते हैं । सीता के रूप पर मुग्ध रावण कामी प्रतीत होने लगा था, पर जब राम लंका पर आक्रमण करते हैं और युद्ध की भेरी बज चुकती है तो रावण की वीरता में ज्वार आ जाता है । उसके लिए अब भी संभव है कि सीता को लौटा कर संधि कर ले पर द्वार पर आये हुए शत्रु के सामने घुटने टेकना रावण के स्वभाव में नहीं है । वह सीता को मनाने का अन्तिम प्रयत्न करता है । सीता मूर्च्छित हो जाती हैं । तब रावण का विवेक मानों लौट आता है और वह स्त्री को परिभव का घर, कदलि-खम्भ सी निस्सार, छलनी जैसी

१—जं सुहु कालकूट विसु खन्तहुँ । जं सुहु पलयाणलु पइसंतहु ॥ आदि ४१.७ ।

२—रामण-रामचन्द-रमणीयहुं । जाम बोल्ल मन्दोवरि सीयहुं ॥
ताव दसाणणु सयमेवाइउ । हत्थि व गंग-वेणि पराइउ ॥ ४१.१४ ।

३—किं सोहग्गें भोग्गें ऊणउ । किं विरुयउ किं अत्थ-विहूणउ ॥

४—संधि-४२. ।

५—संधि ४२.६ ।

६—हनुमान-कथित बारह अनुप्रेक्षाएं संधि ५४.६ ।

७—प० च०, सं० ५८ ।

केवल मल-धारण करने वाली नदी जैसी-जैसी कुटिल आदि समझ कर विरक्त हो जाता है।[१] वह सीता को लौटा देने का निश्चय करता है। पर कब ? दूसरे दिन लक्ष्मण को हराने के बाद।[२]

रावण का कामासक्ति से धूमिल पड़ा हुआ वीरत्व फिर चमकने लगता है और बहु-रूपिणी विद्या से सुसज्जित वह अजेय प्रतीत होता है। जब उसकी सेना तितर-बितर हो जाती है, उसके वीर आहत हो जाते हैं और अपने काल सदृश वासुदेव लक्ष्मण का उसका सामना होता है तब भी रावण का साहस अडिग है। जिस चक्र से वह लक्ष्मण को मारना चाहता था वह जाकर लक्ष्मण का हो रहा है, काल उसे सामने से घूर रहा है, पर रावण अविचल है। लक्ष्मण कहते हैं—सीता को समर्पित कर दो, हम तुम्हें क्षमा कर देंगे।[३] इस पर रावण अपना चन्द्रहास खड्ग हाथ में लेकर कहता है—मारो, मारो, क्षमा की क्या बात है ? एक चक्र पाकर इतना गर्व करते हो। इससे क्या होता है ? क्या कहीं सिंह का स्वभाव बदल जाता है ?[४]

रावण के ये अन्तिम शब्द हैं—क्या कहीं सिंह का स्वभाव बदल जाता है ? इन शब्दों से उसका चरित्र फिर प्रदीप्त हो उठता है और वह हमारी सहानुभूति का पात्र बन जाता है।

विभीषण

पहले रावण का भक्त है, बाद में वह राम का भक्त बन जाता है। राम का भक्त बनने पर भी भाई के प्रति उसका प्रेम कम नहीं होता। वह हृदय से रावण का हितेच्छु है, उसकी वीरता के प्रति उसके मन में अपार श्रद्धा और आदर है। वह रावण को प्रेम करता है, पर उसकी अनीति से उसका समझौता नहीं हो सका। उसके भाई से विच्छेद का यही कारण है और विभीषण के चरित्र की महानता का यही गुर है। सुग्रीव स्वार्थ-वश राम से मैत्री करता है, प्रत्युपकार की भावना से वह सीता की खोज में वानरों को इधर-उधर भेजता है। ज्योंही उसे पता लगता है कि सीता रावण द्वारा अपहृत होकर लंका में हैं, उसके हाथ-पाँव फूल जाते हैं। अपनी सुरक्षा का उसे इतना ध्यान है कि जब तक लक्ष्मण कोटि-शिला उठा कर रावण को मार सकने की अपनी शक्ति का परिचय नहीं देते वह वानरों सहित राम-लक्ष्मण की सहायता के लिए उन्मुक्त हृदय से तैयार नहीं होता। हनुमान भी राम-दल में आना तभी स्वीकार करते हैं जब सुग्रीव का दूत राम-लक्ष्मण की अजेय शक्ति का विवरण उनके सामने प्रस्तुत कर देता है। पर विभीषण ? विभीषण का चरित्र न सुग्रीव जैसा है, न हनुमान जैसा। वह तो भाई की अनीति से, उसके असद् आचरण से ऊब कर, उसकी भर्त्सना का पात्र बनकर राम की ओर आता है। उसमें कोई स्वार्थ नहीं है। भाई के स्वार्थ को ही वह सब दिन अपना स्वार्थ समझता है। उसके चरित्र का करुणा पूरित पक्ष यह है कि भाई से अलग होकर भी वह उसकी

१—महों वहों दारा परिभव-गारा। कयलि व सव्वंगिउ णीसारा।
बालणि व्व केवल मल-गहिणी। सरि व कुडिल हेट्टामुह-वहिणी॥ मादि ७३.१३।

२—वट्टइ सुलइ जेय बन्धेप्पिणु लक्खणु रामु रणे।
वेमि विहाणएं सीय सच्चउ परिसुज्झमि जेम जणे॥ ७३.१३।

३—पभणइ कुमारु करे चित्तु धीरु। छड सीय समप्पइ खमइ वीरु।

४—लइ पहरु पहरु कि करहि खेउ। तुहुँ रक्कें चक्कें सावलेउ।
महु घइं पुणु प्राएं कवणु गण्णु। कि सीहहों होइ सहाउ अण्णु। ७६.२२।

ममता से अलग नहीं हो पाता। रावण के शव पर जितना आँसू विभीषण गिराता है उतना मन्दोदरी को छोड़कर अन्य कोई नहीं। जितना अन्तर्द्वंद्व हमें विभीषण के चरित्र में मिलता है उतना पउमचरिउ के किसी भी अन्य पात्र में नहीं।

विभीषण की भातृ भक्ति का प्रथम निदर्शन तब होता है जब रावण के साथ वह भी बालक है। रावण आकाशगामी वैश्रवण के पूर्व अपकारों का माता द्वारा वर्णन सुनकर क्रोधावेश में उससे बदला लेने का संकल्प करता है। विभीषण रावण की प्रशंसा में बोल उठता है— माँ, वैश्रवण की क्या श्री हैं। भला रावण से बढ़कर किसी की श्री हो सकती है ? देखना माँ, कुछ ही दिनों में यम, स्कंध, कुबेर, वरुण, रवि, पवन, अग्नि, शशि आदि मनुष्य, देव और दानवों को रुलाने वाले रावण की सेवा करने आयेंगे।[1]

विभीषण रावण की विजयों में सदैव उसके साथ रहता है और जब रावण का वैभव अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचता है तब भी विभीषण उसकी सुरक्षा की ओर से निश्चिन्त नहीं होता। जब सागर बुद्धि भट्टारक से उसे मालूम होता है कि राजा जनक की कन्या को लेकर दशरथ के पुत्र राम-लक्ष्मण से होने वाले युद्ध में रावण मारा जायगा[2] तो विभीषण राजा जनक और दशरथ को सन्तानोत्पत्ति के पूर्व ही मरवा डालने का प्रयत्न करता है। सीता का हरण कर जब राक्षस लंका में ले जाता है तब उनसे वार्ता के परिणाम-स्वरूप विभीषण को मालूम होता है कि उसका प्रयत्न निष्फल गया है और रावण की काल रूपा सीता उसके द्वारा लाई जाकर लंका में स्थापित हैं।[3] विभीषण अनीति के विरुद्ध आचरण पर रावण को फटकारता है, उसके पर-स्त्री-भोग के अवगुण बताता है, और साथ ही उसकी सुरक्षा की व्यवस्था भी करता है। वह आशली विद्या को बुलाकर लंका के चारों ओर दृढ़ माया प्राचीर बनवा देता है।[4] उसके मन में अब भी आशा है कि रावण राह पर आ जायगा।

अन्त में लंका पर आक्रमण करने के लिए जब राम की सेना आकर हंसद्वीप में पड़ाव डाल देती है तब विभीषण का अन्तर्द्वन्द्व असह्य हो उठता है। वह निर्णय करता है कि यदि इस बार के मनाने से रावण न माना तो अवश्य राम-दल में चला जाना ही श्रेयस्कर होगा।[5] विभीषण को अन्ततः यही कहना पड़ता है। वह राम की ओर से युद्ध भी करता है और युद्ध-स्थल में भी रावण की भर्त्सना सहता है।[6]

फिर भी भाई के प्रति ममता का त्याग वह नहीं कर पाता। उसकी मृत्यु पर विभीषण इतना करुणा-विगलित हो जाता है कि राम-लक्ष्मण और सारी सेना उसके साथ रुदन करने लगती है।[7]

१—प० च०, संधि ९.६।
२—प० च० संधि २१.१।
३—प० च०, संधि ४२.४।
४—वही, संधि १२।
५—एम वि जइ महु ण कियउ वुत्तउ। तोरिउ-साहणे मिलमि णिरुत्तउ॥— ५६.१.७।
६—संधि ६६.६।
७—भाइ विओएं जिह जिह करइ विहीसणु सोउ।
तिह तिह दुक्खेण रुवइ स-हरि-बल वाणर लोउ॥ ७७।

विभीषण के चरित्र में नीति और न्याय-प्रियता प्रधान गुण हैं। भाई का राज्य पाकर भी उसमें कोई गर्व की अनुभूति नहीं है। वह पहले जैसा ही विनम्र और शीलवान बना रहता है। वह स्वयं ही राम को नगर-दर्शन के कार्य से छुड़ाकर सीता के पास ले जाता है और सीता को उन्हें अर्पित कर भाई के अन्याय का एक प्रकार से प्रतिकार करता है।

जिस प्रकार रावण के हाथ से सीता के साथ अन्याय हुआ था उसी तरह राम के हाथ से सीता के साथ अन्याय हुआ तो विभीषण ने उसका भी प्रतिकार किया। उसने तुरन्त हनुमान को भेज लंका से त्रिजटा को बुलवाया और सीता के सतीत्व के समर्थन में उसका साक्ष्य दिलवाया।[1]

इस प्रकार विभीषण के चरित्र में कहीं धब्बा नहीं मिलता। उसका आचरण आदि से अन्त तक नीति और न्याय के नियमों से परिचालित है। स्वयंभू ने पउमचरिउ में यदि कोई साधु-चरित अंकित किया है तो वह विभीषण का है।

अन्य पात्र

पउमचरिउ के उपर्युक्त पात्रों के अतिरिक्त सुग्रीव, हनुमान और मन्दोदरी भी हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। सुग्रीव और हनुमान विभीषण की तुलना में नहीं ठहरते, यह कहा जा चुका है। सुग्रीव से भी बढ़कर वीरता हनुमान में है। वस्तुतः हनुमान का चित्रण स्वयंभू ने एक आदर्श वीर के रूप में किया है। पवन और अंजना का पुत्र हनुमान अपनी वीरता में अद्वितीय है। उसके सामने रावण पक्ष के बड़े से बड़े योद्धा भी नहीं ठहर सकते। इन्द्रजीत उसे माया-युद्ध से बन्दी बनाता है, उसमें भी हनुमान का एक उद्देश्य है। वह रावण के सम्मुख उपस्थित होकर उसे समझाना चाहता है। पर-स्त्री-सेवन का दुर्गुण उसे बताना चाहता है।[2] जब रावण पर इसका प्रभाव नहीं होता तब हनुमान अपने को बंधन-मुक्त कर दिखा देता है कि वह अद्वितीय वीर है। हनुमान की सर्व-प्रधान भूमिका सीता की प्रथम खोज करने में है, वैसे सर्वत्र उसका रूप आदर्श वीर का है।

मन्दोदरी रावण की आदर्श पत्नी है। पति को कुमार्ग से हटाकर वह सुमार्ग पर लाना चाहती है[3] पर जब उसे मालूम होता है कि रावण सीता के बिना प्राण त्यागने को तैयार है तो वह उसका दूतत्व करने सीता के पास भी जाती है।[4] किसी साध्वी स्त्री के लिए यह दुष्कर कार्य है, पर मन्दोदरी उसे स्वीकार करती है। इसके लिए सीता से उसे मर्मान्तक कटूक्ति सुननी पड़ती है।[5] मन्दोदरी सीता पर उपसर्ग कराती है फलतः हनुमान से उसकी झड़प होती है। विभीषण से उसके चरित में एक भिन्नता है। विभीषण ने कभी भी सीता के सम्मुख रावण को आत्मार्पण की दलील नहीं दी, वह बराबर रावण को ही समझाता रहा। मन्दोदरी दोनों काम करती है। वह रावण को सुमार्ग पर लाने के लिए समझाती है

१—ताँहि अवसरे रयणासव-जाएं। कोक्किय तियड विहीसण राएं॥
बोल्लाविय एत्तहें वि तुरन्तें। लंकासुन्दरि तो हणुवन्तें॥८३·४॥

२—प० च०, सं० ५४.४।

३—प० च० सं०, ४१.६।

४— ,, सं०, ४१.१०।

५—मंडुडु तुहुं पर-पुरिस-पइट्ठी। तें कज्जे महुं देहि कुबुद्धि। ४१.१२.५।

और साथ ही सीता को आत्मार्पण के लिए। मन्दोदरी को दुहरी-नीति कदाचित् रावण की स्त्री होने के कारण अपनानी पड़ी, पर यही उसके चरित्र की दुर्बलता है।

रिट्ठणेमिचरिउ

रिट्ठणेमिचरिउ में चरित्र-चित्रण की प्रवृत्ति पउमचरिउ से भी कम मिलती है। इसमें घटना-वर्णन में भी युद्ध-वर्णन की अधिकता है। रिट्ठणेमिचरिउ का सबसे बड़ा कांड युद्ध-कांड, केवल महाभारत के युद्ध-वर्णन से भरा पड़ा है। युद्ध में वीरों के कामों का, युद्ध-कौशलों का वर्णन होता है। पर स्वयंभू का युद्ध-वर्णन कुछ इतना परिपाटी-विहित है कि एक वीर का दूसरे से अन्तर करना कठिन हो जाता है। लगभग वही बातें हर वीर के युद्ध के सम्बन्ध में कही गई हैं। इसलिए किसी की व्यक्तिगत-विशेषता को, जो चरित्र-चित्रण का मुख्य ध्येय है, निर्दिष्ट कर सकना असम्भव-प्राय कार्य हो जाता है। अर्जुन, कर्ण, दुर्योधन, भीम सब एक ही तरह के वीर लगते हैं—एक-सी वीरता-व्यंजक दर्पोक्तियाँ, एक-से दुर्द्धर्ष कार्य। कहने का तात्पर्य यह है कि वीरता और युद्ध के आधार पर रिट्ठणेमिचरिउ के पात्रों में कोई वर्गीकरण नहीं हो सकता। यह कार्य 'पउमचरिउ' में भी कठिन ही है, पर रिट्ठणमि-चरिउ में तो और भी कठिन है। *अन्य गुणों को लक्ष्य करते हुए विविध पात्रों को कुछ चरित्र-*गत विशेषताएँ यहाँ निर्दिष्ट की जायँगी।

कृष्ण

वसुदेव-देवकी के पुत्र, कृष्ण, बचपन में ही अपने अनुपम पराक्रम का निदर्शन करने लगते हैं। कंस को जब यह शंका होती है कि उसका वास्तविक शत्रु वह कन्या नहीं है जिसकी नाक चपटी करके उसने छोड़ दिया है वरन् वह बालक है जो व्रज में नन्द-यशोदा के घर पर पल रहा है तो वह कृष्ण के विनाश के कितने ही प्रयत्न करता रहा है। लेकिन कृष्ण अपने अद्भुत बाल-पराक्रम से कंस-प्रेषित सभी आपदाओं का निवारण करते हैं। पूतना धाय का वेश बनाकर आती है।[1] कृष्ण उसके स्तन में मुँह लगाते हैं तो उसे प्रतीत होता है कि सिंह ही मुँह लगा रहा हो।[2] फिर तो गरीब को प्राण बचाकर भागना पड़ता है।[3] इसके बाद एक देव कौवा का वेश बनाकर उन पर झपटता है।[4] कृष्ण उसकी चोंच तोड़कर उसे निरीह बना देते हैं। फिर एक देव स्यंदन बनकर आता है।[5] कृष्ण उसका चक्र ही खंडित कर देते हैं। फिर किसी दिन माया वृषभ किसी दिन माया-तुरंग का आगमन होता है,[6] पर कृष्ण सभी की गत बना देते हैं। इस तरह कंस के उत्पात जारी रहते हैं और कृष्ण उन्हें निष्फल करते रहते हैं।

१—पूयण धाइय धाई वेसें। ५.४.९। रि० च०

२—जं पंचवयणु मुंहि लाइयउ॥

३—तुणु तुणु मामेल्लिय वाले॥ ५.५.८।

४—धाइय देवय कंसाएसें। सु सुवंति वर वायस वेसें ५.५.१०। रि० च०

५—धाइय देवय संदण वेसें॥ ५.६.१।

६—अण्णहि वासरि मइ वलंतउ।
    माया वसहु धाउ गज्जंतउ॥ ५.६.५।
    अण्णहि दिवसि तुरंग मुणाइउ॥ ५.७.१।

कृष्ण-चरित्र में उनके बाल-पराक्रम का विशेष स्थान है और उचित ही स्वयंभू ने उसका वर्णन रस लेकर किया है। यह स्वयंभू की उस कला का प्रदर्शन है जिसे हमने थोड़े में बहुत कह देने की कला कहा है। कुपित इन्द्र जब ब्रज पर मूसलाधार जल बरसाने लगता है तब कृष्ण पूरे गोवर्द्धन को उठा 'गोठ' की रक्षा करते हैं। स्वयंभू ने तीन पंक्तियों में ब्रज पर आई विपत्ति और उससे उद्धार करने वाले कृष्ण के पराक्रम का वर्णन कर दिया है।[1]

जब कंस कृष्ण से इस प्रकार पार नहीं पाता तब वह उन्हें और बलदेव को मल्लयुद्ध के लिए आमन्त्रित करता है। यशोदा बहुत भयभीत होती हैं—

एक्कु पुत्तु महु अक्षुद्दरणउं।
तासु वि कंसु समिच्छइ मरणउं ॥ ५.११.५ ।

किन्तु नन्द उसे धीरज देते हैं—

धीरी होहि कंति किं रोवेहि।
माणिक्का रणे अप्पुहिं सोवहिं ॥ ५.१२.४.

कृष्ण और बलदेव कंस के अखाड़े में पहुँच कर उसके मुष्टिक और चाणूर नाम दोनों महाभीषण मल्लों को मसल कर माँस की पोटली बना देते हैं।[2] फिर लगे हाथ उन्होंने कंस को मृत्यु के घाट उतार दिया।

कंस-वध के साथ कृष्ण-चरित्र का पहला अध्याय समाप्त होता है। इसके बाद कृष्ण-जरासंघ अध्याय आरंभ होता है। इसके बीच में ही पांडव-कौरव-प्रसंग आ मिलता है। कृष्ण पाण्डवों के सहायक हो जाते हैं और जरासंघ कौरवों का।

कंस-वध का समाचार पाकर जब जरासंध की सेना मथुरा पर अक्रमण करती है और कई बार हार कर भी जब उसकी युद्ध की तत्परता बनी रहती है, तब कृष्ण मथुरावासियों को युद्ध-जनित कष्टों से बचाने के लिए द्वारका चले जाते हैं। यहाँ हमको कृष्ण की नीतिमत्ता का प्रमाण मिलता है। महाभारत के युद्ध-काल में कृष्ण युद्ध बंद करने के कई प्रयत्न करते हैं, इस अवसर पर कृष्ण का द्वारका जाने का निर्णय उनकी बाद में प्रदर्शित नीति-परायणता का पूर्व रूप है। इसमें कोई कायरता नहीं है। जब मथुरा छोड़कर जाते हुए कृष्ण का पीछा करने से भी जरासंध बाज नहीं आया तो एक देवी वृद्धा का रूप धारण कर छद्म-लीला से जरासंघ को पीछे लौटाती है।[3]

द्वारका से कृष्ण दुष्टों के संहार और सज्जनों के उद्धार का कार्य आरंभ करते हैं। कंस-वध के अवसर पर ही उन्हें एक विद्याधर से सत्यभामा की प्राप्ति हो चुकी थी। द्वारका आने के पश्चात् उन्होंने कुंडिनपुर जाकर शिशुपाल का वध किया और रुक्मिणी को प्राप्त किया। इसके बाद जाम्वती, लक्ष्मण, सुसीमा, गौरी, पद्मावती, गांधारी आदि राजकुमारियों को वरण किया।

१—जलहल धारहि मुसलय मारोहि। ५.७.१०।
लइउ गोठ थाघद्दु असद्दरण।
गिरि उद्धरि उद्धरिय कुद्धर गोवद्धण ॥ ५.७.११।

२—किउ मासहो पोट्टलु सम्बु। ६.१२।

३—देवी की छद्म-लीला :

हा हरि हला हरो हो बासहो।
हा णंदणे बहाणो कुहतो ॥ ७.१२.५।

कृष्ण दिग्विजय की योजना बना ही रहे थे कि उनके सामने पाण्डव-कौरव-विग्रह का प्रश्न आ जाता है। कौरवों के उत्पात से पाण्डव पर्याप्त समय तक वन में भटक चुके थे। वे हस्तिनापुर लौट कर कुछ स्थिर हो ही रहे थे कि जुआ में छलपूर्वक हराकर कौरवों ने उन्हें १२ वर्ष का फिर वनवास दे दिया। दुखी होकर पांडव द्वारावती पहुँचे और कृष्ण से सहायता की याचना की।[१]

अब कृष्ण के चरित्र की फिर वही विशेषता सामने आती है जिसका उल्लेख उनके मथुरा-त्याग के संदर्भ में हो चुका है। नीति-निपुण कृष्ण पुरोहित को कौरवों के यहाँ भेजते हैं।[२] स्मरणीय है कि रावण के साथ युद्ध आरम्भ करने के पूर्व राम ने भी उसे अन्तिम बार विचार करने का अवसर देने के उद्देश्य से अंगद को भेजा था।

जब कौरवों पर इसका कोई असर नहीं होता और युद्ध के लिए सेनाएँ सन्नद्ध हो जाती हैं तो कृष्ण नीति के स्थान पर कूटनीति से काम लेते हैं। वह कर्ण को कौरवों से तोड़ने का प्रयास करते हैं। दूत जाकर चुपके से कर्ण के कान में कृष्ण का संदेश कहता है कि कौरव तुम्हारे क्या हैं, पांडु तो तुम्हारे पिता हैं, कुन्ती तुम्हारी माता है और पाण्डव तुम्हारे भाई हैं।[३] कृष्ण को अपने उद्देश्य में सफलता नहीं हुई क्योंकि कर्ण उनके समान कूटनीतिज्ञ नहीं था, वरन् एक सत्यनिष्ठ और परोपकार को मानने वाला योद्धा था। कृष्ण का चरित्र भी इस चाल से कलंकित नही होता क्योंकि युद्ध में सभी नीतियाँ विहित मानी गई हैं।

महाभारत के अन्त तक कृष्ण अपनी कूटनीति से, परामर्श से, उपदेश से और मार्ग-निदर्शन से पाण्डवों की सहायता करते रहते हैं। युद्ध समाप्त होने पर वह जयी-पराजित सभी को यथा स्थान संस्थापित करते हैं।[४] तदनन्तर सबको प्रणति-जुहार कर द्वारावती को लौट जाते हैं।[५] परन्तु इसके पूर्व उन्हें जरासंघ का भी निपटारा करना पड़ता है। जरासंध जो प्रारम्भ में अलग से और कंस के सम्बन्ध से, कृष्ण का प्रतिद्वन्द्वी था बीच में कौरवों का सहायक बनकर पाण्डवों के विरुद्ध लड़ने लगा था। कौरवों के पराजय के बाद भी जरासंघ बच रहता है और अन्त में उसे कृष्ण के हाथों मरना पड़ता है।[६]

१—गए पंडव बारावइहे थिय। गोविन्दे सुहि पडिवत्त किय॥
विवसावसाणे णिसि आगमणे। सुमणोहरि रूप्पिणि वर भवणे॥
वीभच्छु कहइ दामोदर हो। कुडित्तणु कुरु पहुमेसर हो॥ भावि ३३.७।

२—तुमणए परोहियउ पट्ठविउ दूउयत्तणु सयलु वि सिरवविउ॥ ३३.७।

३—कुरुवेत्त हो ढक्का होंति जाम। णारायण केरउ दूउ ताम॥
संपाइउ णामे लोहजंधु। गरुडाणु गमणु मण पवण रंध॥
कण्णंतरे कण्णहो कहिय वत्त। वह सणइ थाहि करि विजय जत्त॥
को कुरुवइ को चक्कवइ सयल पिहिविउ तणिय ससायर॥
पंडु जणेय कोंति जणणि पंडव तुहु सहोयर भायर॥ ३५.१५।

४—रि० च० सं० ९३.१–२।

५—पडिवत्ति जहारुहं करिवि तेहि पुच्छ विष्णु पयाणउं जायवेंहि।
चउविस संवच्छर भमेवि भट्ठ पुच्छ सरहस बारावइ पयट्ठ॥ ९३.६।

६—कुरु-पंडव वलेंहि सम्मत्तहिं रण रस वहय साहणइं।
भामिहइ उत्तर दाहिणइं मागह माहव साहणइं॥ ९२.१।

वस्तुत: जरासंध का वध करने के कारण ही रिट्ठणेमिचरिउ का नायकत्व कृष्ण को प्राप्त होता है। कंस वध तो काव्य के आदि में ही हो जाता है, इसलिए कंस को प्रतिनायक मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। ग्रन्थ का नाम 'रिट्ठणेमिचरिउ' होने पर भी नेमि को नायकत्व नहीं दिया जा सकता। सारे काव्य में यदि किसी का व्यक्तित्व और कर्तृत्व आद्योपान्त अनुस्यूत है तो वह कृष्ण का है। अत: यह निर्विवाद है कि रिट्ठणेमिचरिउ के नायक कृष्ण हैं।

कंस, पाण्डव-कौरव और जरासंध के प्रसंगों के बाद भी कृष्ण को कुछ करना शेष है। यह कृष्ण-चरित्र का तीसरा और अन्तिम अध्याय है। यह अध्याय नेमि-चरित से सम्बद्ध है। पर कृष्ण चरित्र की प्रमुख विशेषता-कूटनीति-यहाँ भी विद्यमान है। जब कृष्ण को यह बोध होता है कि नेमिकुमार बल में उनसे बढ़कर है तब उन्हें चिन्ता होती है; पर कपट-भाव पूर्वक वे भाई की प्रशंसा करते हैं[1] और उनके विवाह का प्रस्ताव कराते हैं।[2] विवाहोत्सव के दिन वनचरों को उनके सामने इस प्रकार प्रदर्शित किया जाता है[3] कि कुमार को संसार से विराग हो जाता है और कृष्ण का मार्ग निष्कंटक हो जाता है।

इस प्रकार कृष्ण चरित्र में, जैसा कि कवि ने 'रिट्ठणेमिचरिउ' में उसे चित्रित किया है, बल-विक्रम के साथ नीति-परायणता तो दिखाई देती ही है, उसमें कूटनीतिज्ञता भी पर्याप्त मात्रा में मिलती है।

पाण्डव

पाण्डवों में अर्जुन और भीम के ही चरित्र की प्रधानता है। दोनों का चित्रण मुख्यत: वीर योद्धा और सेनानी के रूप में हुआ है। पाण्डवों का चित्रण स्थान-स्थान पर सामूहिक रूप में भी हुआ है।[4] लाक्षागृह के दाह से बचकर सुरंग के मार्ग से निकले पर कवि ने भीम के विषय में कहा है कि वह ऐसा लग रहा है जैसे सिंह का बच्चा गिरि-कुहर[5] से निकल रहा हो। आगे भीम द्वारा हिडिंब के वध का प्रसंग है। वहाँ भी भीम के ही वीरत्व का प्रदर्शन है।[6]

द्रौपदी स्वयंवर के प्रसंग में अर्जुन की वीरता का बखान है। दुर्योधन के लक्ष्य न वेध सकने पर अर्जुन लक्ष्य वेध देता है। इस पर कर्ण और अर्जुन में युद्ध छिड़ जाता है।[7] बाणों से नभ में अंधकार छा जाता है, मानो सूर्य अस्त हो गया हो।[8] अन्त में अर्जुन की जीत होती है[9] और द्रौपदी उनका अनुगमन करती है।[10] इस प्रकार कहीं भीम और कहीं अर्जुन की वीरता का वर्णन मिलता है।

१—भणइ जणद्दणु कवड सणेहउ। हउ वण्णउ जसु भायरु एहउ। ९५.५।

२—अहो अहो कामपाल जगसारहो। किज्जइ पाणि गहणु कुमारहो। ९६.६।

३—रि० च०—९६.१३।

४—[क] कुरु पंडव वीर महाणुभाव॥ आदि। १६.१२।

   [ख] जहिं पंडव तहिं उत्तम देसउ॥ आदि १८.६।

५—णं केसरि किसोर गिरि कुहरहो॥ १८.१४।

६—तो भीमेहिं चरिय हिडिंब करे उप्पणु घुडुक्कउ पेम भरे। १९.९।

७—चंपाहिउ भिडिउ धणंजय हो॥ २१.१२।

८—अन्धारहु एहु करंतु सरिहिं॥ २१.१२।

९—किं माणुस वेसे आउ रवि॥ ११.१३।

१०—किउ पच्छे दोवइ परिगमणु २१.१९।

महाभारत आरंभ हो जाने पर अभिमन्यु के वध के पश्चात् अर्जुन का प्रतिहिंसा पूर्ण विकराल रूप देखने को मिलता है। अन्त में भीम दुर्योधन का गदा-युद्ध दिखाया गया है जिसमें दुर्योधन की पराजय होती है।[1]

युद्ध के इस विवरण से भीम और अर्जुन जैसे योद्धाओं के चरित्र की वीरता के अतिरिक्त अन्य कोई विशेषता सामने नहीं आती।

कौरव

कौरवों में दुर्योधन ही मुख्य है। उसकी अनीति की चर्चा बार-बार आती है। पांडव के प्रति कौरवों के विद्वेष की कहानी बचपन में ही आरम्भ हो जाती है। क्रीडा-काल में अनेक ऐसे कृत्य हैं जो पाण्डव सरलता से कर डालते हैं, पर कौरवों के किये वे नहीं होते। वास्तविक विद्वेष की जड़ यही है। कौरवों के मन में हीन भावना का आविर्भाव यहीं से आरम्भ होता है।[2] बड़े होने पर यही हीन भावना दोनों के सम्बन्ध को विषाक्त बनाती है। शस्त्र विद्या में भी वे पीछे रह जाते हैं। तब दुर्योधन की अध्यक्षता में कौरव पाण्डवों के विरुद्ध षडयंत्र रचना आरम्भ करते हैं। इन सब का अन्त महाभारत में होता है।

दुर्योधन का युद्ध अन्त में भीम से दिखाया गया है, इसके पूर्व अधिकांशतः वह व्यवस्थापक और प्रबन्धक रूप में ही दिखाई देता है। सेनापति किसे बनाया जाय यह समस्या प्रायः उसके सामने रहती है।[3]

कौरवों के दल में भी सभी वीरों का चित्रण लगभग पाण्डव दल की भाँति है। व्यक्ति-वैशिष्ट्य सूचक गुण किसी में नही मिलता।

अन्य पात्र

रिट्ठणेमिचरिउ के अपेक्षाकृत कम विख्यात पात्रों में भीष्म का नाम सबसे पहले आता है। भीष्म की स्थिति बड़ी विचित्र हैं। वे दुर्योधन की ओर से लड़ते हैं और अन्त में प्राण भी दे देते हैं, पर दुर्योधन की नीति से वह किंचित भी सहमत नहीं हैं। भीष्म वीर हैं, नीति-विशारद हैं और धर्म के पंडित हैं। शर-शैय्या पर पड़े-पड़े उन्होंने धर्म और नीति का जो आख्यान किया है उससे उनका चरित्र प्रदीप्त होता है।[4] वीरों में कर्ण और अभिमन्यु के चरित्र-चित्रण में भी कवि ने थोड़े में बहुत कह दिया है। जरासंध के चरित्र में कोई विशेषता नही है, वह गर्वांध वीर है और कृष्ण के बल का अनुमान उसे महाभारत के अन्त तक नहीं होता। यह भी कहा जा सकता है कि दामाद के वध का प्रतिकार करने के लिए वह अन्त तक कृष्ण से लड़ने के लिए कृत संकल्प है। उसमें व्यक्तिगत पौरुष बहुत है और संगठन की शक्ति भी, पर संतुलन और विवेक नहीं है। उसके पतन का यही कारण है।

१—तं णिसुणेवि महसूयणु घोसइ।
ताव समप्पइ पिहिमि सुधी मइं लउडि चुण्णु दुज्जोण भीमहं। ८८.१९।

२—रि० च०, १६.१९।

३—रणे दुज्जय जायव जोह जेण्ड। सेणावइ किज्जण कवणु तिण्ड॥ ३८.२।

४—रि च० संधि ४८।

स्त्री पात्रों में कुन्ती और गांधारी दोनों के चरित्र बहुत उज्ज्वल हैं, दोनों की जिन-भक्ति और धार्मिकता से महाभारत का संघर्षमय वातावरण कहीं-कहीं स्निग्ध बन जाता है।[1] कुन्ती के पुत्रों का पक्ष तो न्यायपूर्ण है ही, ऐसा लगता है गांधारी भी मन ही मन उनके पक्ष को न्यायपूर्ण समझती है और दुर्योधन को हठधर्मी छोड़कर संधि कर लेने का उपदेश देती है।

युधिष्ठिर को स्वयंभू ने सर्वत्र एक ही रूप में अंकित किया है। कुल के विनाश का जो आयोजन दुर्योधन की हीन बुद्धि से हुआ है, उसके लिऐ उनके मन में घोर परिताप है। यह भावना कवि ने युधिष्ठिर से कई स्थानों पर प्रकट कराई है, उनके हृदय में पूरे परिवार के लिए अब भी अगाध ममता है। वे अब भी सब का कुशल चाहते हैं। दूसरी विशेषता जो युधिष्ठिर के चरित्र में दृष्टिगत होती है वह है उनका न्याय-प्रेम। युद्ध के अन्त में जब कौरवों की ओर से केवल दुर्योधन शेष रह जाता है और वह लड़ने के लिए आगे बढ़ता है तो युधिष्ठिर कहते हैं कि हम बहुत हैं और तुम अकेले हो, क्षत्रिय-धर्म इस तरह के युद्ध की अनुमति नहीं देता।[2]

युधिष्ठिर के चरित्र का यही आदर्श पांडवों की जय और कौरवों की पराजय का कारण होता है।

१—संधि १८, २४ आदि।

२—अम्हइं बहुयइं तुहुं एक्कलउं। खत्ति धम्म कहिमि ण मल्लउ ॥ ८८.१०।

अध्याय—८

कवित्व की दृष्टि से पउमचरिउ तथा रिट्ठणेमिचरिउ का अध्ययन

किसी काव्य-कृति के दो पक्ष होते हैं—बाह्य और आन्तरिक। बाह्य पक्ष का अध्ययन करते समय हम उसकी वर्ण्य-वस्तु, रूप-शिल्प, वस्तु-विन्यास प्रबन्धकत्व, कथान्विति आदि पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। उसके आन्तरिक परीक्षण में हम यह देखने का प्रयास करते हैं कि वर्णित कथा-वस्तु के मार्मिक प्रसंगों को पहचानने में कवि कहाँ तक सफल हुआ है, उनके प्रति अनुभूति कितनी गहरी है, रचना में काव्यमय वस्तु-वर्णनों का अनुपात कितना है, रसनिष्पत्ति का उसने क्या उपक्रम किया है, उसकी अलंकार-योजना भावानुभूति कराने में कहाँ तक सफल होती है, आदि। इन सबको मिलाकर रचना का काव्यात्मक पक्ष निर्मित होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि किसी काव्यकृति का स्थायी महत्व बहुत कुछ उसके काव्यात्मक पक्ष अथवा आन्तरिक सम्पन्नता पर ही निर्भर होता है। पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ की कथावस्तु और रूपशिल्प पर पूर्व अध्यायों में विचार कर चुकने के पश्चात् अब उपयुक्त होगा कि हम उनकी समीक्षा कवित्व की दृष्टि से करें।

पहले मार्मिक प्रसंगों को लेते हैं। मार्मिक से तात्पर्य कथावस्तु के उन अंगों से है जो हमारे और कवि के मध्य अधिक से अधिक तादात्म्य स्थापित कराते हैं। वर्ण्य विषय के कुछ प्रसंग, कुछ कथांश ऐसे होते हैं जो कवि और पाठक दोनों के लिए समान रूप से हृदय स्पर्शी होते हैं। वे प्रसंग धार्मिक पूर्वाग्रहों या व्यक्तिगत रुचियों की सीमाओं के ऊपर होते हैं। उनमें कुछ ऐसी मानवीय परिस्थिस्तियों का चित्रण होता है, सहिष्णुता, उदारता, दया, त्याग, बलिदान, उत्सर्ग, विशालहृदयता, सहानुभूति आदि कुछ ऐसे आदर्श मानवीय गुणों का निदर्शन होता है कि उनकी विद्यमानता में हम अपनी सीमाओं को भूल जाते हैं और मानवता की सामान्य-भावभूमि पर पहुँच आते हैं। ऐसे मार्मिक प्रसंग, भावों के साधारणीकरण की प्रक्रिया में बहुत सहायक होते हैं क्योंकि उनका आकर्षण सार्वभौम और सनातन होता है। किसी कवि की सरस-हृदयता की एक बड़ी पहचान यह है कि अपनी रचना में इस तरह के प्रसंगों को लक्ष्य करके उनकी विवृति वह कहाँ तक कर सका है। पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ में ऐसे मार्मिक प्रसंग अनेक हैं।

इनमें राम वनवास का प्रसंग सबसे पहले आता है। बाह्यतः राम का वनवास का जीवन कठिनाइयों, संघर्षों, उत्पातों और दुर्दमनीय प्रतिपक्षियों की लीलाओं से पूर्ण है और इनमें से हर एक पर विजय प्राप्त करने के परिणाम स्वरूप राम का जीवन सफलताओं से ओत-प्रोत लगता है। निस्सन्देह इन सफलताओं से हम प्रभावित होते हैं और राम-लक्ष्मण के बलदेव और वासुदेव होने में हमारी आस्था दृढ़ होती है। पर उनकी यह वीरता और सफलता हमारे लिए मार्मिक सिद्ध नहीं होती। उनके वनवास जीवन की मार्मिकता तो हमें तब अभिभूत करती है जब हम इन बाह्य

संघर्षों और असफलताओं का आवरण उठाकर देखते हैं। दो राजपुरुषों और एक राजमहिषी की वन्य जीवन की परिस्थितियों में सामान्य नर-नारी की भाँति दिनचर्या का जो वर्णन स्वयंभू ने किया है वास्तव में वह बहुत ही हृदयस्पर्शी और मार्मिक है।

सीता और लक्ष्मण को साथ ले राम स्वेच्छा से वनवास के लिए चल पड़ते हैं, इसलिए कि राज-वंश में कलह न हो, राजा दशरथ की चिन्ता मिटे और भरत निष्कंटक राज करें। राम को राज-सुख छोड़ने में तनिक भी दुःख नहीं है, पर क्या सचमुच राजसुख उन्हें छोड़ सकता है? वन-मार्ग में पग रखते ही मनुष्यों की कौन कहे उन्हें पशु-पक्षियों और लता-द्रुमों से भी सम्मान मिलने लगता है :

पुणु थोवन्तरें विस्थय-णामहों। तरुवर णमिय सुभिच्च व रामहो ॥
उट्ठिय विहय वमालु करन्ता। णं वंदिण मंगल हं पढन्ता ॥ २३.१२

थोड़ी दूर चलने पर प्रसिद्ध नाम राम को पेड़ों ने अच्छे अनुचर की तरह नमस्कार किया। कलकल करते हुए पक्षी उनमें से ऐसे उठने लगे मानों वंदीजन मंगल पाठ कर रहे हों।

उधर राम-रहित अयोध्या की विपन्न दशा देखी नहीं जाती। वह पथ-भ्रष्ट कुनारी की तरह अथवा ग्रीष्म की संतप्त धरती की भाँति उच्छ्वास छोड़ती प्रतीत होती है :

ण सहइ पुरि बल-लक्खण मुक्की। मुक्क कु-णारि व पेसण चुक्की। २३.१२
गएँ वण-वासहो रामे उज्झ ण चित्तहों भावइ।
थिय णीसास मुअन्ति महि उण्हालएँ णावइ ॥ २४.१.

पानी भरती हुई पनिहारिनें परस्पर वार्ता करती हैं कि वही पलंग, वे ही उपधान, वही सेज और वही प्रच्छादन, वही घर, वे ही रतन, लक्षण सहित वही चित्रकारी, सब कुछ वही है। हे माँ, केवल लक्ष्मण और सीता सहित राम नहीं दीख पड़ते—

तोएत्थन्तरें पाणिय-हारिउ। पुरे बोल्लन्ति परोप्परु णारिउ ॥
सो पल्लंकु तं जे उवहाणउ। से वि सज्जे तं जे पच्छाणउ ॥
तं घरु रयणइं ताइ तं चित्तयम्मु स-लक्खणु।
णवर न दीसइ माए राम ससीय-सलक्खणु ॥ २४.१.

जिनके नित्य-दर्शन से अयोध्या के नर-नारी प्रफुल्लित रहते थे उनके सहसा वियोग से उन्हें सब कुछ सूना-सूना लग रहा है, न सेज अच्छी लगती हैं, न रत्नाभरण, न चित्रकारी।[1]

१—साकेत की उर्मिला को भी एक कृषक-वधू के कुछ ऐसे ही मनोभाव का हाल उनके देवर से प्राप्त होता है.

पूछी थी सुकाल दशा मैंने आज देवर से,
कैसी हुई उपज कपास, ईख धान की—?
बोले—इस बार देवि, देखने में भूमि पर,
दुगुनी दया सी हुई इन्द्र भगवान की।
पूछा यही मैंने एक ग्राम में तो कर्षकों ने,
अन्न गुड़ गोरस की वृद्धि की बखान की,
किन्तु स्वाद कैसा है, न जाने, इस वर्ष हाय,
यह कह रोई एक अबला किसान की। —साकेत, पृ० २२२।

वन-मार्ग पर आगे बढ़ते हुए राम को मना कर अयोध्या वापस लाने के लिए जब भरत और कैकयी का आग्रह होता है तब राम निष्कपट भाव से कहते हैं, हे माँ, भरत तुम्हें अकारण क्यों लाया ? माँ, मेरा परम सिद्धान्त सुन। मैं पिता के वचन का पालन करूँगा। मुझे घोड़ों और रथों से कोई काम नहीं। मुझे सोलह वर्ष तक राज्य भी नहीं चाहिए। जो वचन पिता ने तुम्हें तीन बार दिया है, उसे मैं सौ बार देता हूँ :

पुणु वुच्चइ सीर-प्पहरणेण। किं आणिउ भरहु अकारणेण ।।
सुणु माएं महारउ परम-तच्चु। पालेवहु तावहों तणउ सच्चु ।।
णउ तुरएं हिं णउ रहवरेंहिं कज्जु। णउ सोलह वरि सहुं करमि रज्जु ।।
जं दिण्णु सच्चु ताएं ति-वार। तहुं म इमि दिण्णु तुम्ह सय-वार ।।

यह कहकर राम आगे बढ़ जाते हैं। अब राज-बाधाओं से मुक्त उनका वनवास का जीवन आरम्भ होता है। कभी वे रुद्रांकुश त्रिदंडी जटाधारी मुनियों के बीच निवास करते हैं तो कभी भील बस्ती जहाँ के लोग मृगचर्म और कांवली से अपने को ढके हुए हैं, कंद-मूल और वन फलों का भोजन करते हैं, स्त्रियाँ हाथी दाँत की चूड़ियाँ पहनती हैं और नवयुवतियाँ काम से उत्तेजित होकर शीघ्र मुँह चूम लेती हैं :

चुम्बिय-वणयउ मयणब्भइमउ ।। २४.१२

राजभवन के वैभव से निकल कर आये हुए राम-लक्ष्मण-सीता को वनवासियों का यह सरल अकृतिम जीवन पसन्द आता है और वे उनके बीच निवास करते हैं।

तं तेहउ वणु मिल्लहुँ केरउ। हरि-वलएवेंहि किउ विवरेरउ ।।

आगे बढ़ने पर वे ग्वालों के मध्य जाते हैं जहाँ सुवेश गोठ, सींग-रहित बछड़े, मट्ठा बिलौने वाली स्त्रियाँ, धानों के अंकुरों को सिर पर रखकर नाचने वाली लड़कियाँ, पालने पर झुलाए जाने वाले शिशु, शिशुओं को सुलाने वाली लोरियाँ उनके मन को मोह लेती हैं। राम-लक्ष्मण-सीता वनवासियों की इस स्वच्छन्द उन्मुक्त जीवन-चर्य्या के आगे सब कुछ भूल जाते हैं और उसी का एक अंग बन जाते हैं।

कत्थइ जणवउ सिसिरे चच्चिउ। पढम-सुह सिरें धरेवि पणच्चिउ ।।
कत्थइ मन्था-मन्थिय-मन्थणि। कुणइ सद्दु सुरए व विलासिणि ।।
कत्थइ णारि-णियम्बे सुहासिउ। णाइवह कुडउ कुणइ मुहवासिउ ।।
कत्थइ डिम्भउ-परियंदिज्जइ। अम्भाहरिउ गेउ झुणिज्जइ ।।

कहीं लोग दधि से अर्चित थे, कहीं नये धान के अंकुरों को सिर पर रखकर नाच रहे थे। कहीं मट्ठा बिलौने वाली मथानी विलासिनी स्त्री की सुरति की तरह मधुर ध्वनि कर रही थी। कहीं पर नारी-नितम्ब ऐसे शोभित थे मानो मुख सुवासित नाग-वृक्ष ही हों। कहीं पालने में बच्चे झुलाये जा रहे थे और उनकी लोरियाँ सुनाई पड़ रहीं थीं।

बस्ती से निकल कर ये तीनों मूर्तियाँ घने वनों में प्रवेश करती हैं जहाँ हिंस्र पशुओं का राज है, पर वहाँ भी उनके लिये भय का कोई कारण नहीं है। शालि वृक्ष नमित होकर उनका स्वागत करते हैं, मानो श्रावक जिनवर का स्वागत कर रहे हों :

शालिवणइ पणमन्ति सु-भत्तहं। ण सावयइं जिणेसर-भत्तइं ।। २४.१५।

कुछ दूर और आगे जाने पर उन्हें सिंहोदर अत्याचारी का समाचार मिलता है। लक्ष्मण को देखने मात्र से उसकी मति ठिकाने आ जाती है। उपकृत वज्रकर्ण बदले में गज, रथ, मणि जटित राजपट्ट सब कुछ देने को तत्पर होता है, पर लक्ष्मण कहते हैं :

कहिं मुणिवरु कहिं संसार-सोक्खु। कहिं पाव-पिंडु कहिं परम-मोक्खु ।।
कहिं पायउ केत्थु कुडुक्क-वयणु। कहिं कमल-संडु कहिं विउलु गयणु ।।
कहिं मयगलेहलु कहिं उट्टे घंट। कहिं पंथिउ कहिं रह-तुरय-थट्ठ ।।

कहाँ मुनिवर कहाँ संसार सुख, कहाँ पाप-पिंड और कहाँ परम मोक्ष सुख। कहाँ प्राकृत और कहाँ कुडुक-कौतुक वचन। कहाँ कमलों का समूह और कहाँ व्यापक आकाश। कहाँ मदमाते हाथी की घंटी और कहाँ ऊँट का घंटा। कहाँ पथिक और कहाँ रथ-घोड़ों का समूह।

धन, वैभव, राजसुख के प्रति राम-लक्ष्मण-सीता के मन में कैसी वितृष्णा है इसका आभास ऊपर की पंक्तियों से होता है।

तं बोल्लहि जं ण मडइ कलाए। अम्हहं चाहिय भुक्खएं खलाएं ।।
तुहुँ साहम्मिउ दय-धम्मु करन्तु ण थक्कहि।
भोयणु मग्गिउ तिहुँ जणहुँ देहि जइ सक्कहि ।। २५.१० ।

लक्ष्मण बोले—हमें कोई ऐसी वस्तु नहीं चाहिए जो वनवासी पथिकों के लिए एक कला भी अनुपयुक्त हो। दुष्ट क्षुधा हमारे पथ-गमन में बाधक है। तुम धर्मात्मा हो, हो सके तीन जनों के लिए भोजन दे दो।

जो इतना बड़ा राज्य पीछे छोड़ आया हो उसे ये क्षुद्र राजसुख भला क्या विचलित करेंगे? सर्वत्र राम-लक्ष्मण को हम इसी प्रकार का व्यवहार करते देखते हैं। उनकी अजेय शक्ति प्रकट होने से कहीं छिपती नहीं, दुष्टों के दलन में वे अपने को पीछे नहीं रखते, पर फल-भोग के समय उनमें सर्वत्र वही पथिक-भाव आ जाता है और वे आगे बढ़ जाते हैं। सिंहोदर और वज्रकर्ण में मैत्री स्थापित हो जाने पर वे दोनों लक्ष्मण को शतशः कन्याएँ उपहार में देना चाहते हैं। लक्ष्मण कहते हैं—अभी नहीं, अभी मुझे भाई के आवास की व्यवस्था आगे जाकर करनी है।[1] कल्याण माला को रुद्रभूति से अभयदान देकर लक्ष्मण सहज ही उसके प्रणय का पात्र बन जाते हैं, पर रात के अंधेरे में वे वहाँ से भी चल देते हैं। महीधर की कन्या वनमाला को फाँसी के फन्दे से उबार कर उसे वियोग में तड़पती छोड़ लक्ष्मण भाई और भाभी के साथ वहाँ से भी आगे बढ़ जाते हैं। अरिदमन की दुर्दान्त शक्ति को झेल कर लक्ष्मण उसकी कन्या जितपद्मा से पाणिग्रहण कर थोड़ी देर के लिए विरमते हैं, पर जैसे किसी अन्तः प्रेरणा से वे फिर आगे के लिए चल पड़ते हैं। इस प्रकार राजसुख जैसे उनका पीछा करता आ रहा हो और वे उससे भागते फिर रहे हों। मानो भूखे-प्यासे सामान्य पथिकों का रूप ही उन्हें प्रिय हो।

पथ पर अग्रसर होते हुए राम देखते हैं कि सीता प्यासी हैं, तब राम-लक्ष्मण से कहते हैं—

लक्खण कहि मि गवेसहि तं जलु। सज्जण-हियउ जेम जं णिम्मलु ।।
दूरायमणें सीय तिसाइय। हिम-हय-णव-णलिणि व विच्छाइय ।। २६.६ ।

हे लक्ष्मण कहीं से भी निर्मल जल लाओ, यात्रा से परिश्रान्त सीता प्यासी हैं, हिम से आहत कमलिनी की भाँति उनका मुँह कुम्हला रहा है।

१—'तहिं अवसरहुवहीं णिवासु गवेसमि। पच्छए पाणिग्गहणु करेसमि।'

विन्ध्या की घोर अटवी में कुछ अपशकुन देख सीता डर-सी जाती हैं और राम का हाथ पकड़ लेती हैं :

'किं ण सुउ भवन्तु वि को वि णरु । जिह सउणउ माणिउ देइवरु ।' २७.२ ।

क्या आपने नहीं सुना ? जैसे कोई सोता हुआ आदमी बड़बड़ाता हो, (वैसे ही यह स्वर सुनाई दे रहा है) ।

कोमल स्वभाव वाली भयभीत सीता को राम को आश्वासन देना पड़ता है :

'सिय लक्खणु बलु पच्चक्खु जहिं । कउ सउण-विसउणेहिं गण्णु तहिं ।।

सीता, जहाँ लक्ष्मण के समान बलशाली निश्चय रूप से हमारे साथ है, वहाँ शकुन-अपशकुन की चिन्ता क्यों करती हो ?

इस तरह सामान्य नर-नारी के समान वन-जीवन की भूख-प्यास, भय-विस्मय-आमोद-प्रमोद की अनुभूतियों के साथ आगे बढ़ते हुए राम-लक्ष्मण और सीता ताप्ती के किनारे पहुँचते हैं । वहाँ फिर वही प्यास ! ताप्ती-जल से प्यास बुझाना चाहते हैं, पर सूर्य की किरणों से तप्त वह जल बिल्कुल ही पेय नहीं है ।

दिणयर-वर-किरण करम्बियउ जलु लेवि भुएँहिं परि-चुम्बियउ ।
पइसन्तु ण भावइ मुहहों किह अण्णहो जिणवर-वयणु जिह ।। २७.११

फिर भी प्यास की तीव्रता ऐसी है कि वे उसे हाथ में लेकर होठों से लगाते हैं—शायद कुछ तृष्णा शान्त हो जाय । खौलता हुआ तप्त जल मुँह में तो पैठता नहीं । क्या विवशता है !

ताप्ती से प्यास नहीं बुझती और तीनों आगे बढ़ते हैं । जब सीता के लिए प्यास असह्य हो जाती है तब वह राम से स्वयं कहती हैं :

वइदेहि पजम्पिय हरिबलहो । सुरवर-करि-कर-थिर-करयलहो ।।
जल कहिमि गवेसहों णिम्मलउ । जं तिस-हरु हिम-ससि-सीयलउ ।।

कहीं हिम की तरह शीतल और चन्द्र की तरह स्वच्छ जल की खोज कीजिये जो प्यास बुझाने वाला हो ।

सीता कितनी प्यासी है, इसकी तीव्रता का बोध वह राम-लक्ष्मण को करा देती है :—

तं इच्छमि भविउ व जिण वयणु । णिहि णिद्धणु जच्चन्धु व णयणु ।

मुझे जल पीने की इच्छा इस प्रकार हो रही है जिस प्रकार कि भव्य जन को जिन-वचन की, निर्धन को धन की और अंधे को आँख की इच्छा होती है ।

जनक की राजकुमारी, दशरथ की कुलवधू, राम की पत्नी और लक्ष्मण की भ्रातृ-जाया सीता की यह तृषाकुलता किस कठोर-हृदय को दयार्द्र नहीं कर देगी ?

पानी की खोज में गये लक्ष्मण ब्राह्मण के घर से तिरस्कृत होकर निकलते हैं तो मानो इन्द्र का ही आसन डोल जाता है और जल वृष्टि से सारा वन-प्रान्त आप्लावित हो जाता है । पर उन तीनों बटोहियों को तो जल की अधिकता से भी दु:ख ही है । उनको शरण कहाँ ?

तेहएं कालें भयाउरएं बेण्णि मि वासुएव-बलएव ।
तरुवर-मूलें स-सीय थिय जोगु लएविणु मुणिवर जेम ।। २८.३ ।

उस घोर समय में राम, लक्ष्मण और सीता वृक्ष के नीचे इस प्रकार बैठे थे मानो योग साध कर महामुनि बैठे हों।

आखिर वह घोर वृष्टि का समय भी बीत जाता है और यक्ष लोग पल भर में वहाँ रामपुरी रच देते हैं। किन्तु राम को विश्राम कहाँ? उन्हें तो आगे बढ़ना है। सीता-लक्ष्मण को लिए हुए वे उस वन में पहुँचते हैं जहाँ का हर वृक्ष उनका जाना है और जहाँ तीर्थंकरों के बोधिवृक्ष अवस्थित हैं। बड़ी शान्त, सरल और स्निग्ध वाणी में राम सीता को उन वृक्षों का परिचय देते हैं। इतने में फिर उन्हें कर्म की पुकार सुनाई देती है और वह आगे बढ़ जाते हैं। उससे निवृत्त होकर राम आगे की मंजिल पर पहुँचते हैं जहाँ उनके जीवन की सबसे मर्मान्तिक और चुनौती पूर्ण घटना—सीता-हरण-की भूमिका मानो पहले से तैयार है।

सीता-हरण के पूर्व राम-लक्ष्मण-सीता के वनवास जीवन की दिनचर्या अपनी गतिमयता से जितना ही हमें जिज्ञासु बनाये रखती है हिमवर्षा-आतप एवं क्षुधा-तृषा को सहज भाव से सहते हुए उनके व्यक्तिगत जीवन की आन्तरिक शान्ति हमें उतना ही विस्मय-विमुग्ध बना देती है।

राम के जीवन की यह आन्तरिक शान्ति सीता-हरण की घटना से भंग हो जाती है। अनेक संघर्षों और व्यक्तिगत कष्टों का सामना करते हुए जो राम सदैव मुस्कराते रहे, लक्ष्मण को सराहना और सीता को सान्त्वना प्रदान करते रहे वही राम पत्नी-विरह के आघात से मूर्च्छित हो जाते हैं और अपने करुण-क्रन्दन से जड़-चेतन सभी को दयार्द्र कर देते हैं। सीता-विहीन कुटी को देखकर पहले तो उन्हें विश्वास नहीं होता कि उनके साथ ऐसा छल किया गया है। वह यह सोचकर कि विनोद-वश सीता छिपकर बैठी हैं, लतागुल्मों और पर्वत-कन्दराओं में उन्हें ढूंढ़ते हैं। क्षत-विक्षत जटायु से उन्हें परिस्थिति का पता लगता है। एक क्षण के लिए राम की कर्तव्य-बुद्धि उन्हें काबू में रखती है और वे णमोकार मंत्र का उच्चारण कर जटायु को अनरण्य और अनन्त वीर के शुभ मार्ग पर भेजते हैं।[1] तदनन्तर राम के धैर्य का बाँध टूट जाता है। वह डाढ़ें मार कर विलाप करने लगते हैं—

> कहिं हउं कहिं हरि कहिं घरिणि कहिं घरु कहिं परियणु छिण्णउ।
> भूय-बलि व्व कुडुम्बु जगे हय-दइवें कह विक्खिण्णउ॥ ३९. २.

"—कहाँ मैं, कहाँ लक्ष्मण, कहाँ पत्नी, कहाँ घर, कहाँ परिवार? कठोर भाग्य देवता ने भूत-बलि की तरह मेरे कुटुम्ब को कहीं का कहीं बिखरा दिया है।"

राम लक्ष्मण मूर्च्छित हो जाते हैं। मुनियों की परिचर्या से वे चेतना प्राप्त करते हैं, पर स्त्री का घोर बीभत्स चित्र खींचने वाला मुनि का उपदेश उन्हें सीता के प्रति विरक्त नहीं बना पाता। वह कुछ सम्भलते हैं पर फिर रोते हुए अपनी सुध-बुध भूल जाते हैं।

> णिद्धणु लक्खण-वज्जियउ अण्णु वि बहु-वसणेहिं भुत्तउ।
> राहउ भमइ भुअंगु जिह वणे "हा हा सीय" भणन्तउ॥३९. ११

निर्धन, लक्षण हीन कामातुर की भाँति राम वन में "हा सीता हा सीता" कह कर घूमते फिरते हैं। वह वन देवी को उलाहना देते हैं कि क्यों मुझे दुःखी करते हो मेरी कान्ता को बताओ। मत्त गज को देख राम कह उठते हैं।

---

[1] —"जाए जहिं परम-सुहावहेण। अणरण्णाणन्तवीर-पहेण।" ३९. २. ६.

"हे कुंजर कामिणि-गइ-गमण । कहें कहि मि दिट्ट वइ मिगणयण ॥"

"अरे मेरी कामिनी के समान सुन्दर गति वाले गज, क्या तुमने मेरी मृग-नैनी को देखा है ?[१]

सीता-वियोग में राम की विचित्र दशा हो रही है, उन्हें सर्वत्र सीता-ही सीता दिखाई दे रही हैं।

णिय-पडिरवेण वेयारियउ । जाणइ सीयएं हक्कारियउ ॥
कत्थइ दिट्ठइं इन्दीवरइं । जणइ धण-णयणइं दीहरइं ॥
कत्थइ असोय-तरु हल्लियउ । जाणाइ धण-बाहा-डोल्लियउ ॥
वणु सयलु गवेसवि सयल महि । पल्लट्टु पडीवउ दासरहि ॥

अपनी ही प्रतिध्वनि से प्रताड़ित होकर राम यही समझते हैं मानों सीता ने उन्हें पुकारा है। कहीं वह नील कमलों को अपनी पत्नी के विशाल नयन समझ बैठते हैं, कहीं हिलते हुए अशोक वृक्ष को समझते हैं कि सीता की बाँह हिल रही है।[२] इस प्रकार समस्त वन और धरती की खोज करके राम वापस आ जाते हैं। सूनी कुटी देख मानो फिर उनकी भ्रान्ति समाप्त हो जाती है :

तं जि पराइउ णिय-भवणु जहिं अच्छिउ आसि लयत्थले ।
चाव-सिलिम्मुह-मुक्क-करु बलु पडिउ सइं भुव-मण्डले । ३९. १२.

धनुष-बाण अलग रख वह धरती पर गिर पड़ते हैं, लक्ष्मण युद्ध-भूमि से लौटकर राम को धरती पर पड़ा पाते हैं—

विओय-सोय-तत्तओ । करिव्व भग्ग दन्तओ ।
तरु व्व छिण्ण-डालहो । फणि व्व णिप्फणालओ ॥
गिरि व्व वज्ज-सूडिओ । ससि व्व राहु पीडिओ ॥
अपाणिउ व्व मेहओ । वणो विसण्ण-देहओ ॥

जैसे भग्न दन्त गज, छिन्न शाखा वृक्ष, फणि-रहित सर्प, वज्राहत पर्वत, राहु-ग्रस्त चन्द्र जल रहित मेघ और अग्नि-दग्ध वन ।

लक्ष्मण के पूछने पर राम के मुंह से केवल इतना निकलता है—सीता वन में नष्ट हो गई, मैं अब और कोई बात नहीं जानता ।

"वणे विणट्ठ जाणई । ण कोवि वत्त जाणई । ४०. १२. ९.

१—'मानस' के राम भी इसी तरह पूछते फिरते हैं :

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी । तुम देखी सीता मृग नैनी ॥

२—'मानस' के राम को ऐसा प्रतीत होता है कि सीता के अंगों से ईर्ष्या करने वाले खंजन, मृग, कुंद, कमल आदि इस समय प्रसन्न हो रहे हैं ।

खंजन सुक कपोत मृग मीना । मधुप निकर कोकिला प्रवीना ॥
कुंद कली दाडिम दामिनी । कमल सरद ससि अहिभामिनी ॥
बरुन पास मनोज धनु हंसा । गज केहरि निज सुनत प्रसंसा ॥
श्रीफल कनक कदलि हरसाहीं । नेकु न संक सकुच मन माहीं ॥
सुनु जानकी तोहि बिनु आजू । हरषे सकल पाइ जनु राजू ॥

दुःख की अतिशयता होने पर बोलने को भी नहीं चाहता। जिस प्रियजन के कारण दुःख आया है उसके प्रति भी अवज्ञा के शब्द निकलते हैं, दुःख के भार से दबे मन की यह एक तरकीब है कि कुछ राहत मिले, मनुष्य को जीवित रखने के लिए प्रकृति का यह एक विधान है अन्यथा, सीता नष्ट नहीं हुई है; न राम के हृदय में उनकी स्मृति की धधकती ज्वाला शान्त हुई है। यह वह ज्वाला है जिसमें लंका भस्मसात् होकर रहेगी।

जैसे राम सीता के लिए तड़प रहे हैं उसी भाँति असहाय सीता राम के वियोग में अधमरी हो रही हैं। वियोगिनी सीता की दशा के चित्रण में स्वयंभू ने कम भाव-प्रवणता नहीं दिखाई है। रावण के चंगुल में पड़ते ही पहले वह देवों की भर्त्सना करती हैं। (प्रार्थना नहीं)।

अहो अहो देवहो रणे दुवियड्ढहों। णिय परिहास ण पालिय संद हो ॥
वीर सुहडत्तणु चंडू-जीवहों। जो अब्भिट्टु समरे दसगीव हो ॥
णउ तुम्हेंहि रक्खिउ वहुत्तणि। सूरहो तणउ दिट्ठु सूरत्तणु ॥
सच्चउ चन्द वि चन्द-गहिल्लउ। वम्भु वि सोत्तिउ हरु दुम्महिलउ ॥
वाउ वि चवलत्तणेण दमिज्जइ। धम्मु वि रण्ड-सएहिं लइज्जइ ॥
वरुण वि होइ सहावें सीयलु। तासु कहि मि कि संकइ पर-बलु ॥
इन्दु वि इन्दवहेण रमिज्जइ। को सुरवर-सण्डेंहि रक्खिज्जइ ॥

अरे अरे रण में दुर्विदग्ध देवो ! कितने परिहास की बात है कि तुम अपनी प्रतिज्ञा का भी पालन नहीं कर सके। तुम से तो चंचु जीवी जटायु पक्षी का सुभटपन अच्छा है। वह समर में रावण से भिड़ा तो। तुम अपना बड़प्पन नहीं रख सके। सूर्य का सूर्यत्व भी मैंने देख लिया। चन्द्रमा बेचारा तो राहु-ग्रस्त है। ब्रह्मा तो ब्राह्मण ही ठहरे। शंकर दो पत्नी वाले हैं। वासुदेव भी अपनी चपलता से दंभी हो गये हैं। धर्मदेव भी सैकड़ों राड़ों से लज्जित हैं। वरुण तो स्वभाव से ही शीतल है, शत्रु सेना को उनसे क्या आशंका हो सकती है ? इन्द्र भी अपने इन्द्रपन में विराज रहे हैं। भला देव समूह ने किसकी रक्षा की है ?

जब सीता देखती हैं कि देवों पर उनकी पुकार का कोई प्रभाव नहीं है और अनाचारी रावण से उनकी सहायता करने वाला कोई नहीं है, तब वे अपनी असहायावस्था पर करुण विलाप करने लगती हैं :

हउं पावेण एण अवगण्णेवि। णिय तिहुवणु अ-मणूसउ मण्णें वि ॥
अह महं कवणु णेइ कन्दन्ती। लक्खण-राम वे वि जइ हुन्ती ॥
हा हा दसरह माम गुणोवहि। हा हा जणय जणय अवलोयहि ॥
हा अपराइएं हा हा केक्कइ। हा सुप्पहें सुमित्तें सुन्दर-मइ ॥
हा सत्तुहण भरह भरहेसर। हा भामंडल भाइ सहोयर ॥
हा हा पुणु वि राम हा लक्खण। को सुमरमि कहो कहमि अ-लक्खण ॥

को संथवइ मइ को सुहि कहों दुक्खु महन्तउ।
जहिं जहिं जामि हउं तं तं वि पएसु पलित्तउ ॥ ३८.१५

यह पापी तीनों लोकों में मुझे अनाथ समझ कर इस प्रकार अपमानित करके ले जा रहा है। यदि राम और लक्ष्मण यहाँ होते तो मुझे इस तरह विलपती हुई कौन ले जा सकता था ?

हा दशरथ, हे गुण-समुद्र भामा, हा पिता जनक, हे अपराजित, हे कैकेयी, हे सुप्रभा, हे सुन्दरमति सुमित्रा, हा शत्रुघ्न, हे भरतेश्वर भरत, हा सहोदर भामंडल, हा राम लक्ष्मण। अभागिनी आज मैं किससे कहूँ, किसको याद करूँ, मुझे कौन सहारा देगा, अपना इतना भारी दुःख किससे निवेदित करूँ मैं जिस प्रदेश में जाती हूँ वही आग से प्रदीप्त हो उठता है।[1]

इस प्रकार सीता-हरण का प्रसंग स्वयंभू ने बहुत मार्मिक बना दिया है, उसे चाहे राम के वियोग-दुःख की दृष्टि से देखा जाय चाहे सीता के असहाय करुण क्रन्दन की दृष्टि से।

अगला मार्मिक प्रसंग लक्ष्मण को शक्ति लगने के अवसर पर आता है। वहाँ भी राम का विलाप बड़ा ही हृदय-स्पर्शी है। स्वयंभू ने विस्तार से राम के भ्रातृ-स्नेह का वर्णन किया है और भाई से वियोग हो जाने की आशंका से जन्य उनके दुःख का मार्मिक चित्र खींचा है। लक्ष्मण को शक्ति लगने पर उनके धरती पर गिरते ही पहले तो राम रावण से भिड़ जाते हैं और छः बार उसे रथ-हीन कर देते हैं[2] फिर भाई की दशा देख वह मूर्च्छित हो जाते हैं।

हा लक्खण कुमार एक्कोअर। हा भद्दिय उविन्द दामोअर॥
हा माहव महुमह महुसूअण। हा हरि कण्ह विण्हु णारायण॥
हा केसव अणन्त लच्छीहर। हा गोविन्द जणद्दण महिहर॥
हा गम्भीर-महाणइ-दम्मण। हा सीहोयर-दप्प-णिसुम्भण॥
हा हा वज्जयण्ण-मम्भीसण। हा कल्लाणमाल-आसासण॥
हा हा रुद्दभुत्ति-विणिवारण। हा हा वालिखिल्ल-साहारण॥
हा हा कविल-मरट्ट-विमद्दण। हा वणमाला-णयणाणन्दण॥
हा अरिदमण-मडफ्फर भंजण। हा जियपोम-सोम-मणरंजण॥
हा महरिसि-उवसग्ग-विणासण। हा आरण्ण-हत्थि-सन्तावण॥
हा करवाल-रयण-उद्दालण। सम्बुकुमार-विणास-णिहालण॥
हा खर-दूषण-चमु मुसुमूरण। हा सुग्गीव-मणोहर-पूरण॥
हा हा कोडिसिला संचालण। हा मयरहरावत्त प्फालण॥
कहि तुहुं कहि हउं कहिं पिययम कहिं जणेरि कहिं जणणु गउ।
हय-विहि विच्छोउ करेप्पिणु कवण मणोरहु पुण्ण तउं॥ ७७.३

लक्ष्मण के जितने भी नाम और काम हैं उनका स्मरण करते हुए राम दुर्दैव को कोसने लगते हैं जिसने भाई को कहीं, पत्नी को कहीं, माता को कहीं और पिता को कहीं करके सब में बिछोह पैदा कर दिया है।

१—'मानस' की प्रसंग-गत पंक्तियाँ तुलनीय हैं :

हा जग एक वीर रघुराया। केहिं अपराध बिसारेहु दाया॥
आरति हरन सरन सुखदायक। हा रघुकुल सरोज दिननायक॥
हा लछिमन तुम्हार नहिं दोसा। सो फलु पायउँ कीन्हेउँ रोसा॥
बिपति मोरि को प्रभुहि सुनावा। पुरोडास चह रासभ खावा॥
सीता कै बिलाप सुनि भारी। भए चराचर जीव दुखारी॥

२—किउ रिउ विरहु छ-वारउ रामें॥ ७७.१३.६।

लक्ष्मण के गुणों का स्मरण करते हुए राम उनके दारुण वियोग में विकल हो जाते हैं :

वरि पइसरिउ पर-घरवर-चक्कएं । वरि खय-कालु ढुक्कु अत्थक्कएं ।।
वरि तं कालकूडु विसु भक्खिउ । वरि जम-सासणु णयणकडक्खिउ ।।
वरि असि-पंजरे थिउ थोवन्तरु । वरि सेविउ कयन्त-कलन्तरु ।।
झम्प दिण्ण वरि जलणे जलन्तएं । वरि वगलामुहें भमिउ भमन्तएं ।।
वरि वज्जासणि सिरेण पडिच्छिय । वरि दुक्कन्ति भविलि सणिच्छय ।।
वरि विसहिउ जम-महिस-झडक्किउ । भीसण-कालदिट्ठि-अहि-डंकिउ ।।
वरि विसहिउ केसरि-णह-पंजरु । वरि जो हउ कलि-कालु सणिच्छरु ।।
वरि दन्ति-दन्त-मुस लुग्गेंहि विणिभिन्दाविउ अप्पणउ ।।
वरि णरय-दुक्खु आयामिउ णउ विजोउ भाइहे तणउ ।। ७७.४

राम के लिए संसार में कोई भी ऐसा कल्पनीय-अकल्पनीय दुःख नहीं है जो भाई के वियोग के दुःख से बड़ा हो । पर-शासन की चक्की में पिसना अच्छा है, काल कूट विष का पान अच्छा है, यमशासन में त्रास पाना अच्छा है, करवाल से काटा जाना अच्छा है, कृतान्त काल से सेवित होना अच्छा है,———वज्रासन पर सिर के बल पटका जाना अच्छा है, यम-महिष से झिंझोड़ा जाना, भीषण काल-दृष्टि से ताड़ित होना, भयंकर केसरी-नख से बिदारा जाना, कलिकाल और शनिश्चर का कोप-भाजन होना अच्छा है, हाथी दाँत सरीखे मूसल के अग्रभाग से शरीर का भिदवाना अच्छा है, नरक का दुःख अच्छा है, किन्तु भाई के वियोग का दुःख अच्छा नहीं ।

राम का ऐसा करुण विलाप सुनकर सुग्रीव, भामंडल, विराधित विभीषण, अंगद, नल-नील, जामवन्त, महीन्द्र, माहेन्द्र आदि सभी वीर धैर्य छोड़कर बिलखने लगते हैं और दिशाएँ दुःख से पूरित हो जाती हैं ।[1]

लक्ष्मण की मृत्यु की आशंका से जो दुःख राम को होता है उसके वर्णन से भी स्वभावतया अधिक मार्मिक वर्णन स्वयंभू ने उस दुःख का किया है जो रावण की मृत्यु पर विभीषण मन्दोदरी तथा उसके अन्य बन्धु बांधवों को होता है । भाई के वियोग में विभीषण का विलाप कहीं अधिक हृदय-विदारक और मर्म-स्पर्शी है । विभीषण के लिए भाई की मृत्यु असह्य प्रतीत होती है और वह आत्म-हत्या करना ही चाहता है कि मूर्च्छा मानो उसका रक्षक बन जाती है । विभीषण रावण की भूलें भी बताता जाता है और अश्रुपात भी करता जाता है, उसके पश्चातापपूर्वक रुदन से वर्णन अत्यधिक करुणा-सिक्त हो जाता है—यदि रावण ने भाई की सीख स्वीकार कर ली होती तो राक्षस-वंश को यह दुर्दिन क्यों देखना पड़ता !

राक्षस-राज रावण का पतन साधारण घटना नहीं । शोकार्त विभीषण कहता है :

रुअइ विहीसणु सोयक्कमियउ । तुहुं णत्थमिउ वंसु अत्थमिउ ।।
तुहुं ण जिओऽसि सयलु जिउ तिहुअणु । तुहुं ण मुआऽसि मुअउ वन्दिय जणु ।।
तुहुं पडिओऽसि ण पडिउ पुरन्दरु । मउडु ण भग्गु भग्गु गिरि-मंदरु ।।
दिट्ठि ण णट्ठ णट्ठ लंकाउरि । वाय ण णट्ठ णट्ठ मन्दोयरि ।।
हारु ण तुट्टु तुट्टु तारायणु । हियउ ण भिण्ण भिण्णु गयणंगणु ।।
चक्कु ण ढुक्कु ढुक्कु एकन्तरु । आउ ण खुट्टु खुट्टु रयणाकरु ।।

१—संधि ६७.५ ।

जीउ ण गउ गउ आसा-पोट्टलु । तुहु ण सुत्तु सुत्तुउ महिमंडलु ।।
सीय ण आणिय आणिय जमउरि । हरि-बसु कुद्ध ण कुद्धाकेसरि ।। ७६.९.

अरे रावण, तू नहीं अस्त हुआ है, राक्षसवंश का अस्त हो गया, तू नहीं पराजित हुआ था, सारा त्रिभुवन पराजित हो गया था, तू नहीं मरा, समस्त बन्दी-जन मर गये। यह तेरा पतन नहीं, पुरन्दर का ही पतन है, तेरा मुकुट भंग नहीं हुआ, मन्दराचल ही भंग हो गया, तेरी दृष्टि नष्ट नहीं हुई, लंकापुरी ही नष्ट हो गई, तेरी वार्ता नष्ट नहीं हुई, मन्दोदरी ही नष्ट हो गई, तेरे हार नहीं टूटे, तारागण ही टूट गया है, तेरा हृदय नहीं भिदा, गगन ही भिद गया है, चक्र खंडित नहीं हुआ, अन्तर ही खंडित हो गया है, आयु नहीं समाप्त हुई, सागर ही सूख गया है, तेरे प्राण नहीं गये, हम सब की आशा का भंडार ही चला गया, तू नहीं सोया है, सारा संसार ही सो गया है, हे रावण, तू सीता को नहीं, यमपुरी को लाया था, राम-लक्ष्मण नहीं, सिंह ही क्रुद्ध हो उठा था।

विधवा मन्दोदरी की दशा विभीषण से भी अधिक करुणाजनक है। युद्धस्थल में बीस-बाहु रावण कल्प-वृक्ष की भाँति पड़ा है। मन्दोदरी विलाप करती है।

साभिय पइं भविएण विणु पुप्फ विमाणें चडेंवि गुरु-भत्तिंए ।
मेरु-सिहरे जिण-मन्दिरइं को मइं णेसइ वन्दण-हत्तिए ।। ७६. १०.

स्वामी आपके बिना कौन गुरु-भक्ति वश मुझे पुष्प विमान में बैठाकर मेरु शिखर के जिन-मन्दिरों में वन्दना के लिए ले जायगा ?

जइ वि णिरारिउ णिद्दएं भुत्तउं । तो वि ण सोहहि महियले सुत्तउ ।।

माना कि तुम्हें बहुत नींद लग रही है, पर इस तरह पृथ्वी पर सोना अच्छा नहीं लगता।

मन्दोदरी करुण क्रन्दन करती हुई उन हास-विलासपूर्ण दाम्पत्य-सुखों का स्मरण करती है जो पति के जीवन-काल में उसे उपलब्ध थे—वापि-स्नान के समय रावण का जल-निमग्न होकर स्तन पकड़ना तथा ईषत्-ईषत् परिरंभण, शयन-भवन में नख-क्षत एवं उज्ज्वल लीला-कमलों से ताड़न, प्रणय कोप में रसना-दाम-निबन्धन, सुरति-काल में नूपुर-झंकार आदि :

"बुड्डण-वाविहिं थण-परिचड्डणु । सुमरमि ईसि ईसि अवरुण्डणु ।।
सयण-भवणें णह-णियर-वियारणु । सुमरमि लीला-पंकय-ताडणु ।।
पणय-रोस-समए मय-बद्धणु । सुमरमि रसना-दाम णिबन्धणु ।।
सुमरमि सइं सुरयारुहणें णेउर-वर-झंकार-विलासु ।।
तो इ महारउ वज्जमउ हियउ ण वे-दलु होइ णिरांसु ।। ७६.१०

मन्दोदरी की भाँति ही रावण की अन्य रानियों का क्रन्दन भी हृदय विदारक है। कोई तो समस्त अंगों से रावण के शव का आलिंगन करती है और कोई उसे अपनी रसना से बाँधने लगती है, कोई वर-वस्त्र से, कोई हार से, कोई लीला-कमल से रावण के वक्षस्थल को ताड़ित करती है, कोई मुकुलित कमल मुख से कहती है, यदि तुम्हे प्राणों की ही रुचि है तो मेरे प्राणों में प्रविष्ट कर जाओ और उसे एक निमिष के लिए भी मत छोड़ो।

आलिंगेप्पिणु सव्वायामें । का वि णिबन्धइ रसणा-दामें ।।
का वि वरं सुएण क विहारें । का वि सुअंध-कुसुम-पब्भारें ।।
का वि उरे ताडेवि लीला कमले । पभणइ मउलिएण मुह-कमले ।।

"तुम्हइ पयक-धारं-बहुय । जइ विरहिय पाणहुं रुव्वइ ।
तो कि मह पेक्खन्तियहें । हियएं पइट्ठी विविसु ण मुच्चइ ॥ ७६,११.

रावण की रानियों का पति-वियोग में विचित्र हाल हो रहा है।

क वि केसावलि रंखोलावइ । णं कसणाहि-पन्ति खेलावइ ॥
का वि कुडिल भउहावलि दावइ । हणइ मयण-धणु-लट्ठिएं णावइ ॥
का वि णिएइ दिट्ठिएं सु-विसालएं । णं ढंकइ णीलुप्पल-मालएं ॥
क वि अहिसिंचइ अविरल-वाहें । पाउस-सिरि गिरिं व्व जल-वाहें ॥
का वि आणणे आणणु लायइ । णं कमलोवरि कमलु चडावइ ॥
क वि आलिंगइ भुअहिं विसालहिं । णं ओमालइ मालइ-मालहिं ॥
क वि परिमसइ अग्ग हत्थयलें । छिवइ णाइं णव-लीला-कमलें ॥
क वि णिम्मल-करुरुह पयडावइ । णं दह-मुहहुं व दप्पण दावइ ॥
का वि पओहर-घड-जुवले णं । णं सिंचइ लायण्ण-जलेणं ॥ ७६.१२.

कोई अपनी केश-राशि खोल देती है, मानो कृष्ण सर्प ही खेला रही हो, कोई कुटिल भृकुटी से देखती है, मानो कामदेव के बाणों से हन रही है। कोई विशाल नेत्रों से रावण को देख रही है, मानों नील कमलों की माला पहना रही है, कोई अविरल अश्रुधार से रावण का शव अभिसंचित कर रही है, मानो गिरि जल-धार की पावस-श्री से सुशोभित हो रहा हो। कोई मृत पति के मुख के ऊपर अपना मुख ले जाती है, मानो कमल के ऊपर कमल चढ़ा हो, कोई अपनी बाहों से रावण की विशाल भुजाओं का आलिंगन करती है, मानो उस पर मालती की माला चढ़ा रही हो, कोई हाथ में आग धारण कर लेती है, मानो लीला-कमल का स्पर्श कर रही हो, कोई निर्मल नखों को रंजित करती है, मानो रावण के दसों-मुखों को दर्पण दिखा रही हो, कोई दोनों पयोधर रूपी घटों के लावण्य-जल से मानों पति को अभिसिंचित कर रही है।

रानियों का करुण-क्रन्दन इस प्रकार चलता रहता है, उधर ढाई करोड़ कुमार मूर्च्छित हो जाते हैं :

इन्दइ-पमुहउ मुच्छियउ अद्ध-पंच कोडीउ कुमारहुं ॥

कुम्भकर्ण अन्य कुमारों के साथ पृथ्वी पर इस प्रकार गिर पड़ता है मानों तारागण के साथ चन्द्रमा ही गिरा हो।

णिवडिउ कुम्भयण्णु सहुँ पुत्तेंहिं । णं मय लंछणु सहुँ णक्खत्तेंहिं ।

इस प्रकार रावण के निधन का जो चित्र स्वयंभू ने खींचा है वह बड़ा ही मार्मिक है।

"पउमचरिउ" में जितने मार्मिक प्रसंग हैं उनमें सीता के निर्वासन और अग्निपरीक्षा का प्रसंग कदाचित् सबसे अधिक करुणाजनक और हृदय-द्रावक है। जो सीता १६ वर्ष पर्यन्त राम के प्रेम का एकान्त केन्द्र रहीं, जिनके सह-वास से उनके वनवास का जीवन सरस और स्निग्ध बनता रहा, जिनके अपहरण और वियोग से उन्हें मर्मान्तिक दुःख की अनुभूति हुई और जिनके कारण रावण की लंका और रावण का सर्वनाश हुआ, उसी सीता को राम निष्ठुर बन कर राजभवन से निर्वासित कर घोर जंगल में छुड़वा देते हैं। क्यों? इसलिये कि अयोध्या की कुछ पुंश्चली स्त्रियों ने अपने पतियों के सामने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि यदि इतने दिनों तक रावण के यहाँ रहकर आने वाली सीता राम को ग्राह्य हो सकती है तो एक-दो रात

अत्यन्त बिता कर उनके घर लौटने में पतियों को आपत्ति क्यों हो ? इसको लेकर नगर में सीता-विषयक अपवाद फैलता है[1] और राम कुल की मर्यादा की रक्षा के नाम पर सीता को घर से निर्वासित कर देते हैं।

परिस्थिति में मार्मिकता उस क्षण से आती है जब राम का मन स्त्री-मात्र के प्रति विरक्त हो जाता है। स्वयंभू ने राम की इस मन:स्थिति का सजीव चित्र अंकित किया है, राम स्त्री के विषय में सोचते हैं।

> अण्णु णिएवि अण्णु बोल्लावइ। चिन्तइ अण्णु अण्णु मणे भावइ ॥
> हियवइ णिवसइ विसु हालाहलु। अमिय वयणे दिट्ठिहें जमु केवलु ॥
> महिलहें तणउ चरिउ को जाणइ। उभय-तडइं जिह खणइ महा-णइ ॥
> चन्द-कल व सव्वोवरि बंकी। दोस-ग्गाहिणी सइं स-कलंकी ॥
> णव-विज्जुलिय व चंचलं देही। गोरस-मंथ व कारिम णेही ॥
> वाणिय-कल कवडेंकिय-माणी। अडइ व गुरु-आसका-थाणी ॥
> णिहि व पयत्तें परिरक्खेवी। गुलहिय-खीरि व कहो विण देवी ॥ ८१.५ ॥

स्त्री का क्या विश्वास ? वह परिणीता किस की होती है, प्रेयसी किसी अन्य की। ध्यान किसी का करती रहती है, लेकिन मन में कोई दूसरा ही बसा रहता है, उसकी वाणी में अमृत होता है, लेकिन हृदय में विष और नेत्रों में मृत्यु। स्त्री-चरित्र को कौन जान सकता है, वह नदी की तरह दोनों तटों (नैहर-सासुर) का विनाश करती है। चन्द्रमा के समान सुन्दर होकर भी वह कलंक का घर है, नव-विद्युत की छटा से मंडित उसकी देह चंचल होती है, इन्द्रियों की वशीभूता स्त्री केवल कलुषित प्रेम जानती है। वह वाणी से मधुर लेकिन मन से कपटी होती है, स्त्री गम्भीर आशंका की स्थली है।

राम की इस मन: स्थिति पर हमें दया आती है, वह बड़ी कठिनाइयों में हैं, यदि सीता सती भी हों (जिस विषय में वह स्वयं शंका से सर्वथा मुक्त नहीं हैं) तो इस लांछन को कौन टाल सकता है कि वह रावण के घर रह कर आई हैं।[2] नहीं, नहीं, राम सीता को घर में नहीं रख सकते, चाहे लक्ष्मण कितना भी प्रतिवाद करें।[3] वह लक्ष्मण को आदेश देते हैं, इसे घर से निकालो, रघुवंश में यह पाप-पुंज नहीं रह सकता, संसार में उसके अयश का ढिंढोरा नहीं बज सकता।

> मं रहु-कुले कलंक उपज्जउ। तिहुअणे अयस-पडहु मं वज्जउ" ॥ ८१.८

लक्ष्मण निरुत्तर खड़े रह जाते हैं तो राम सेनानी के द्वारा सीता को रथ पर बैठा बाहर भिजवा देते हैं। कौशल्या, सुमित्रा, सुप्रभा आदि रानियाँ रोती हुई शोकातुर-चित्त देखती रह जाती हैं। नगर के लोग रुद्ध-कंठ कहते हैं—किस दुर्दैव ने यह वियोग घटित कर दिया है। क्षुद्र निन्दकों से घर नष्ट हो गया, हाय, हाय, राम ने बड़ा ही अनुचित किया।

१—पर-पुरिसु रमेवि दुम्महिलउ देन्ति पहुत्तर पइ-यणहो।
"किं राम ण भुंजइ जणय-सुय वरिसु वसेवि घरे रामणहो" ॥८१.२।

२—णिय-णेह-णिबद्धउ भावइ जइ वि महा-सइ महु मणहो।
को फेडेवि सक्कइ लंछणउ जं घरें णिवसिय रावणहो ॥ ८१. ५

३—"को धम्माचइ जीय महा-सइ। राम जाहणें आहे बुहु णासइ ॥
जाहें पाव-पंकु वि मल्लिज्जइ। ताहें कलंकु केम लाइज्जइ ॥" ८१.६।

धाहाविउ कोसल्लएँ सुमित्तएं। सुप्पहाएं सीआउर-चित्तएं ॥
कायरिया-यणेण व कन्दें। केण विओइम दइवें दुट्ठें ॥
वर विणद्दु बल-भिसणइँ छन्दें। सिविग अजुत्तु किउ राहव चन्दे ॥

भाव-विह्वल स्त्रियाँ कहतीं हैं, मानव-तन पाने से स्त्री को क्या लाभ ? उसे परम्परा से प्रिय का वियोग ही तो मिलता आया है। इससे अच्छा तो यह कि वन में लता-बेल होकर जन्म ले, उसे पेड़ परित्यक्त तो नहीं करता।

किं माणुस भजम्मे लद्धएंण इट्ठ-विओय-परम्परेण।
वरि आय णारि वणें वेल्लडिय जा णवि मुच्चइ तरुवरेण ॥ ८१.८.

सीता अयोध्या में मौन बनी रहती है। जब सारथी द्वारा त्यक्त होकर वह वन में अकेली हो जाती हैं तब असह्य दुःख के भार से आक्रान्त वह फूटकर रोने लगती हैं :

धाहाविउ उक्कण्ठुल-भावएं। कम्मु रउदु कियउ मइं पावएं ॥
मंछुहु सारस-जुअलु विओइउ। चक्कवाय-मिहुणु व विच्छोइउ ॥
जम्महं लग्गेवि दुक्खहं भायण। हा भामण्डल हा णारायण ॥
हा सत्तुहण णाहि मम्भीसहि। हा जणेरि जणाण ण दीसहि ॥
हा हय-विहि हउं काहं विओइय। सिव-सियाल-सद्दूलहं ढोइय ॥
हा हय-विहि तुहुँ काइं विरुद्धउ। जेण रामु महु उप्परें कुद्धउ ॥
वरि तिण-सिह वरि वणें वेल्लडिय वरि लोयहुं पाण-पिय।
दूहव-दुरास-दुह-भायाणिय णउ मइं जेही का वि तिय ॥

हत-भाग्य को धिक्कारती हुई सीता स्वजनों का नाम-स्मरण करती हैं और अपने को दुराभव, दुराशा, दुःख का भाजन बताती हुई वन की तृण-बेलि और शिलाओं को अधिक भाग्य-शाली बताती हैं।

फिर वन के उस एकान्त में हम सती सीता के भास्वर रूप का दर्शन करते हैं। सीता अपने सतीत्व के साक्ष्य में सर्वत्र व्याप्त तत्वों को सम्बोधित करती हैं—

"भणु भणु भाणु भाणु भू-भावणु। जइ मइं मणेण समिच्छिउ रावणु ॥
वणसइ तुहु मि ताव तहिं होन्ती। जइयहुँ थिय णिसियरेण रुवन्ती ॥
णहयल तुहु मि होन्तु तहिं अवसरे। जइयहु जिउ जडाउ संगर-वरें ॥
जइयहुँ रयणकेसि दलवट्टिउ। विज्जा-छेउ करेवि आवट्टिउ ॥
वसुमइ पइ मि दिट्ठ तरवर-मणे। जइयहुँ णिवसियामि णन्दणवणे ॥
अच्छिउ वरुणु पवणु सिहि मक्खरु। केण वि वोल्लिउ ण वि धम्मक्खरु ॥

लोयहुँ कारणे दुप्परिणामे। हउं णिक्कारणे घल्लिय रामें।
जइ सुय कह वि सइत्तण-धारी। तो तुम्हइं तिय-हच्च महारी।

बोलो, बोलो हे भू विचरक सूर्यो, यदि मैंने मन में रावण की इच्छा की हो। हे वन-देवियो, उस समय तुम भी वहाँ थीं जब मुझ रोती हुई को निशाचर ले गया। हे आकाश, तुम भी उस अवसर पर थे, जब श्रेष्ठ युद्ध में जटायु की पराजय हुई और रत्नकेशी को विद्या से छेद कर निशाचर ने धराशायी किया। हे वसुमति, तुमने देखा है कि नन्दनवन के घने तरु के नीचे मैं कैसे रहती ? वरुण, पवन, सूर्य, अग्नि सभी थे, पर किसी ने धर्म-वचन कहने का साहस

नहीं किया। लोगों के कहने पर दुष्परिणाम की आशंका से राम ने मेरा निष्कासन कर वन में डाल दिया। यदि मुझमें कुछ भी सतीत्व है तो तुम सबको स्त्री-हत्या का पाप लगेगा।

इधर सीता का अपने सतीत्व पर यह विश्वास और उधर राम का अपनी कुल-मर्यादा के प्रति वह दृढ़ भाव। वह जानते हैं कि सीता महासती हैं, वय-गुण-सम्पन्न हैं, जिन-शासन-भक्त हैं, लवण-अंकुश की माता हैं, जनक की पुत्री हैं भामण्डल की भगिनी हैं, आदि। पर इतने पर भी सीता उनके अपयश का कारण हैं, इसलिए राम उनके विषय में सब कुछ जानकर भी कुछ नहीं जानते।[1]

विभीषण को अपनी सारी शक्ति लगा देनी पड़ती है। वह त्रिजटा को लंका से बुलवा कर सीता के सतीत्व का साक्ष्य दिलवाते हैं। पर राम आश्वस्त होकर भी सीता के पुनःग्रहण में साहस-विहीन से हो रहे हैं। तब विभीषण आखिरी दाँव लगाते हैं, वह कहते हैं कि तुला-तिल विष-जल-ज्वाला, पाँच में से चाहे जिसके द्वारा आप सीता के दिव्य आचरण की परीक्षा कर लीजिए—

"जइ एव वि णउ पत्तिज्जइ तो परमेश्वर एव करें।
तुल-चाउल-विस-जल-जलणइं पंचह एक्कु वि दिव्वु धरे ॥ ८३.४.

इस पर राम का परितोष होता है और उनके मुँह से निकलता है "तो ऐसा ही हो।" सीता अपराधिनी की भाँति परीक्षा के लिए लायी जाती है, रात को उन्हें राजभवन से दूर उद्यान में ही ठहराया जाता है।[2] ऐसा न हो कि शुद्धि-परीक्षण के पूर्व उनके राजभवन-प्रवेश से रघुवंश पर कलंक आ जाय। सीता की दारुण व्यथा का अनुमान लगाना सहज है अयोध्या आने पर भी उनके लिए राजभवन में स्थान नहीं है। इससे क्या उनके लिए वन ही अच्छा नहीं था। पर नहीं सीता को कहीं भी रखा जाय, उनका अपमान भला कोई क्या कर सकता है, सोना सर्वत्र पवित्र होता है, अग्नि सर्वत्र भासमान होती है। दूसरे सबेरे सीता को जब सभा में लाकर आसन पर बैठाया जाता है तब वर-आसन पर विराजमान सीता ऐसी लगती हैं जैसे जिन-आसन पर शासन-देवता।

"सीय पइट्ठ णिवट्ठ वरासणे।
सासण-देवए जं जिण-सासणे ॥ ८३.७.८

इससे अधिक गरिमा, इससे अधिक प्रतिष्ठा स्वयंभू के भाण्डार में किसी के लिए नहीं है जो वह इन शब्दों द्वारा सीता को देते हैं।

राम सीता को देखते हैं—मानो सागर ने प्रथमा की चन्द्रलेखा को देखा हो।[3] क्षीण-काय-सीता इससे अधिक राम को लग भी क्या सकती हैं? निस्सन्देह राम के मन में उछाह नहीं। सागर तो राकाशशि चाहता है। विहँस कर बड़ी तिक्त और विषाक्त वाणी में राम सीता की भर्त्सना करने लगते हैं।

"जइ वि कुलुग्गयाउ णिरवज्जउ। महिलउ होन्ति सुट्ठु णिल्लज्जउ ॥
दर-दाविय-कडक्ख-विक्खेवउ। कुडिल-मइउ वड्ढिय-अवलेवउ ॥

१—संधि ८३.३।

२—केत्थहो पिय यमेल णिव्वासिय तहो उववणहो मज्झे आवासिय ॥ ८३.७.५।

३—परमेसरि पढम-समागमे जसि णिहालिय हलहरेण।
सिय-पक्खहों पहिल्लइं चन्दलेह णं सायरेण ॥ ८३.७.६।

बाहिर-मिट्ठउ गुण-परिहीणउ । किह सय-खंड ण जन्ति णिहीणउ ।।
मउ गणन्ति णिय-कुलु मइलन्तउ । तिहुअणे अयस-पडहु वज्जन्तउ ।।
अंगु समोड्डेवि णिब्भिकारहों । वयणु णिएन्ति केम भत्तारहों ।।"

"महिलाएँ अशुद्ध होती हैं, निर्लज्ज होती हैं, मलिन मति होती हैं। बहिष्कृष्टा होने पर टुकड़े-टुकड़े हो जाती हैं और इस तरह हीन हो जाती हैं। त्रिभुवन में अपने कुल को मलिन करके अयश फैलाती हैं।..........भला ऐसी नारी का मुख उसका भर्तार कैसे देखे।

राम के इन व्यंग्य-बाणों से सीता भयभीत नहीं होतीं। सतीत्व के गर्व से वह संयत रहती है[1] और फिर आत्माभिमान के स्वर में वह उत्तर देती है :

"पुरिस णिहीण होन्ति गुणवन्त वि । तियहें ण पत्तिज्जन्ति मरन्त वि ।" ८३.८.

(स्त्री में सभी अवगुण हैं, माना) परन्तु पुरुष गुणवन्त होते हुए भी निहीन होते हैं, वे मरती हुई स्त्री का भी विश्वास नहीं करते। तदनन्तर सीता और भी सतेज वाणी में कहना आरम्भ करती है :

साणु ण केण वि जणेण गणिज्जइ । गंगा-णइहिं तं जि ण्हाइज्जइ ।।
ससि-कलंक तहिं जि पह णिम्मल । कालउ मेहु तहिं जें तडि उज्जल ।।
उवलु अपुज्जु ण केण वि छिप्पइ । तहिं जि पडिम चन्दणेण विलिप्पइ ।।
धुज्जइ पाउ पंकु जइ लग्गइ । कमल-माल पुणु जिणहों वलग्गइ ।।
दीवउ होइ सहावें कालउ । वट्टि-सिहए मण्डिज्जइ आलउ ।।
णर णारिहिं एवड्डउ अन्तरु । मरणे वि वेल्लि ण मेल्लिय तरुवरु । ८३.९.

कौन नहीं जानता कि गंगा-जल गंदला होता है, फिर भी सब उसमें स्नान करते हैं। चन्द्रमा सकलंक है, लेकिन उसकी प्रभा निर्मल, मेघ काला होता है, पर उसमें निवास करने वाली विद्युत छटा उजवल। पत्थर अपूज्य होता है, यह किसी से छिपा नहीं, लेकिन उससे निर्मित प्रतिमा में चन्दन का लेप लगाते हैं। कमल पंक से उत्पन्न होता है, लेकिन उसकी माला जिनवर पर चढ़ती है, दीपक स्वभाव से काला होता है लेकिन उसकी शिखा भवन को आलोकित करती है। नर और नारी में वही अंतर है जो वृक्ष और बेलि में। बेलि सूख जाने पर भी वृक्ष का त्याग नहीं करती।

अंत में सीता राम से कहती हैं :

एह पइं कवण बोल्ल पारंभिय । सउ-वडाय मइं अज्जु समुब्भिय ।।
तुइं पेक्खन्तु अच्छु विसत्थउ । डहउ जलणु जइ डहेवि समत्थउ ।।

तुम्हारे मुँह से ऐसा शब्द कैसे निकला। आज मैं सतीत्व की पताका फहराउंगी। तुम विश्वस्त होकर देखते रहो। आग में सामर्थ्य हो तो मुझे जलाए।

सीता के वचन सुनकर सबको रोमांच हो आता है। लक्ष्मण, शत्रुघ्न, लवण-अंकुश, भामंडल, वज्रजंघ, नल-नील, सुग्रीव विभीषण, जामवंत, हनुमान सभी हर्षित हो जाते हैं, परन्तु राम ? राम के हृदय में अब भी कलुष है, केवल वही एक हर्षित नहीं होते :

तइलोक्कब्भन्तर-वत्तिउ सयलु वि जणवउ हरिसियउ ।
पर हियवए कलुसु वहन्तउ राहवइ एक्कु ण हरिसियउ ।। ८३. ११.

१—सीय ण भीय सइत्तण-गव्वें । ८३.८.७ ।

सीता की परीक्षा के लिए चिता तैयार होती है। उसके ऊपर चढ़ने पर सीता ऐसी लगती हैं मानो व्रत और शील के ऊपर स्थित हों :

इंधण-पुंजें चडिय परमेसरि । णं संठिय वय-सीलहं उपरि ॥

चिता-स्थित सीता कहती हैं :

अहो देवहो महु तणउ सइत्तणु । एक्क हों रहुवइ-दुट्ठत्तणु ॥
अहो वइसाणर तुहुमि डहेज्जइ । जइ विरुआरी तो म खमेज्जइ ॥

हे देवो, मेरे सतीत्व और राम के दुष्टाचार को देखो। हे वैश्वानर तुम प्रज्ज्वलित हो, यदि मेरा आचरण विपरीत हो तो क्षमा मत करना।

ज्वाल-जाल के प्रज्ज्वलित होने पर सीता का स्वर और भी उच्च हो जाता है :

डहे डहें जइ जिण-सासणु छड्डिउ । डहें डहें जइ पिय-गोतु ण मंडिउ ॥
डहें डहें जइ हउं केण वि ऊणी । डहें डहें जइ चारित्त-विहूणी ॥
डहें डहें जहि भत्तारहों दोही । डहें डहें जइ परलोय-विरोही ॥
डहें डहें सयल-भुवण-सन्तावणु । जइ मइं मणेण वि इच्छिउ रावणु ॥—८३. १३.

सीता के सतीत्व के प्रताप से प्रज्ज्वलित चिता जल कुंड बन जाती है और उसमें कमलवत् दिव्य आसन उत्पन्न हो जाता है। उसके ऊपर विराजमान सीता ऐसी प्रतीत होती हैं मानो कमल पर लक्ष्मी सुशोभित हो रही ही हो[1]।

सीता के प्रति राम की अपराध-स्वीकारोक्ति उनके प्रति पाठक के मन में दया उत्पन्न करती है। राम कहते हैं कि क्षुद्र निंदकों के कहने में आकर मैंने तुम्हारा बहुत अपमान किया है। हे देवि, एकबार मुझ पर कृपा करके मेरा अपराध क्षमा कर दो :

तं परमेसरि महु मरुसेज्जहि । एक्क-वार अवराहु खमेज्जहि ॥

सीता का उत्तर उनकी गरिमा के अनुरूप है। वह कहती हैं :—

अहो राहव मं जाहि विसायहों । ण वितउ दोस ण जण-संघायहों ॥
भव-भव-सएंहि वियासिय-धम्म हों । सव्व दोसु एउ दुक्किय-कम्महो ॥

हे रघुपति, विषाद मत करो। न तुम्हारा दोष है, न जन-समूह का। दोष तो दुष्कृत कर्म है। मैंने आपकी कृपा से कौन से सुखों का भोग नहीं किया ?

वल मइं वहुविह-देस णिउत्ती । तुज्झु पसाएं वसुमई भुत्ती ।
वहु-वारउ तम्वोलु समाणिउ । इहलोवउ सुहु सयलु वि माणिउ ॥
वहु वारउ पयडिय-वहु भोग्गी । पइं सहुं पुप्फ-विमाणें वलग्गी ।
वहु वारउ भवणन्तरे हिंडिउ । अप्पउ वहु-मण्डणहि पमंडिउ ॥ ८३. १७.

अनेक देशों का भ्रमण किया, उसकी पृथ्वी का भोग किया, अनेक बार ताम्बूल से से सम्मानित हुई, इस लोक के सभी सुखों का अनुभव किया······पुष्प विमान की तुम्हारे साथ यात्रा की, अनेक भवान्तरों को पार किया, बहुत से मण्डलों को सुशोभित किया।

इस तरह मानों राम को उनकी कृपाओं के लिए धन्यवाद देती हुई सीता राम के इस अनुनय के विषय में कि एक बार फिर अयोध्या की रानी बनकर मेरे साथ राज करो अपना अन्तिम निर्णय सुनाती हैं :

१—तहिं वेलहिं सोहइ परमेसरि । णं पच्चक्ख लच्छि कमलोवरि ॥ ८३. १४ ।

एवहिं तिह करेमि पुणु रहुवइ । जिह ण होमि पडिवारी तियमइ ॥

अब तो ऐसा किया जाय जिससे फिर स्त्री-योनि में जन्म न लेना पड़े ।

सीता का निर्णय सुन राम को मूर्च्छा आ जाती है।[१] उठ कर देखते हैं कि सीता जा चुकी है—तपश्चरण के लिए ।

स्वयंभू ने पउमचरिउ में जितने मार्मिक प्रसंगों का वर्णन किया है उनमें सीता के निर्वासन और अग्नि-परीक्षा का यह प्रसंग अप्रतिम है । कवि ने जितनी संवेदनशीलता का परिचय इस प्रसंग में दिया है वह अत्यन्त दुर्लभ है ।

'पउमचरिउ' की भाँति ही रिट्ठणेमिचरिउ में भी कुछ प्रसंग ऐसे हैं जिन्हें स्वयंभू ने मार्मिक बना दिया है । प्रारम्भ की १ से ४ तक की संधियों में वर्णित वसुदेव-प्रसंग प्रभाव की दृष्टि से बहुत मनोरम और हृदयस्पर्शी है । वसुदेव इतने रूपवान हैं कि उनके दर्शन-मात्र से नगर की स्त्रियाँ औचित्य-अनौचित्य का ध्यान भूलकर विपरीत आचरण करने लगती हैं । पैर में लगाने का अलक्तक कोई नेत्रों में लगाने लगती है, कोई आँखों का अंजन अधरों को समर्पित करती है, कोई क्षण-क्षण पर मूर्च्छित होती है, कोई नीवी का बन्धन छोड़ने लगती है तो कोई पयोधरों का ।

क वि अहर समप्पइ अंजण ॥
कवि देइअ अलत्तउ णिय पायणे । मुछिज्जइ किज्जे खणि जे खणे ॥
कवि छोडह णीवि वन्धउ । थिलारउ करउ पईंघणउ ॥ १.४

कोई स्त्री बालक को गोद में विपरीत ढंग से लिये है, उसका मुँह कहीं है तो स्तन कहीं दे रही है ।

कवि बालु लेइ विवरीय तणु-मुहु अण्णहिं अण्णहिं देइ थणु ॥ १.४

स्वयंभू ने इस प्रकार वसुदेव के रूप दर्शन का प्रभाव अन्त में यह कहकर वर्णन किया है कि स्त्रियों की दृष्टि वसुदेव पर एक बार आकर फिर वहाँ से हट नहीं पाती, जैसे दुर्बल पशु पंक में धँस कर निकल न पावे ।

जहिं जहिं गय दिट्ठ तां तेत्तइ जिवि थक्कइ ।
दुव्वल ढोर वि पंके पडिय ण उट्ठि विसक्कइ ॥ १.७

नगर-वासियों के प्रतिवाद पर समुद्र विजय भाई को बन्धन में डाल देता है—उन्हें घर से निकलने की मनाही हो जाती । वसुदेव घर से निकल कर श्मशान भूमि में जाते हैं और छद्मपूर्ण अग्नि-प्रवेश का प्रदर्शन कर अपनी मृत्यु का प्रचार कराते हैं । तत्पश्चात् विभिन्न नगरों की यात्रा कर वह अनेक राजकुमारियों को वरण करते हैं । वसुदेव जितने सुन्दर हैं उतने ही वीर और पराक्रमशाली भी । रोहिणी-स्वयम्बर में जरासंध आदि सभी एकत्र प्रति-द्वन्द्वियों को पराजित करते हैं । अन्त में समुद्रविजय से भी उनकी भिड़न्त होती है, युद्ध के अन्त में दोनों भाइयों का परिचय होता है और वसुदेव समुद्रविजय के साथ शौर्यपुर लौटते हैं । कंस उनका शिष्यत्व ग्रहण करता है । जरासंध की घोषणा पर वसुदेव और कंस सिंहरथ राजा को पकड़ लाते हैं । कंस का विवाह जरासंध की कन्या जीवद्यशा से हो जाता है ।

यहाँ तक का प्रसंग स्वयंभू ने बहुत संक्षेप में किन्तु इतने सुन्दर रूप में वर्णन किया

१—जेम जिए वि को वि [illegible] । पडिय [illegible] तक्खण [illegible] ॥ ८३.१८.१

है कि वह स्वयं एक मनोरम कहानी का-सा प्रभाव मन पर डालता है। उसका वातावरण औत्सुक्य, उत्साह और मनोरंजन से परिपूर्ण है।

आगे का कृष्ण-लीला का प्रसंग भी स्वयंभू ने वसुदेव-लीला जैसा ही मनोरम बनाया है। कृष्ण को मारने के प्रयत्न में कंस जो युक्तियाँ करता है उनसे पाठक के मन में यदा-कदा भय का संचार होता है, पर कृष्ण कंस की हर युक्ति का विनाश कर देते हैं। इसे देखकर कृष्ण की अजेय शक्ति पर विश्वास होने लगता है। कवि ने कुछ ही पंक्तियों में कृष्ण के जन्म का उद्देश्य बड़े कौशल से व्यक्त कर दिया है। बाल-कृष्ण रुदन कर रहे हैं, माता यशोदा समझती हैं बालक अकारण रो रहा है। उन्हें क्या मालूम कि कृष्ण के ऊपर कितनी जिम्मेदारियाँ हैं, उनके सामने क्या-क्या कार्य हैं। कृष्ण तो उनके लिए रो रहे हैं, माँ समझती हैं कि अकारण रो रहे हैं :

अज्ज वि पूयण काय चिरावइ । अज्ज वि माया-सयणु ण आवइ ।।
अज्ज वि रिट्ठ कंठु ण वलिज्जइ । अज्ज वि गोवद्धणु ण धरिज्जइ ।।
अज्ज वि अज्जुण ज्युयलु ण भज्जइं । अज्ज वि केसि तुरगु ण गज्जइ ।।
अज्ज वि जउणा णहिं मंथिज्जइ । अज्ज वि कालिउ उरग ण छिज्जइ ।।
अज्ज वि कल मलय वीढु ण हम्मइ । अज्ज वि महुरा यम चरिण गंम्मइ ।।
अज्ज वि सद्दु सुणिज्जइ तरहो । अज्ज वि तइय चलणु चाणूर हो ।।
अज्ज वि कंस हो रिधि मयंघहो । अज्ज वि दइपुरि जरसंध हो ।
आयए कंखए वालु ण सोवइ । जाणइं जणणि अकारण रोवइ ।। ५.१

स्वयंभू ने बड़े प्रभावशाली ढंग से कृष्ण की बाल-लीला के प्रसंग का समाहार इन पंक्तियों में किया है

उपर्युक्त दो प्रसंग ऐसे हैं, जो पाठक के मन में आह्लाद उत्पन्न करते हैं। रिट्ठणेमिचरिउ में सैरंध्री रूप में द्रौपदी और अभिमन्यु-वध के दो प्रसंग ऐसे भी हैं जिनका वर्णन पढ़कर पाठक का मन कभी करुणा, कभी व्यथा और कभी विषाद से आक्रांत हो जाता है।

अज्ञात-वास-काल में जब पाण्डवों को विराट राजा के यहाँ सेवक रूप में रहना पड़ता है तब द्रौपदी भी सैरन्ध्री दासी के रूप में रनिवास में रहने लगती हैं। वहाँ विराट के सेनापति कीचक की दृष्टि उन पर पड़ती है और वह उन पर आसक्त हो जाता है। कीचक द्रौपदी से प्रणय की याचना करता है, द्रौपदी उसे फटकारती हैं। इस पर कुपित होकर कीचक सैरन्ध्री बनी हुई द्रौपदी का केश पकड़ कर खींचता है और पाण्डव विवश होकर देखते रहते हैं। स्वयंभू ने इस प्रसंग को शब्दों में मूर्त कर दिया है :

तो तेण विलक्खी हूवएण । अणुलग्गें जिहं जमदूएण ।।
चिहुरेंहिं धरेवि चलणेंहि हय । पेक्खतहं रायहं सुक्क गय ।।
मणि रोसु पवट्टिय बल्लवहो । किर वेह् विट्ठ तरु-पल्लवहो ।।
"मरु मारमि, मच्चु, स-मेहुणउं । पट्ठवमि कयंतहो पाहुणउं ।।
तो तव-सुएण आयड्ढएण । विणिवारिउ चलणं गुट्ठएण ।।
ओसरिउ विओयर सारण्णियउ । पुर-वर-णरिउ आदण्णियउ ।।
"धि धि दड्ढ-सरीरें काइं किउं । कुल-आयहं जायहं मरणथिउ ।।
जहिं पहु दुच्चरिउ समायरइ । तहिं जण-सामण्ण काइं करइ ।। २८.७.

यमदूत की तरह कीचक द्रौपदी का केशपाश पकड़कर खींचता है और उन्हें लात से मारता है। यह देख राजा युधिष्ठिर मूर्च्छित हो जाते हैं, भीम रोष के मारे तरु-पल्लव देखने लगते हैं कि इसे क्या करें। वह सोचते हैं—इसे मारकर कृतान्त का अतिथि बना दूं। पर युधिष्ठिर पैर के अंगूठे से उन्हें मना करते हैं। पुर की स्त्रियाँ व्याकुल होकर बोल उठती हैं—इस दग्ध शरीर को धिक्कार है। इसने यह क्या किया। कुलीन नारियों का तो मरण हो गया। जहाँ राजा ही इतना दुराचार करता हो वहाँ भला सामान्य जन क्या करेंगे।

प्रसंग की मार्मिकता द्रौपदी और पाण्डवों के विवश मौन में निहित है। स्वयंभू ने अपने वर्णन द्वारा उसे कितना मुखर बना दिया है।

अपमानिता द्रौपदी दिन का सारा काम-काज समाप्त करके जब रात में भीम के पास जाती हैं और वह उनके दुःख का कारण पूछते हैं तो उस समय द्रौपदी की अमर्षपूर्ण मनोव्यथा धैर्य का दृढ़ बाँध तोड़कर प्रवाहित हो उठती है। स्वयंभू ने उसका चित्रण यों किया है—

"महु कवणु सुह-च्छइ कवण दिहि। जहिं तुम्ह वि वट्टइ एहविहि ॥
स जो सामि-सालु महि-मंडलहो। थिउ हरिवि लच्छि आहंडलहो ॥
सो विहि परिणामें संचरइ। घरि मच्छहो णिच्च सेव करइ ॥
जो मुट्ठि-पहारें दलइ गिरि। जं खणु वि ण मेल्लइ सुहड-सिरि ॥
जें वगु हिडिंबु किम्मीरु जिउ। सोहुउ विहि-वसिण महाण सिउ ॥

तुम्हारे जैसे शूर वीर और सुधी पतियों के रहते हुए भी मैंने आज तक क्या सुख जाना है? जो पृथ्वी-मंडल का स्वामी हो, वसुधा की लक्ष्मी का हरण कर चुका हो वह विधि-विधान से मत्स्य राज की सेवा करता है। जिसके मुष्टि-प्रहार से पर्वत दलित हो जायें और जो क्षण-मात्र में सुभटों की श्री छीन ले, जिसने हिडिम्ब किम्मीर जैसे वीरों को विजित किया दुर्दैव की विषमता से वह आज मेरा अपमान देखते हुए भी शान्त बना बैठा है।

द्रौपदी आगे कहती जाती हैं :

जो बहु लद्धवरु खंडव-डह-डामर-वीरु। कम्महं विहि-वसिण सो जायहं मलइ-सरीरु ॥
जमला - ऽस-वाल - धणवाल जहिं। सइ लिधि हउं मि सुहु कवणु तहिं ॥
महि मंडलि सयलि गविट्ठाइं। केम वि खल-दइवें दिट्ठाइं ॥
देसें देसन्तरु भमियाइं। वणि बारह वीरसइं गमियाइं ॥
अहियइं मासिहि एयारहिहि। अवरहिं वासर-पण्णारहिंहि ॥
तो वि दुक्खु किले सहो छेउ णवि। वरि मरणु ण जीविए सु-हल कवि ॥

जहाँ कीचक जैसा केश पकड़कर खींचने वाला हो और जहाँ सैरंध्री के रूप में निवास करना पड़ रहा हो वहाँ भला कौन-सा सुख हो सकता है?······देश देशान्तरों का परिभ्रमण करते हुए बारह वर्ष बिता दिये हैं, ग्यारह मास और पन्द्रह दिन और शेष रह गये हैं, फिर भी क्लेश का कोई शमन नहीं हुआ है। यदि यही जीवन है तो इससे तो मृत्यु कहीं भली है।

द्रौपदी के करुणा-विगलित शब्दों को सुनकर भीम को आवेश नहीं होता वरन् वह द्रौपदी को समझाते हैं—

संसार-धम्मु ण णिरिक्खियउ। सुहु केत्तिउ केत्तिउ दुक्खियउ ॥

देइ दुवि वि फलइं पंचालि दुराइय-रुक्ख ॥
जहिं जिय रावणिण किं सीयहिं थोडउ दुक्खु ॥

संसार-धर्म नहीं देखती ? कहीं सुख है तो कहीं दुःख देवि, पूर्व कर्मों का वृक्ष दो फल देता है। रावण द्वारा हरी जाने पर सीता को क्या थोड़ा-सा भी दुःख हुआ था ?

प्रचंड भीम का इस तरह दार्शनिक स्वर में द्रौपदी को उद्बोधन देना प्रसंग की मार्मिकता को और भी बढ़ा देता है।

रिट्ठणेमिचरिउ का एक अन्य मार्मिक प्रसंग अभिमन्यु-वध है। इस प्रसंग में वीर और करुण रसों का अद्भुत मिश्रण है। अभिमन्यु अभी कोमल अवस्था का बालक है लेकिन अपनी वीरता के विदर्शन से वह हमें चकित कर देता है। युद्ध-भूमि में उसकी कराल दृष्टि-भंगी शनिश्चर के समान शत्रुओं को पीड़ा पहुँचाती है :

जउ जउ दिट्ठि देवइ वहु मच्छरु । तउ तउ पीडइं णाइं सणिच्छरु ॥

उसके बाणों का आघात वज्र के समान प्रतीत होता है :

जउ जउ घिवइ घोर वाणासणि । तउ तउ पडइ णाइं वज्जासणि ॥

अभिमन्यु अपने युद्ध-कौशल और पराक्रम-प्रदर्शन से शत्रुओं के छक्के छुड़ा देता है। तब दुःशासन से उसका सामना होता है। दोनों के भिड़ते ही देवता-लोग दुन्दुभी बजाने लगते हैं, दोनों राम-रावण सरीखे धनुर्धर हैं, दोनों ओर से बाणों की वर्षा होने लगी, मानो निरन्तर मेघ की झड़ी हो :

बल संदणु अज्जुण णंदणु आयामिउ दूसासणेण ।
वरवंसहु भड विद्धं धउ विज्झइ रिहु वासणेण ॥
भिडिय वे वि तोत्तहिं रणंगणे । दिण्ण देवि दुंदुहि णहंगणे ॥
राम रावणोपम धणुद्धर । जलहर व्व वरिसिय णिरन्तर ॥ ५६.६

लेकिन अभिमन्यु दुःशासन को धराशायी कर देता है और आगे बढ़ जाता है :

वा वण्णेहि सरेहिं सुवण्णेहि दूसासणे थण वट्टे हउ ।
साडेवि कउरउ पाडेवि पुणु अग्गए अभिमण्णु गउ ॥ ५५.६

शत्रु-सेना को विदारता हुआ अभिमन्यु आगे बढ़ता जाता है और जो शत्रु-सैन्य सामने पड़ता है उसका सफाया करता जाता है :

जं जं ढुक्कइ तं तं मारइ। णाइ कियंतु जे जणु संघारइ ॥
दसहि सरेण सुहद्दाणंदणु । हउ सतरंगु समूउ ससंदणु ॥ ५५. २०

अन्त में द्रोण और कर्ण मिलकर अभिमन्यु पर आक्रमण करते हैं और इस प्रकार क्षत्रिय-धर्म का त्याग कर देवताओं के धिक्कार का पात्र बनते हैं :

हय दोणें मुट्ठि महासरेण । अरु चंपाउर परमेसरेण ॥
रवि तणया परियहि मुएवि खत्तु । जं समरिस वारणु असि विहत्तु ॥
तं देवहिं धिक्कारु दिण्णु । आयहो जेवउ अप्पणउ छिण्णु ॥

आहत होकर अभिमन्यु पृथ्वी पर गिर पड़ता है :

चक्क चंडु थिउ बालहो करयले । अट्ठमि चंद बिन्दु णं णहयले ॥ ५५.२६

टूटे हुए रथ वाला बालक अभिमन्यु हथेली पर मुख रखे हुए पृथ्वी पर इस तरह शोभायमान है जैसे आकाश में अष्टमी का चन्द्रमा हो।

अभिमन्यु के प्राण कंठ-गत हैं, इसलिए वह अन्तिम बार जिनवर की प्रार्थना करता है। विभिन्न धर्मों में ईश्वर के जितने नाम हैं, वह उन सबका स्मरण करता है और इस लोक से प्रयाण करता है :

जो होउ सु होउ थुणन्तु थिउ। एक्कन्तें करेप्पिणु कालु किउ ॥ ५५.१०

हम अभिमन्यु की इस बाल-बुद्धि की उदारता पर चकित रह जाते हैं, वह जितना ही वीर योद्धा है, उसकी धार्मिक प्रवृत्ति भी उतनी ही उदार है।

अभिमन्यु की मृत्यु के उपरान्त इस प्रसंग का करुणा पक्ष आरम्भ होता है जिसके चित्रण में कवि ने रनिवास के दुःख का सजीव वर्णन किया है। सुभद्रा का पुत्र-वियोग में विलाप हृदय-विदारक है :—

पुत्त पुत्त किह बाणेंहिं भिण्णउं। पुत्त पुत्त किह खग्गहिं छिण्णउ ॥
पुत्त पुत्त किहि वइरिहिं दिट्ठउ। पुत्त पुत्त किहं महियलें सुत्तउ ॥
पुत्त पुत्त किहिं डाहुपाइउ। पुत्त पुत्त णारायण आइउ ॥
पुत्त पुत्त जयकारहि माउल। पुत्त पुत्त हो छंडिय राउल ॥
पुत्त पुत्त तुहुँ केत्तहे दीसहिं। पुत्त पुत्त उत्तर मंभीसहि ॥
पुत्त पुत्त जायव दल दुच्छिउ। पुत्त पुत्त तइं को विणपुच्छिउ ॥
देवइ रोहिणि रूप्पणिहिं दोमइ कोंतिहिं णिच्च ण वल्लउ।
बंधव सयणइं हरि हरिवि कवणु वीसु जहिं गउ एकल्लउ ॥ ५८.७

अर्जुन पुत्र-वध का समाचार सुन पहले तो मूर्छित हो जाते हैं, जब मूर्च्छा जाती है तब जयद्रथ के वध की प्रतिज्ञा करते हैं, पर उनका पुत्र-शोक ऐसा दुःसह्य है कि कृष्ण को उन्हें देव-संसार में ले जाकर अभिमन्यु को दिखाना पड़ता है।

इस प्रकार स्वयंभू ने पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ के कथा-प्रवाह में आने वाले मार्मिक प्रसंगों को पहचान कर उनके विस्तृत वर्णन से अपने भावुक कवि-हृदय का परिचय दिया है।

मार्मिक प्रसंगों की भाँति कुछ अन्य प्रकार के वर्णन भी महाकाव्य में आते हैं; जैसे—रूप-वर्णन, प्रकृति-वर्णन, वस्तु-वर्णन, ज्ञान और उपदेश की बातों का वर्णन, मनोदशाओं का वर्णन आदि। मार्मिक प्रसंगों के वर्णन द्वारा कवि मुख्य कथा-धारा को जहाँ कुछ आगे बढ़ाता जाता है वहाँ रूप-वर्णन आदि के द्वारा कथा-प्रवाह में कुछ गति-रोध होता है। किन्तु इन वर्णनों का भी महाकाव्य की सफलता में अनिवार्य स्थान है। निस्सन्देह कुछ वर्णन रूढ़ि पालन मात्र के लिये लाये जाते हैं पर अधिकांश वर्णन ऐसे होते हैं जिनका समावेश घटनाओं की पृष्ठभूमि के निर्माण में, पात्रों की मनोदशाओं के चित्रण में, क्रिया-प्रतिक्रियाओं के निरूपण में या काव्य का वातावरण तैयार करने में जरूरी होता है। इन वर्णनों के कारण कथा का प्रवाह थोड़ी देर के लिए अवरुद्ध भले ही प्रतीत हो किन्तु उनका अभाव कथा-वस्तु को निर्जीव बना सकता है।

स्वयंभू के दोनों महाकाव्यों में उपर्युक्त सभी प्रकार के वर्णन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। एक-एक करके हम उनका रसास्वादन करेंगे।

रूप-वर्णन—से तात्पर्य मानवीय रूप एवं सौन्दर्य-चित्रण से है। सामान्यतः रूप-चित्रण में कवियों का ध्यान नारी-सौन्दर्य-वर्णन पर ही अधिक जाता है। स्वयंभू इस नियम के अपवाद नहीं हैं। नारी-सौन्दर्य पुरुष के हृदय में प्रेमोद्रेक का कारण बनता है जिससे अनेक घटनायें और कार्य-व्यापार प्रसूत होते हैं। नारी का रूप और सौन्दर्य से इतना घनिष्ट सम्बन्ध माना जाता है कि कवि को जहाँ उसका विशद वर्णन अभिप्रेत नहीं होता वहाँ भी वह एक-दो सौन्दर्य-बोधक विशेषणों का प्रयोग किये बिना किसी नारी पात्र का उल्लेख नहीं करता। ऋषभ की माता मरुदेवी की सेवा के लिये आई हुई देवांगनाओं का रूप-वर्णन स्वयंभू को अभिप्रेत नहीं है, पर फिर भी इतना कहने से वह अपने को रोक नहीं सके कि वे चन्द्रमुखी और नील-कमल की आँखों वाली थीं :

तो एत्थन्तरे माणव-वेसे। आइउ देविउ इन्दाएसें ॥
ससि-वयणिउ कन्दोट्ट-दलच्छिउ। कित्ति-बुद्धि-सिरि-हिरि दिहि-लच्छिउ ॥ १.१४

ऋषभ जिन को लोकासक्ति से हटाकर वैराग्य में लगाने के लिये इन्द्रराज उनके पास नीलांजना अप्सरा को भेजते हैं। यहाँ भी कवि नीलांजना के रूप का वर्णन नहीं करना चाहता, इतने पर भी वह नीलांजना को पूनो के चाँद सी मुखवाली और पुण्य-आयुष्मती तो कह ही देता है :

एम वियप्पेवि छण-चन्दाणण। पुण्णाउस कोक्किय णीलंजण ॥ १.९

कौतुक मंगल नगर के राजा शुभमति की रानी पृथुश्री से दो कन्यायें उत्पन्न हुईं, जिनमें एक कैकेयी है। कवि को पृथुश्री का विस्तृत रूप-वर्णन अभीष्ट नहीं है, तब भी उसके किसी-न-किसी अंग का सौन्दर्य तो बताना ही है :

पिहुसिरि तहो महएवि मणोहर। सुरकरि-कर कुम्भयल-पओहर ॥ २१.२

—पृथुश्री के पयोधर ऐरावत हाथी के कुम्भस्थल के समान थे।

कैकयी के रूप का विस्तृत वर्णन कवि ने कहीं नहीं किया है, पर दशरथ को जयमाला डालने के लिए जाती हुई कैकेयी की गति के विषय में बताते हुए वह इतना जरूर कह देता है कि वह रति के समान है :

घित्त माल दसणन्दण-णामहों। मणहर-गइए रइए णं काम हो ॥

तात्पर्य यह है कि नारी और सौन्दर्य का इतना अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध है कि कवि एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं कर सकता। अधिक नहीं तो अल्प ही सही, नारी-वर्णन में वह उसके सौन्दर्य का कुछ-न-कुछ वर्णन अवश्य करेगा। इससे प्रत्येक नारी-पात्र के विशिष्ट सौन्दर्य का चित्रांकन हो जाता हो, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि वे ही उपमान विभिन्न पात्रों के लिये प्रयुक्त होते हैं और वे प्रायः परम्परा-भुक्त ही होते हैं। यह तो स्वयंभू की एक नीति है कि किसी भी नारी-पात्र का वर्णन वह बिना उसके आंशिक या पूर्ण रूप-वर्णन के नहीं करते। विशिष्ट रूप-वर्णन के द्वारा नारी पात्रों के व्यक्तित्व को विशिष्टता प्रदान करना स्वयंभू का लक्ष्य नहीं प्रतीत होता। उनकी लगभग हर नारी चन्द्रमुखी और पीन-पयोधरों वाली है। यहाँ तक कि तीन सौ कन्याओं का वर्णन उन्होंने एक साथ उन्हीं उपमानों के द्वारा किया है। वज्रकर्ण और सिंहोदर की मैत्री हो जाने पर वे दोनों मिलकर लक्ष्मण को तीन सौ कन्याएँ पाणिग्रहण के लिए देते हैं। इन सभी कन्याओं के नेत्र नव कमल दल की तरह विशाल हैं, मुख चन्द्रमा के समान हैं, चाल मत्त गज की भाँति है और इनके ऊँचे-ऊँचे भाल पर तिलक की शोभा

है, वे प्रचुर भाग्य और भोग के गुणों की निधि हैं, विलास और भावों से पूर्ण उनके शरीर का मध्य-भाग क्षीण है और उनके स्तन गम्भीर हैं।[1]

स्त्री-रूप का ऐसा सामूहिक वर्णन करने वाला कवि भला विशिष्ट-रूप-निरूपण की बात कैसे सोच सकता है ?

स्त्री के अंगों का फुटकर वर्णन करने के अतिरिक्त स्वयंभू ने नख-शिख वर्णन भी किया है। रूप-सौन्दर्य के चित्रण में नख-शिख-वर्णन की परिपाटी भारतीय साहित्य में बहुत पहले से चली आ रही थी। स्वयंभू ने उसे अपने पूर्ववर्ती संस्कृत और प्राकृत कवियों से प्राप्त किया। नख-शिख वर्णन एक प्रकार से रूढ़िबद्ध सौन्दर्य-वर्णन है जिसमें शरीर के अंग-प्रत्यंग का क्रमिक-वर्णन परंपराभुक्त सादृश्य मूलक अप्रस्तुतों के माध्यम से किया जाता है। नख-शिख-वर्णन में कवि या तो नख से आरम्भ कर शिख तक आते हैं या शिख से आरम्भ कर नख तक उतर आते हैं। स्वयंभू में इन दोनों क्रमों के उदाहरण मिलते हैं। मन्दोदरी का नख-शिख वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है :

दीसन्ति चलण-णेउर रसन्त । णं महुर-राव बन्दिण पढन्त ॥
दीसइ णियम्बु मेहल-समग्गु । णं कामएव-अत्थाण-मग्गु ॥
दीसइ रोमावलि छुडु चडन्ति । णं कसल-वाल-सप्पिणि ललन्ति ॥
दीसन्ति सिहिण उवसोह देन्त । णं उरयलु भिन्देवि हत्थि-दन्त ॥
दीसइ पप्फुल्लिय-वयण-कमलु । णीसासामोयासत्त-भसलु ॥
दीसइ सुणासु अणुहुअ-सुअन्धु । णं णयण- जलहों किउ सेउ-बन्धु ॥ १०.३
दीसइ णिडालु सिर-चिहुर-छण्णु । ससि-बिम्बु व णव-जलहर- विमण्णु ॥१०.३.

रावण को मन्दोदरी के अंग-प्रत्यंग कैसे प्रतीत हो रहे हैं, इस बहाने मन्दोदरी के नूपुर-अलंकृत चरणों से आरम्भ कर उसके नितम्बों, रोमराजि, स्तनों, मुख, नाक, ललाट आदि अंगों का वर्णन कवि करता है। स्पष्ट है कि इन अंगों के वर्णन में कवि ने कुछ अलंकारों के सहारे रूढ़ि-बद्ध उपमानों का प्रयोग किया है। नख-शिख वर्णन में प्रायः यही शैली सर्वत्र मिलती है। और स्वयंभू ने भी अधिकांश में इसी शैली का उपयोग किया है।

मन्दोदरी के नख-शिख-वर्णन से सीता का नख-शिख-वर्णन अधिक पूर्णता लिये हुए है। यहाँ भी सीता के अंगों को देखने वाला रावण ही है। मन्दोदरी के रूप-लावण्य को देखकर रावण उस पर आसक्त होता है तो उसको वरण कर अपनी रानी बनाता है। सीता के रूप-सौन्दर्य को वह चोर और लम्पट की भाँति देखता है और अपने विनाश को आमंत्रण देता है। पर यहाँ तो प्रश्न सीता के रूप-वर्णन का है :

सुकइ-कह व्व सु-सन्धि-सु-सन्धिय । सु-पय सु-वयण सु-सद्द सु-वद्धिय ॥
थिर-कलहंस-गमण गइ-मंथर । किस मज्झारे णियम्बे सु-वित्थर ॥
रोमावलि मयरहरुत्तिण्णी । णं पिम्पिलि-रिंछोलि विलिण्णी ॥
अहिणव-हुंड,पिंड-पीण-त्थण । णं मयगल उर-खंभ-णिसुंभण ॥
रेहइ वयण-कमलु अकलंकउ । णं माणस-सरें वियसिउ पंकउ ॥

१—णव कुवलय-दल-दीहर-णयणहुँ । मयगल-गइ-गमणहुँ ससि-वयणहुँ ॥
उज्ज-णिलाडालंकिय-तिलयहुँ । बहु-सोहग्ग-भोग्ग-गुण-णिलयहुँ ॥
विब्भम-भाउब्भिण्ण-सरीरहुँ । तणु-मज्झहुँ थण-हर-गम्भीरहुँ ॥

सु-ललिय-लोयण ललिय-पसण्णइं । णं वरकइत्त । मिलिय वर-वण्णइं ॥
थोलइ मुट्ठिहिं वेणि महाइणि । चंदन-लयहिं लग्ग णं णाइणि ॥ ३८.३

सीता की गति को कलहंस की गति से उपमित करना या उन्हें मन्थरगतिगामिनी बताना परम्परा-मुक्त वर्णन है। इसी तरह मध्य भाग को कृश, नितम्बों को विस्तृत, रोमराजि को पिपीलिका-पंक्ति, मुख को कमल, पीठ पर पड़ी चोटी को काली नागिन बताना भी परम्परा-मुक्त ही है। पर इतना कहने के बाद यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि सीता के नख-शिख-वर्णन में स्वयंभू ने कुछ अपनी ओर से भी जोड़ा है, कुछ उनकी भी उद्भावनाएँ हैं। सीता के सुगठित शरीर की उपमा कवि सुकवि के सुगठित काव्य से देता है, उनके अंगों के जोड़ काव्य की सु-नियोजित संधियों के जोड़ तुल्य हैं। जिस प्रकार सुन्दर काव्य सुविचारित पदों, शब्दों और वर्णों आदि से सुबद्ध होता है उसी तरह सीता का शरीर सुन्दर पदों, मुख और स्वर से सुनिर्मित है। सीता के पीन-स्तनों के वर्णन में कवि ने अतिशयोक्ति दिखाई है, अलंकार के चक्कर में पड़कर उसने उन्हें हाथी से उपमित कर दिया है। मन्दोदरी के स्तन उर को भेद देने वाले हस्ति-दन्त हैं तो सीता के अभिनव मुख-विहीन स्तन उर रूपी स्तम्भ को नष्ट करने वाले स्वयं हाथी हैं। इस उपमा से स्तनों की पीनता का अनुमान भले ही लगाया जा सके, पर सौन्दर्य-बोध तो नहीं ही हो पाता है। इसी तरह ललित प्रसन्न नेत्रों के विषय में कवि ऐसी उत्प्रेक्षा करता है जिसके भाव-बोध और सौन्दर्य-बोध दोनों में कठिनाई है। इस तरह के वर्णनों पर कुछ अधिक विस्तार से विचार अलंकारों के संदर्भ में आगे किया जायगा।

विशल्या के नख-शिख-वर्णन में स्वयंभू ने अपह्नुति अलंकार का सहारा लिया है। उसके अंग-प्रत्यंग को देखकर लक्ष्मण के मन में भ्रान्ति हो जाती है :

किं चलण-तलग्गइ कोमलाइं । णं णं अहिणव-रत्तुप्पलाइं ॥
किं ऊरु परोप्परु भिण्ण-तेय । णं णं णव-रम्भा-खम्भ एय ॥
किं कणय-दोरु घोलइ विसालु । णं णं अहि रयण-णिहाण-पालु ॥
किं तिवलिउ अहरे पचावियाउ । णं णं कामउ रिहें खाइयाउ ॥
किं रोमावलि घण कसण एहु । णं णं मयणाणल-धूम-लेहु ॥
किं णव-थण णं णं कणय-कलस । किं कर णं णं पारोह-सरिस ॥
किं आयम्बिर कर-यल चलन्ति । णं णं असोय-पल्लव ललन्ति ॥
किं आणणु णं णं चन्द-विम्बु । किं अहरउ णं णं पक्क विम्बु ॥
किं दसणावलिउ स-मुत्तियाउ । णं णं मल्लिय-कलियउ इमाउ ॥
किं गण्डवास णं दन्ति-दाण । किं लोयण णं णं काम-बाण ॥
किं भउहं इमाउ परिट्ठियाउ । णं णं वम्मह-धणु लट्ठिमाउ ॥
किं कण्ण कुण्डलाहरण एय । णं णं रवि-ससि विप्फुरिय-तेय ॥
किं भालउ णं णं ससहरद्धु । किं सिरु णं णं अलि-उल-णिबद्धु ॥ ६९.२१

इस वर्णन में सभी उपमान परम्परागत होते हुए भी वर्णन-शैली ऐसी है कि सौन्दर्यानुभूति होती है।

ऊपर के तीनों वर्णनों में स्वयंभू नख से प्रारम्भ कर सिर की ओर चलते हैं। रावण के अन्तःपुर के नख-शिख-वर्णन में वह ऊपर के अंगों से प्रारम्भ करते हैं और क्रमशः नीचे उतरते जाते हैं।[1] उपमान परम्परा-प्राप्त हैं।

1—संधि ४९.११।

स्वयंभू का एक नख-शिख-वर्णन ऐसा भी है जो एक साथ ही लक्ष्मण और कल्याणमाला दोनों के रूप का चित्रण करता है। पुरुष का नख-शिख-वर्णन कदाचित् काव्य-शास्त्र द्वारा विहित न हो पर लक्ष्मण और पुरुष वेश में उनके समीप बैठी हुई कल्याणमाला के अंगों के तुलनात्मक द्वारा वर्णन स्वयंभू उन दोनों के अन्तर का उद्घाटन करना चाहते हैं :

बे वि वइट्ठ वीर एक्कासणे । चन्दाइच्च जेम गयणंगणे ॥
एक्कु पचण्डु तिखण्ड-पहाणउ । अण्णेक्कु वि कुब्बर-पुर-राणउ ॥

एक्कहों चलण-जुअलु कुम्मुण्णउ । अण्णेक्कहों रत्तुप्पल वण्णउ ॥
एक्कहों ऊरु-जुअलु सुवित्थरु । अण्णेक्कहों सुकुमारु सु मच्छरु ॥
पंचाणण-कडि-मण्डलु एक्कहों । णारि-णियम्ब-बिम्बु अण्णेक्कहों ॥
एक्कहों सुललिउ सुन्दरु अंगउ । अण्णेक्कहों तणु-तिवलि तरंगउ ॥
एक्कहों सोहइ वियडु उरत्थलु । अण्णेक्कहों ओव्वणु थण चक्कलु ॥
एक्कहों बाहुउ दीह विसालउ । अण्णेक्कहों णं मालइ-मालउ ॥
वयण-कमलु पप्फुल्लिउ एक्कहों । पुण्णिम-चंद-रुन्दु अण्णेक्कहों ॥
एक्कहों गो-कमलहं वित्थरियइं । अण्णेकहों बहु-विब्भम-भरियइं ॥
एक्कहों सिरु वर-कुसुमेंहि वासिउ । अण्णेक्कहों वर-मउड-विहूसिय ॥ २६·१०.

नख-शिख-वर्णन की परिपाटी का आरोपण किये बिना भी यदि हम स्वयंभू के इस वर्णन में निरूपित स्त्री-पुरुष के अंगों के अंतर पर ध्यान दें तो मनना पड़ेगा कि कवि ने बड़े प्रभाव के साथ इस अंतर को स्पष्ट किया है। हर अंग का अंतर उपयुक्त उपमानों की सहायता से उभर कर जैसे मुखर हो उठा है।

काव्य-शास्त्र के ग्रंथों में नख-शिख-वर्णन के प्रसंग में स्त्री के जितने अंगों का चित्रण निर्दिष्ट किया गया है उनकी सूची बहुत लम्बी है, यथा-केश, माँग, ललाट, भौंह, नयन, बरुनी, नाक, अधर, दाँत, जिह्वा, कपोल, तिल, कान, गरदन, बाँह, हथेली, स्तन, पेट, रोमावली, त्रिवली, पीठ, कमर, नाभि, नितम्ब, गति जंघा, पाँव, उँगलियाँ। स्वयंभू के किसी नख-शिख-वर्णन में इन सभी के समावेश का आग्रह नहीं है। उन्होंने प्रमुख अंगों को ही लिया है और उस चित्रण में उपयुक्त उपमान जुटाए हैं। सीता का एक नख-शिख-वर्णन ऐसा भी है जिसमें गिनाए गये अंगों की सूची ऊपर की सूची से कहीं बड़ी है, पर वह नख-शिख-वर्णन है भी अभिनव प्रकार का। उसमें सीता जी के विविध अंगों के सौन्दर्य-निरूपण के लिए अप्रस्तुत-विधान प्रकृति के उपकरणों से नहीं किया गया है, वरन् प्रत्येक अंग देश-विशेष की स्त्रियों के अंग से उपमित किया गया है। स्तन का अग्रभाग माकन्दिकाओं के उत्कृष्ट स्तनाग्र से, मंडन श्री पर्वत की कन्याओं के मंडन से, ऊरु नेपाली महिलाओं के ऊरु-युगल से,.........कपोल काशी देश की आदरणीय स्त्रियों के कपोलों से निर्मित हैं, आदि।[1] कहना कठिन है कि परम्परागत नख-शिख-वर्णनों की कोटि में स्वयंभू का यह वर्णन स्थान पाएगा या इसकी एक अलग कोटि बनानी पड़ेगी। यह वर्णन कवि की विस्तृत जानकारी का सूचक कहा जा सकता है।

रूप-वर्णन में कवि सम्यक् नख-शिख-वर्णन का उपक्रम करते हैं, पर स्त्री के ऐसे भी अंग हैं जिनके वर्णन में उन्हें विशेष रस मिलता है और अवसर मिलते ही कवि उन अंगों का

१—संधि ४९·८।

वर्णन करते वे नहीं चूकते । स्त्री-अंगों में पीन-पयोधरों के प्रति स्वयंभू सर्वाधिक आकृष्ट हैं । उनका शायद ही कोई स्त्री-पात्र हो जिसे उन्होंने पीन-पयोधर वाली न कहा हो । कोई बेल फल के समान स्तनों वाली है तो कोई कुंभस्थल के समान, किसी-किसी के स्तन तो स्वयं हाथी के समान हैं :

(क) ऋषभ-पुत्र भरत की साठ हजार स्त्रियाँ—मालूर-पवर-पीवर-थणाइं ।
—प०च० ३. ११.

(ख) अजित जिनकी माता विजया—परिणिय बिल्ल-मालूर-पओहर ।। ५. १.

(ग) सहस्रार की पत्नी मानसुन्दरी—पिहुल-णियम्बिणि पीण-पओहर । ८. १.

(घ) हनुमान की माता अंजना—सुर-करिवर-कुंभत्थल-थणहे । १९. ११.

(ङ) इन्द्राणी—पीण-पओहरए तणि-सोमए । २. २.

(च) कैकेयी की माता पृथ्वी—सुरकरि-कर कुंभयल पओहर । २१. २.

(छ) वनमाला—हे मालूर-पवर-पीवर थणे । ३१. १.

(ज) कमलोत्सवा—पेक्खेवि थण वट्टइं चक्कलइं । ३३. ११.

(झ) सीता—वं पेल्लावइ-थण-सायमेंहि ।। ३८. ४.

(ञ) सीता की रक्षिकाएँ—उण्णय पीण पओहरिहिं । ४९. १२.

(ट) रुक्मिणी—उण्णय घण पीण-पउहरिहिं । रि०च० १०. ६.

(ठ) कंचनमाला—परमेसरि पीण पओहरिहि । रि०च० ११. २.

स्तनों की भाँति नितम्बों का वर्णन भी स्वयंभू को बहुत प्रिय है :—

(क) मानसुन्दरी : पिहुल णियम्बिणि पीण-पओहर । प०च० ८. १.

(ख) मन्दोदरी : दीसइ णियम्बु मेहल-समग्गु । १०. ३.

(ग) ग्वालिन : कत्थइ णारि-णियम्बें सुहासिउ । २४. १३.

(घ) सुप्रभा : कहें काइं णियंविणि मणे विसण्ण । २२. १.

(ङ) सीता : पिहुल-णियम्ब-बिम्ब-रमणीयहें । ३२. ७.

इन दो अंगों के अतिरिक्त कवि की दृष्टि मुख, नेत्र और अधरों पर भी बार-बार गई है । उनके वर्णन में परम्परा-मुक्त उपमानों का ही प्रयोग हुआ है ।

प्रकृति-वर्णन—महाकाव्य में प्रकृति के चित्रण के लिए जितना अवकाश रहता है उतना अन्य प्रकार की काव्य-कृतियों में नहीं मिलता । कारण यह है कि महाकाव्य में घटनाओं की विविधता के साथ ही परिसर का विस्तार भी बहुत होता है । महाकाव्य में प्राकृतिक दृश्यों और वस्तुओं का वर्णन प्रायः इन रूपों में किया जाता है—आलम्बन रूप में, उद्दीपन रूप में, अलंकार रूप में, वस्तु-गणना के रूप में और प्रतीक या संकेत के रूप में ।

प्रकृति का आलम्बन रूप में ग्रहण करके उसका इस प्रकार का सजीव संश्लिष्ट चित्रण करना कि वह हमारे हृदयस्थ भावों को उद्बुद्ध कर सके और अपने साथ हमें रागात्मक सम्बन्ध में बाँध सके, हर कवि का काम नहीं । ऐसा वर्णन वही कवि कर सकता है जो प्रकृति का प्रेमी हो, उसके विविध रूपों के निरीक्षण में रस का अनुभव करने की योग्यता रखता हो और प्रकृति की क्षण-क्षण पर बदलने वाली छवि को परखने की दृष्टि से सम्पन्न हो । संस्कृत साहित्य में भी प्रकृति का आलम्बन रूप में वर्णन बहुत अधिक नहीं है । वाल्मीकि रामायण तथा अश्व घोष और कालिदास की कृतियों में ऐसे उदाहरण अवश्य खोजे जा सकते हैं जहाँ कवियों ने

प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार करते हुए उसका मनोरम, मन-विमुग्ध कर देने वाला चित्रण किया है। पर पीछे स्वतंत्र वर्णनों का उत्तरोत्तर अभाव होता गया और प्रकृति-वर्णन को उद्दीपनों की परिधि में लाने का प्रयत्न चलता रहा। उत्तरकालीन संस्कृत काव्य में प्रकृति का अधिकतर वर्णन उसे अचेतन मान कर आलंकारिक योजना के अंग के रूप में या पूर्वस्थित भाव की उद्दीप्ति के सहायक के रूप में हुआ। प्राकृत और अपभ्रंश के कवियों को प्रकृति का यही रूप उत्तराधिकार में मिला।

प्रकृति-वर्णन के जिन अनेक प्रचलित रूपों की चर्चा ऊपर हुई है उनमें वस्तु-गणना और अलंकार-रूप में प्रकृति-वर्णन के उदाहरण स्वयंभू में पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। प्रतीक या संकेत रूप में प्रकृति-वर्णन स्वयंभू में नहीं के बराबर है। यह रूप रहस्यवादी और सूफी कवियों द्वारा बाद में खूब अपनाया गया जो प्रकृति के अंगों का वर्णन न केवल प्रकृति-वर्णन के लिए करते थे वरन् उनके द्वारा प्रायः अलौकिक सत्ता का भी संकेत कराते थे।

स्वयंभू का शेष प्रकृति-चित्रण—जो वस्तु-गणना और अलंकार रूप में नहीं आता—कहाँ रखा जा सकता है? यह तो स्पष्ट ही है कि स्वयंभू ने अधिकांश में प्रकृति को आलम्बन रूप में ग्रहण करके उसका वर्णन नहीं किया है, किन्तु शास्त्रीय परिभाषा को देखते हुए उनका सारा प्रकृति-वर्णन उद्दीपन के अन्तर्गत भी नहीं आता। उसका रूप स्थिर करने के पहले हमें स्वयंभू का वस्तु-गणना सम्बन्धी तथा अलंकार रूप में किया गया प्रकृति-वर्णन देख लेना चाहिए

वस्तु-गणना के रूप में—स्वयंभू में, अपने समय से प्रभावित होने के कारण, वस्तु-गणना की प्रवृत्ति बहुत अधिक है। उस समय संश्लिष्ट चित्रण के स्थान पर वृक्षों, पक्षियों, फलों आदि की सूची गिनाना वर्णन-रूढ़ि बन गई थी। ऋषभ जिन शकट मुख नाम के उद्यान में आकर ठहरते हैं। स्वयंभू उस उद्यान का वर्णन इस प्रकार करते हैं :

> रम्मं महा जं च पुण्णाय-णाएहिं। कुसुमिय-लया-वेल्लि-पल्लय-णिहाएहिं॥
> कप्पूर-कंकोल-एला-लवंगेहिं। महु-माहवी-माहुलिंगी-विडंगेहिं॥
> मरिअल्ल-जीरुल्ल-कुंकुम-कुडंगेहिं। वन-तिलय-बउलेहिं-चम्पय-पियंगेहिं॥
> णारंग-णग्गोह-आसत्थ-रुक्खेहिं। कंकेल्लि पउमक्ख-रुद्दक्ख-दक्खेहिं॥
> खंजूरि-जंबिरि-घण-फणिसि-लिम्बेहिं। हरियाल-कप्पूरहिं-बहु-पुत्त-जीवेहिं॥
> सत्तच्छाया ऽ गत्थि-दहिवण्ण-णन्दीहिं। मन्दार-कुन्दिन्दु-सिन्दूर-सिंदीहिं॥
> वर-पाडली-पोप्फली-णालिकेरीहिं। करमन्दि-कंथारि-कइयर-करीरेहिं॥
> कणियारि-कणवीर-मालूर-तरलेहिं। सिरिखंड-सिरिसामली-चार-सरलेहिं॥
> हिन्ताल-तालेहिं ताली-तमालेहिं। जम्बू-वरम्बेहिं कंचण-कयंबेहिं॥
> धुव-देवदारुहिं रिट्ठेहिं चारेहिं। कोसंप-सज्जेहिं कोरंट-कोज्जेहिं॥
> अच्चइय-जूहीहिं वासवण-मल्लीहिं। केम इयं जाएहिं अवरहि मिवाहिंहि॥ ३·१२.

वृक्षों की सूची गिनाते हुए कवि कहता है कि इनसे वह उपवन महा रमणीय था। इसी प्रकार की सूची रावण के नन्दन वन के वर्णन में भी गिनाई गई है, जहाँ सीता को रावण रखता है :

> जं सुरवर तरहिं संछण्णउ। अहिणव-कंकेल्लीहिं रवण्णउ॥
> लवलीलय-लवंग-णारंगेहिं। चंपय-बउल-तिलय-पुण्णागेहिं॥

सरल-तमाल-ताल-तालूरेंहि । मालइ-माहुलिंग-मालूरेंहि ॥
धुम-पउमक्ख-दक्ख-खंजूरेंहि । कुंकुम-देवदारु-कप्पूरेंहि ॥
वर-करमर-करीर-करवन्देंहि । एला-कक्कोलेंहि सुगन्धेंहि ॥
चंदण-वन्दणहिं , साहारेंहि । एव तरुहिं अणेय-पयारेंहि ॥ ७८. ७.

नन्दन-वन में कुछ वृक्ष भिन्न प्रकार के हो सकते हैं, पर वर्णन-शैली वही है। वृक्षों की परिगणना करते-करते कवि थक भी जाता है और उसे यह कह कर संतोष करना पड़ता है कि इसी प्रकार के अनेक वृक्षों से वह सुशोभित था।

थोड़ा और आगे बढ़ने पर स्वयंभू को वृक्ष-नाम-परिगणना का पुनः उत्साह होता है और वह उस उपवन के वृक्षों का नाम-कथन करने लगते हैं जिसे हनुमान नष्ट-भ्रष्ट करने का मन में संकल्प कर रहे हैं। यह सूची नन्दन वन से अधिक लम्बी है। यहाँ भी कवि अन्त में थकान अनुभव करने लगता है और कहता है कि और भी बहुत से वृक्ष थे जिन्हें कौन समझ कर गिना सकता है।[1]

प्राकृतिक वर्णन में नाम-परिगणना की जो प्रवृत्ति दिखाई देती है वही प्रवृत्ति कवि ने भोजन के पदार्थों को गिनाने में अनेक स्थलों पर प्रदर्शित की है।[2] वस्तुतः यह स्वयंभू की व्यक्तिगत प्रवृत्ति की बात नहीं है, यह तो महाकाव्य के लिए निर्दिष्ट वर्ण्य-विषयों की रूढ़ि की बात बन रही थी।

(ख) अलंकार रूप में—प्रस्तुत के वर्णन में स्वयंभू ने जिन अप्रस्तुतों का सहारा लिया है उनमें प्राकृतिक उपादानों की मात्रा बहुत अधिक है। प्रकृति विभिन्न उपादानों के रूप-सौन्दर्य से मनुष्य इतना परिचित है कि कवि के लिए यह बहुत स्वाभाविक है कि वह अपने वर्ण्य विषय के रूप-गुण तथा कार्यकलाप के चित्रण को अधिक तीव्र और बोधगम्य बनाने के लिए इन प्राकृतिक उपादानों के विस्तृत क्षेत्र से उपमानों का चयन करे। मुख, अलक, नयन, नाक, दाँत, अधर, स्तन, कंधा, कमर, जंघा, चरण, वाणी आदि का वर्णन करते समय, अन्य कवियों की भाँति स्वयंभू ने भी स्वभावतः उन्हें चन्द्रमा, कमल, सूर्य, भ्रमर, नाग, मृग, मीन, कमल, खंजन, भ्रमर, कीर, मोती, मूँगा, कुंदकली, तारा, विद्युत, बिम्बाफल, पल्लव, बेल, कुंभस्थल, वृषभ, सिंह, कमल, काकली, हंस-ध्वनि आदि से उपमित किया है। 'पउमचरिउ' और 'रिट्ठणेमि-चरिउ' से कुछ उदाहरण दिये जाते हैं।

(क) बाल-कमल-दल-कोमल बाहउ। प० च० २.३
(ख) ससि-वयणिउ कन्दोट्ट-दलच्छिउ। १.१४
(ग) बोहन्तु भव्व-जण-कमल-सण्डु। १.१६
(घ) तं णिसुणेंवि अरि-गिरि-सोदामिणि। २०.१
(ङ) इह सिद्ध सिद्धि-मुंह-कमल अलि। १५.६
(च) एय चयारि पुत्त तहो रायहो। णाइ महा-समुद्द महि-भायहो॥ २१.५
(छ) णिवडिय केलि व खर-पवणाहय। २६.२०
(ज) परमेसर केसरि-विक्कमेंहि। उज्जाण लहउ जइ-पुंगवेंहि॥ ३३.३
(झ) पप्फुल्लिय-कुवलय-दल-णयणु। ६२.४

१—एवमाइत्ति अण्णे वि जे पायवा केण ते बुज्झिया। ५१·२
२—यथा, संधि ५०.११, ७३.५।

(ञ) सुन्दरि चिर-भवणें मराल-गइ । ६२.५

(ट) तेण वि गलगज्जिउ णिय-भवणे । णावइ घण जलहरेण गयणे ।। ६२.११.

इस तरह के सैकड़ों उदाहरण और हो सकते हैं जहाँ कवि ने किसी अंग-विशेष, कार्य-विशेष या घटना-विशेष को प्रभाव-समन्वित बनाने के लिए प्रकृति के उपमानों से सहायता ली है। नीचे दो-चार उदाहरण इस तरह के दिये जा रहे हैं जहाँ परिचित प्राकृतिक कार्य-व्यापारों के सादृश्य से प्रस्तुत-वर्णन में विशेषमता पैदा की गई है:—

(क) अंधक द्वारा आहत विजयसिंह का सिर जमीन पर यों पड़ा है मानों हंस ने कमल तोड़कर धरती पर डाल दिया हो :

महि मंडले सीसु दीसइ असिवर-खंडियउ ।
णावइ सयवत्तु तोडेवि हंस छण्डियउ ।। ७.५ ।। प०च० ।।

(ख) इन्द्र द्वारा घायल बनाया गया रक्त-रंजित मालि इस तरह दीख रहा है मानो सिन्दूर से शोभित उन्मत्त गज ही हो ।

सहसा रुहिरारुण्णिउ दीसिउ । णं मय गलु सिन्दूर-विहूसिउ । ८.६

(ग) विद्या और कैकसी के बीच रत्नश्रवा इस तरह शोभा दे रहा था मानो नर्मदा और ताप्ती के बीच विन्ध्याचल ही खड़ा हो ;

थिउ विहि मि मज्झें परमेसरिहिं णं विज्झु तावि-णम्मय-सरिहि ।। ६.१

(घ) वरुण-कुमारों के साथ रावण ऐसे क्रीड़ा कर रहा था मानों बैल जल-धाराओं के साथ खेल रहा हो :

खेडिय अण्डुह व्व जलधारहिं । ताम दसाणणु वरुण-कुमारेंहि ।। २०.७.

(ङ) कंस को मारने के लिए उद्यत कृष्ण इस तरह अग्रसर हुए मानों मेघ में विद्युत प्रकाश हुआ हो :

णंद रिसिउ काले कालपासु ।
णं जलहरे विज्जुल विलासु ।। ६.१३ रि०च० ।।

(च) कृष्ण के खड्ग से आहत कंस का शरीर ऐसा दिखाई दे रहा है मानो विषधर से आवेष्ठित मंदराचल हो :

णारायण आहउ असिवरेण ।
णं मंदरु वेढिउ विसहरेण ।। ६.१३

उद्दीपन रूप में—प्रकृति-वर्णन में प्राकृतिक पदार्थों के नामों की लम्बी सूची के देने से कवि की बहुज्ञता भले ही प्रकट हो, परन्तु इसे हम कवि-कर्म की सफलता नहीं कह सकते क्योंकि वृक्षों आदि की लम्बी सूचियों से पाठक के हृदय में आनन्द की कोई उमंग नहीं उठती । इसी तरह अलंकार रूप में किया गया प्रकृति-चित्रण अप्रस्तुत-विधान के रूप में होने के कारण गौण बन जाता है । वह स्वयं वर्ण्य-विषय न होकर सहायक-मात्र होता है । इसलिए पाठक की दृष्टि उस पर केन्द्रित नहीं होती । उद्दीपन रूप में किया गया प्रकृति-चित्रण प्रत्यक्षतः स्वतन्त्र होता है, यद्यपि उसका वास्तविक उद्देश्य आश्रय के मन में पूर्व-स्थित भावों को उद्दीप्त करना होता है । प्रकृति का ऐसा चित्रण एक प्रकार से मानवीय

मनोदशाओं या घटनाओं से प्रसूत होता है, पर फिर भी यदि कवि उसकी सहज स्वतन्त्रता की रक्षा कर सके तो ऐसा वर्णन उत्कृष्ट कोटि कहा जा सकता है।

भावों के उद्दीपन के अतिरिक्त प्रकृति-वर्णन भावी घटनाओं की पृष्ठभूमि के रूप में भी मिलता है। उद्दीपन में तो यह होता है कि प्राकृतिक दृश्य आश्रय के हृदय में आलम्बन के सहारे उद्बुद्ध भाव को उद्दीप्त कर उत्कर्ष की ओर बढ़ा देता है और पृष्ठभूमि के रूप में किया गया प्रकृति-वर्णन आने वाली घटना या कार्य-कलाप का संकेत कर हमें उसके लिए तत्पर बना देता है। एक तीसरे प्रकार का भी प्रकृति वर्णन मिलता है जहाँ कवि प्रकृति को या उसके किसी अंग विशेष को कभी एक वस्तु से कभी दूसरी वस्तु से उपमित करता हुआ अलंकार की छटा दिखाता है या रूपकों की पंक्ति खड़ी कर देता है। स्वयंभू में इस तीसरे प्रकार के प्रकृति-वर्णनों का आधिक्य है। पहले इसी के उदाहरण दिये जाते हैं।

वसन्त ऋतु का वर्णन स्वयंभू ने कई बार किया है। इनमें कम से कम दो बार बसंत राजा के रूप में चित्रित है। पहले हेमन्त[1] का प्रभाव वर्णन कर कवि उसके विनाशक वसन्त का राजा के रूप में आगमन दिखाता है। (प्रसंगतः यह लक्ष्य करने की बात है कि हेमन्त का वर्णन यहाँ बसंत-वर्णन की पृष्ठभूमि के रूप में हुआ है।) सांग रूपक के बल पर बसंत-नरेश का चित्र यों अंकित किया गया है।

पंकय-वयणउ कुवलय-णयणउ केयइ-केसर-सिर-सेहरु।
पल्लव करयलु कुसुम-णहुज्जलु पइसरइ वसन्त-णरेसरु ॥ १४.१.

कमल-मुख, कुमुद-नेत्र, केतकी-पराग-सिर-मुकुट, पल्लव-करतल, कुसुमनख वाले वसन्त-नरेश ने प्रवेश किया। कहाँ? वसन्त-श्री के घर में :

डोला-तोरण-बारें पईहरें। पइट्ठु वसंतु वसंत-सिरी-हरें ॥
सरवइ-वास हरेंहि रव-णेउर। आवसिउ महुअरि-अंतेउरु ॥
कोइल-कामिणीउ उज्जाणेंहिं। सुय-सामन्त लयाहर-थाणेंहिं ॥
पंकय-छत्त-दंड सर णियरेंहिं। सिहि-साहुलउ महीहर-सिहरेंहिं ॥
कुसुमा-मंजरि-लय साहारेंहि। दवणा-गंठिवाल केयारेंहि ॥
वाणर-मालिय साहा-वन्देंहि। महुअर मत्तवाल मयरन्देंहि ॥
मंजु-ताल कल्लोलावासेंहि। भुंजा अभिणव-फल-महणासेंहि ॥
एम पइट्ठु विरहि विद्धन्तउ। गयवइ-वम्मेंहि आन्दोलन्तउ ॥ १४. २.

राजा बसंत ने दोला-तोरणों से सजे द्वार वाले वसंत-श्री के घर में प्रवेश किया। कमलों के वास-गृहों में मधु-गुंजार के नूपुर बज रहे थे। उनमें मधुकरियों का अन्तःपुर अवस्थित था। उद्यानों में कोयल रूपी कामिनी थी। लतागृह के स्थानों में शुक रूपी सामन्त थे। सरोवरों में कमलों के छत्र-दंड थे। पहाड़ों के शिखरों पर मयूर का नृत्य था। आम्र वृक्षों में कुसुम और मंजरी की पताकाएँ थीं। केदार-वृक्षों में दवनालता रूपी भाण्डार-रक्षक थे। शाखाओं में बन्दर रूपी माली थे। मकरंद में मधुकर रूपी मत्त बाल थे। लहरों के आवास में सुन्दर ताल था।······इस प्रकार गजराज कामदेव से आन्दोलित विरही को कचलता हुआ वसंत आ पहुँचा।

---

[1]—प० च० संधि १४. १.

यह दृष्टव्य है कि वसंत का राजा रूप में चित्र खड़ा करने के बाद आगे की पंक्ति में कवि उसको उद्दीपन विभाव का रूप दे देता है। इसमें उसका एक उद्देश्य निहित है। वह नर्मदा-नदी का रूप वर्णन करना चाहता है। वसंतागम में नर्मदा को बाला रूप में चित्रित करना उसको अभीष्ट है। वह कहता है :

पेक्खेवि एन्तहों रिद्धि वसन्तहों महु-मासु-सुरासव-मत्ती।

वम्मह-वाली घुम्मल-वोली णं णयइ सलोणहों रत्ती ॥ १४. ८.

आते हुये वसंत की इस तरह की ऋद्धि को देखकर मधु, मधु-रस और सुरा से मस्त भोली-भाली नर्मदा रूपी बाला ऐसी मचल उठी मानो कामदेव की रति ही मचल उठी हो।

इसके आगे कवि कामिनी रूप में नर्मदा का सांगरूपक बांधता है और उस पर लंका-नरेश रावण तथा सहस्रकिरण दोनों राजाओं को मुग्ध बना जल-क्रीड़ा तथा तज्जन्य रावण-सहस्रकिरण-युद्ध की भूमिका तैयार करता है।

इस प्रकार वसंत वर्णन में स्वयंभू की योजना क्रिया-प्रतिक्रियाओं की एक श्रृंखला तैयार कर देने की प्रतीत होती है। यहाँ वसंत का वर्णन आने वाली घटनाओं की कारणभूत पृष्ठभूमि के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

अन्यत्र भी वसंत राजा का स्वागत कोयल के कल-कल मंगल पाठ और भ्रमर रूपी बन्दीजनों के अभिवादन से कराया जाता है, मोर रूपी वामनों का नाच भी होता है। पर रूपक अन्त तक नहीं चलता और वसंत के आगमन पर प्रकृति की परिवर्तित शोभा का वर्णन कवि करने लगता है :

कत्थइ चूअ-वणइं पल्लवियइं। णव-किसलय-फल-फुल्लब्भहियइं ॥

कत्थइ गिरि-सिरहइं विच्छायइं।

कत्थइ गिज्जइ वज्जइ मंदलु। णर-मिहुणेहि पणच्चिउ गोन्दलु ॥

कहीं आम के पेड़ नये किसलय तथा फल-फूलों से लद रहे थे। कहीं पहाड़ों के शिखर कान्तिहीन हो रहे थे। कहीं गीत हो रहा था, कहीं मृदंग बज रहा था। कहीं मनुष्यों के जोड़े नाच रहे थे।

स्वयंभू ने प्रकृति-वर्णन से कहीं-कहीं मानव-व्यापारों को वैसे ही अलंकार रूप में प्रयुक्त किया है जैसे मानवीय कार्यकलाप का वर्णन करने में वह प्रायः प्रकृति को अलंकार रूप में प्रयोग में लाते हैं, जैसे—

कत्थइ माहव-मासहो मेइणि। पिय-विरहेण व सूसइ कामिणि ॥

कत्थइ गिरि-सिरहइं विच्छायइं। खल-मुहइं व मसि-वण्णाइं जायइं ॥

कहीं-कहीं वैशाख मास की गर्मी से सूखी हुई धरती ऐसी जान पड़ती थी मानो प्रिय-वियोग से पीड़ित कामिनी हो। कहीं पहाड़ों के शिखर इस तरह कान्तिहीन हो रहे थे, मानो काले रंग से पुते हुए दुष्ट मुख हों।

'रिट्ठणेमिचरिउ' में स्वयंभू ने एक वसन्त-वर्णन इस प्रकार किया है जो अलंकार से उन्मुक्त सहज मनोरमता लिये हुए है :

पइसरइ वसन्तु सइं पसरु। णव कोमल कोंपल जाय तरु ॥

कल कोइल कलयलु उच्छलिउ। दमणुल्लउ विज्जइ णव फलिउ ॥

आइय सीयल मन्थर गमणु । णव चंदणद्दवद्दवाहि पवणु ॥
आयइ कमलुइं रय सदेरइं । परिमल पहिट्ठइंदि वरइं ॥
हिन्दोलउ लिज्जइं सुन्दरिहिं । णच्चंति भुयंगा णच्चरिहिं ॥ ८५.१

लेकिन यह वर्णन भी जो प्रत्यक्षतः निरपेक्ष या स्वतंत्र लगता है उद्दीपन के अन्तर्गत ही आयेगा, क्योंकि ऐसी बसन्त श्री को देख बलराम को क्रोध-सा होता है कि नेमि जिन का अभी तक अभिषेक नहीं हुआ :

उप्पणु कोउ तो हलहलहो । अहिसेउ ण किज्जइ जिणवर हो ॥

ग्रीष्म और पावस ऋतुओं के वर्णन में भी स्वयंभू ने बसन्त ऋतु की भाँति ही राजा के रूपक का सहारा लिया है :

अमर-महाधणु-गहिय-करु मेहु-गइन्दे चडेवि जस-लुद्धउ ।
उप्परि गिम्भ-णराहिवहों पाउस-राउ णाइं सण्णद्धउ ॥ २८.१

मानो पावस राजा यश की कामना से मेघ महागज पर बैठकर इन्द्रधनुष हाथ में लेकर ग्रीष्म नराधिप पर चढ़ाई करने के लिये सन्नद्ध हो रहा हो ।

इसके आगे वर्षा और ग्रीष्म के एक-एक अंग को लेकर योद्धा-रूप में दोनों का चित्र निर्मित किया गया है । अन्त में जल के बाणों से आहत होकर ग्रीष्म राजा धरती पर गिर पड़ता है । तब—

दद्दुर रडेंवि लग्ग णं सज्जण । णं णच्चन्ति मोर खल दुज्जण ॥
णं पूरन्ति सरिउ अक्कन्दे । णं कइ किलकिलन्ति आणन्दें ॥
णं परहुय विमुक्क उग्घोसें । णं वरहिण लवन्ति परिओसे ॥
णं सखर वहु-अंसु-जलोल्लिय । णं गिरिवर हरिसे गंजोल्लिय ॥
णं उण्हविउ दवग्गि विओएं । णं णच्चिय महि विविह-विणोएं ॥
णं अत्थमिउ दिवायरु दुक्खे । णं परसरइ रयणि सइं सुक्खें ॥
रत्त-पत्त तरु पवणाकम्पिय । केण वि वहिउ गिम्भु णं जम्पिय ॥

उसके पतन को देखकर मेढक मानो सज्जनों की भाँति रोने लगे और मयूर दुष्ट जनों की भाँति नाचने लगे । नदियाँ मानो क्रन्दन से भर उठीं, कवि आनद से गा उठे, कोयल कूक उठी, मयूर परितोष से नाच उठे, सरोवर जल से प्लावित हो उठे, पर्वत हर्ष से रोमांचित हो उठे । मानो वियोग का दावानल नष्ट हो गया हो और धरा-वधू विविध विनोदों से नाचने लगी हो । मानो दुख के अतिरेक से सूर्य का अस्त हो गया हो । मानो सुख से रजनी फैल गई हो । हवा में कम्पायमान रक्त पत्तों वाले वृक्ष मानो घोषणा कर रहे हों कि ग्रीष्मराज का वध किसने किया है ।

ग्रीष्म और पावस का मानवीकरण करके उन पर जो विविध मानवीय व्यवहारों का आरोपण किया गया है उसके कारण प्राकृतिक वर्णन का आनन्द दब-सा गया है और पावस के लगभग सभी अंगों का निर्देश होते हुए भी उत्प्रेक्षा की उड़ान में उनका प्रकृति-सौन्दर्य मन में स्थायी नहीं हो पाता ।

यह वर्णन भी एक प्रकार से भावी घटना, रामपुरी-निर्माण, की पृष्ठभूमि के रूप में ही किया गया है ।

स्वयंभू-कृत शरद ऋतु का वर्णन रूपक की योजना से मुक्त है, इसीलिए शायद वह अधिक स्वाभाविक बनता है। वह उद्दीपन-गुण-समन्वित भी है। गोदावरी के तट पर राम-लक्ष्मण-सीता एक लतागृह में बैठे हैं। तभी शरद का आगमन होता है :

छुडु में छुडु में सरयहो आगमणें । उच्छलिय महादुम छाय वणें ॥
णव-णलिणिहिं कमलइं विहसियइं । णं कामिणि-वयणइं पहसियइं ॥
अहिसिंचेवि लच्छयें वसुह-सिरि । णं थविय अथोहिणि कुंभइरि ॥
तहिं तेहए सरएं सुहावणए । परिभमइ जणद्दणु काणणए ॥
घणे ताम सुअन्धु वाउ अइउ । जो पारियाय-कुसुमब्भहिउ ॥
कड्ढिअउ भमरु जिह तें वाएं छुड्डु सुअन्धें ।
धाइउ महुमहणु जिह गउ गणि यारिहें गन्धें ॥ ३६.२

—शरद के आगमन से वन-वृक्षों की कान्ति और छाया सुन्दर हो उठी। नई नलिनियों के कमल ऐसी हँसी विकीर्ण करने लगे मानो कामिनियों के मुख की हँसी बिखर रही हो। (ऐसा लगता है मानो किसी ने) वसुधा की सौन्दर्य-श्री का अभिषेक कर उस अक्षोहिणी को कुंभगिरि पर अधिष्ठित कर दिया हो। ऐसी उस सुहावनी शरद ऋतु में लक्ष्मण वन में परिभ्रमण करने लगे। इतने में पारिजात कुसुमों के पराग से मिश्रित सुगंधित पवन का झोंका आया। उस सुगंधित पवन से भ्रमर की तरह आकृष्ट होकर लक्ष्मण ऐसे दौड़े जैसे हाथी हथिनी की वांछा से दौड़ता है।

यहाँ कवि ने न केवल शरद् ऋतु की शोभा का वर्णन किया है वरन् लक्ष्मण पर उसके तत्क्षण प्रभाव को भी दिखाया है। जैसा कि हम जानते हैं लक्ष्मण सुगन्धित पवन के झोंके का पीछा करते हुए उस बंशस्थली में पहुँचते हैं जहाँ शम्बूक का उनके हाथों वध होता है। अतएव स्वयंभू का शरद्-वर्णन भी एक महत्वपूर्ण घटना की पूर्व-पीठिका के रूप में है।

निष्कर्ष यह है कि स्वयंभू का वसंत, ग्रीष्म, पावस आदि ऋतुओं का वर्णन घटनाओं की पूर्व पीठिका के रूप में है न कि उद्दीपन विभाव के रूप में।

ऋतुओं के अतिरिक्त स्वयंभू ने प्रकृति के अन्य अंगों जैसे सरोवर, नदी, पहाड़, वन, सागर, सूर्योदय, चन्द्रोदय, संध्या, रात्रि आदि का भी वर्णन किया है। इन्हें कवि ने उद्दीपनरूप में ग्रहण करके नहीं वर्णित किया है, संयोग-शृङ्गार में प्रेमियों के रति-सुख को या वियोग-शृङ्गार में प्रेमियों के वियोग-दुख को बढ़ाने वाले प्राकृतिक उपकरणों के रूप में इन्हें नहीं दर्शाया है। कथा-प्रवाह में जहाँ ये उपयुक्त जचे, जहाँ इनके कारण कथा को गति, चमत्कार या अन्य कोई सहायता मिलने की आशा हुई, वहीं कवि ने इनमें से किसी एक का वर्णन कर दिया। यह सत्य है कि इनके वर्णन में कवि ने अधिकांश में परिपाटी विहित वस्तुओं का ही नामोल्लेख किया है, पर स्थान-स्थान पर उसने सूक्ष्म-निरीक्षण और उर्वर कवि-कल्पना का भी परिचय यथेष्ट मात्रा में दिया है। परिस्थिति का ध्यान कवि को सदैव रहा है। वन में जल के लिए तृष्णाकुल सीता के निमित्त जब जलाशय की खोज में लक्ष्मण वट-वृक्ष पर चढ़कर चारों ओर देखते हैं तो उस समय उन्हें जो सरोवर दिखाई देता है उसका रूप उस सरोवर से बिल्कुल भिन्न है जो वसुदेव को भीषण वन में मिलता है। कारण एक के जल से न केवल सीता की प्यास बुझनी है, वरन् उसके तट पर लक्ष्मण कल्याण माला का मधुर प्रेमालाप भी होना है, दूसरे के तट पर वसुदेव के पराक्रम की विषम परीक्षा होनी है। इसलिए लक्ष्मण जो सरोवर देखते हैं उसका रूप इस प्रकार है :

ताव महासरु दिट्ठु रवण्णउ । णाणाविह-तरुवर-संछण्णउ ॥
सारस-हंस-कुंच-बग-चुम्बिउ । णव-कुवलय-दल-कमल-करम्बिउ ॥ प०च०, २१.६

लेकिन वसुदेव भीषण वन के बीच जिस सलिलावर्त्त सरोवर के तट पर आ निकलते हैं वह कमलों और राजहंसों से युक्त होते हुए भी हाथी-नक्र-ग्राहों से परिपूर्ण है:

रायहंस सोहियाइं । मत्त हत्थि बोहियाइं ॥
चक्कवाय सेवियाइं । णक्क गाह माणियाइं ॥ रि०च०, २.२

स्वयंभू ने गंभीरा, नर्मदा, ताप्ती, गोदावरी, कृष्णा, क्रौंच आदि अनेक नदियों के प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन किया है। नर्मदा का रूपक एक स्थान पर प्रेमी-मिलन के लिए जाती हुई नायिका के समान बाँधा गया है। नदी के एक-एक अंग को लेकर कवि ने उत्प्रेक्षा के द्वारा उसे नारी-अंग पर आरोपित किया है।[1] प्रचण्ड वेग से प्रवहमान और जल-जन्तुओं से पूर्ण गोदावरी का संश्लिष्ट वर्णन कवि के सूक्ष्म-प्रकृति-निरीक्षण से पुष्ट और ध्वन्यात्मकता से ओत-प्रोत है :

थोवन्तरे मच्छुत्थल्ल देन्ति । गोला-णइ दिट्ठ समुव्वहन्ति ॥
सुसुअर-घोर-घुरघुर हुरन्ति । करि-मयरड्डोहिय-डुहु डुहन्ति ॥
डिण्डीर-सण्ड-मण्डलिउ देन्ति । ददुदुरय-रडिय-दुरदुरदुरन्ति ॥
कल्लो लुल्लोलहिं उव्वहन्ति । उग्घोस-घोस-धवधवधवन्ति ॥
पडिखलण-वलण-खलखलखलन्ति । खलखलिय-खलक्क-झडक्क देन्ति ॥
ससि-संख-कुंद-धवलो अ झरेण । कारण्डुड्डाविय उम्बरेण ॥ ३१.३

—थोड़ी दूर जाने पर उन्हें (राम-लक्ष्मण-सीता को) गोदावरी नदी मिली। उसमें मछलियाँ उछल-कूद मचा रही थीं। शिशुमारों के घरं-घरं से घुरघुराती हुई, गज और मगरों के आलोड़न से डुहडुहाती हुई फेन-समूह के मंडल बनाती हुई, मेढ़कों की ध्वनि से टर्राती हुई तरंगों के उद्वेल से बहती हुई, उद्घोष के शब्द से छप-छप करती हुई वह गोदावरी नदी शशि, शंख कुंद-कुसुमों से धवल हो रही थी। कारंडव के उड्डयन से वह भयंकर लग रही थी।

समुद्र का वर्णन करते समय स्वयंभू ने अपनी कल्पना को पूरी छूट दे दी है। समुद्र के ऊपर से जाते हुए रावण और सुमालि को उस नील विस्तृत जलराशि के विषय में अजीब-अजीब कल्पनाएँ सूझती हैं :

परिपुच्छिउ सुमालि विण्णुत्तर । "किं णहयलु" "णं णं रयणाकरु" ॥
"किं तमु किं तमालतरु-पन्तिउ" । "णं णं इन्दणील-मणि-कंतिउ" ॥
"किं एयाउ कीर-रिंछोलिउ" । "णं णं मरगय-पवणालोलिउ" ॥
"किं महियले पडियइं रवि-किरणइं" । "णं णं सूरकन्ति-मणि रयणइं" ॥
"किं गय-घडउ गिल्ल-गिल्लोलउ" । "णं णं जलणिहि-जल-कल्लोलउ" ॥
"स-व्ववसाय जाय किं महिहर" । "णं णं परिभमन्ति जले जलयर ॥ ११.१७

रावण और सुमालि की यह बहक उनकी मनोदशा के अनुकूल है। दोनों यम जैसे शत्रु का दमन करके आ रहे हैं। इसलिए उमंग भरी कल्पना की उड़ान में समुद्र की विस्तृत जलराशि उन्हें कभी आकाश जैसी व्यापक लगती है तो कभी शुक-पंक्ति या मरकत मणि जैसी शुभ्र

१—प०च०, संधि १४.३।

आकार वाली । पर कल्पना की ऐसी अनियंत्रित उड़ान या अस्वाभाविकता से काव्य-रसानुभूति में सहायता नहीं मिलती ।

त्रिकूट पर्वत की ऊँचाई का भाव बोध कराने के लिए कवि ने एक बड़ी सुन्दर उत्प्रेक्षा की है । त्रिकूट की गगनचुम्बी चोटी की ओर संकेत करते हुए कवि ने कहा है मानो सूर्य-रूपी बालक को धरती रूपी कुलवधू ने अपना स्तन दिया हो :

गिरि दिट्ठु तिकूडु जण-मण-णयण-सुहावणउ ।
रवि डिम्भहों दिण्णु महि-कुलवहुअएं थणउ ॥ ७२.८

रात का वर्णन स्वयंभू ने वधू के रूप में किया है । तारे, नक्षत्र, अंधकार, चन्द्रमा आदि की उपमा वधू के चमकते हुए वस्त्र, फूलों से गुथी वेणी, आँख के अंजन और माथे के तिलक से दी गई है ।[1]

स्वयंभू को उत्प्रेक्षा के बल पर एक वस्तु को किसी भी अन्य वस्तु से संतुलित कर देने में जरा भी देर नहीं लगती । तुलना में कुछ बातें तो सटीक बैठती हैं पर कुछ में बड़ी खींचा-तानी करनी पड़ती है । आगे वस्तु-वर्णन में इसके कई उदाहरण मिलेंगे ।

प्रभातकालीन रक्ताभ सूर्य-पिण्ड की उपमा स्वर्ण कलश से देना कवियों में बहुत प्रचलित है । स्वयंभू ने चित्र को थोड़ा संश्लिष्ट बनाने का प्रयास किया है :

सुप्पहाय-दहि-अंस खण्णउ । कोमल-कमल-किरण-दल-छण्णउ ॥
जय-हरें पइसारिउ पइसन्तें । णावइ मंगल-कलसु बसंतें ॥

(लाल सूर्य-पिण्ड ऐसा जान पड़ता था मानो प्रवेश करते हुए बसंत ने जगत रूपी घर में, कोमल किरणों के दल से आच्छन्न, सुप्रभात रूपी दधि-अंश से सुशोभित, मंगल-कलश ही रख दिया हो ।

सूर्य के लाल-पिण्ड से फूटती हुई प्रथम उज्ज्वल किरणें पृथ्वी पर ऐसी ही सोहती हैं जैसे मंगल-घट पर दधि-अक्षत । स्वयंभू की कल्पना बड़ी सार्थक और सटीक है ।

वस्तु वर्णन—अभी कुछ देर पहले वस्तु-वर्णन का निर्देश किया गया है । वस्तु-वर्णन से अभिप्राय उन वस्तुओं या व्यापारों के वर्णन से है जिनको प्रकृति-वर्णन में स्थान नहीं मिल सकता, अर्थात् जो मनुष्य-कृत हैं, जैसे, देश, नगर, आखेट, क्रीड़ा, स्वर्ग, नरक, तप, साधना, विवाह, भोजन, दुर्ग, सेना, युद्ध की तैयारी, युद्ध, मंत्रणा, आदि । इनमें से स्वयंभू ने कई का चित्रोपम और प्रभावशाली वर्णन किया है । 'पउमचरिउ' के प्रारम्भ में ही स्वयंभू मगध देश का वर्णन बड़ी तन्मयता से करते हैं जिससे उसकी श्री-सम्पन्नता की छाप पाठक के मन पर बैठ जाती है ।[2] फिर मगध देश की राजधानी राजगृह का वर्णन प्रारम्भ करते हुए कवि कहता है कि मानो वह धरती रूपी नवयुवती के सिर पर बँधा हुआ मुकुट हो :

तहिं तं पट्टणु रायगिहु धण-कणय-समिद्धउ ।
णं पिहिविए नव-जोव्वणए सिरे सेहरु आइद्धउ ॥ १. ४. ९.

इसके पश्चात् राजगृह के गोपुर आदि विविध अंगों का वर्णन करते हुए स्वयंभू उसकी समता नगर सेठ से करते हैं । वर्णन में संश्लिष्टता है, पर उत्प्रेक्षाओं की उलझन में पड़कर पाठक का मन नगर के चित्र की रसात्मक अनुभूति नहीं कर पाता ।

१—प०च०, संधि १३. १२ ।
२—प०च०, १.४ ।

राजगृह के अतिरिक्त स्वयंभू ने लंका नगरी, किष्किन्धानगरी द्वारावती, आदि नगरी का वर्णन भी लगभग इसी शैली में किया है।

जैन धर्म के अहिंसा-मूलक होने के कारण स्वयंभू ने कहीं भी मृगया या आखेट का वर्णन नहीं किया है क्योंकि इसमें पशुओं के वध की बात आती है।

क्रीड़ा-वर्णन में स्वयंभू की जल-क्रीड़ा प्रसिद्ध है। स्वयं कवि को इस पर गर्व है और उसने कहा है कि जल-क्रीड़ा में स्वयंभू को, गोग्रह-कथा में चतुर्मुख को और मत्स्य-वेधन में 'भद्र' को आज भी कवि लोग नहीं पा सकते।[1] तीन कडवकों में स्वयंभू ने सहस्रकिरण की अपनी रानियों के साथ नर्मदा में जल-क्रीड़ा का बड़ा सरस और मनोहारी वर्णन किया है। पानी में डूबी हुई महादेवी की दोनों हथेलियाँ धीरे-धीरे ऊपर निकल रही हैं। कवि के शब्दों में उनका रूपांकन देखिए :

> उप्परि-करयल-णियरु परिट्ठिउ। णं रत्तुप्पल-संडु समुट्ठिउ ॥
> णं केयइ-आरामु मणोहरु। णक्ख-सूइ कडउल्ला केसरु ॥
> महुयर सर-भरेण अल्लीणा। कामिणि-भिसिणि भणें वि णं लीणा ॥

दोनों हथेलियाँ धीरे-धीरे ऐसे ऊपर निकलीं मानों रक्त कमलों का समूह ही ऊपर उठ रहा हो, या सुन्दर केतकी का उपवन हो। नख-सूची और कड़े मानो केशर-रज थे या मानो मधुकर के स्वर-भार की आश्रित भ्रमरी रूपी कामिनी ही हथेली में लीन हो गई हो।

जल-मग्न किसी नवेली की काली रोमावली ऐसी लगती थी मानो काम वेणी ही गल कर पानी में प्रविष्ठ हो गई हो :

> कह वि कसण रोमावलि दिट्ठी। कामवेणि णं गलेवि पइट्ठी ॥

प्रसंगवश यहाँ उल्लेख्य है कि स्वयंभू को रूप-वर्णन में रोमावली-वर्णन के प्रति बड़ा आकर्षण है। कई स्थानों पर उन्होंने वर्ण्य-वस्तु या अलंकार-रूप में इसका वर्णन किया है :

(क) दीसइ रोमावलि सुट्ठु चडन्ति। णं कसण-बाल-सप्पिणि लवन्ति ॥
(ख) रोमावलि मयरहरुत्तिण्णी। णं पिम्पिल-रिंछोलि विलिण्णी ॥
(ग) कत्थ वि णाणाविह-रुक्ख-राइ। णं महि-कुलवहुअहें रोमराइ ॥
(घ) णं वसुह वरंगण रोमराइ ॥ (यमुना के लिए)

जल-क्रीडा का वर्णन स्वयंभू ने एक बार और किया है जब वनवास-काल में राम-लक्ष्मण कल्याणमाला और उसकी सहेलियों के साथ पुष्कर में स्नान करते हैं।[2] किन्तु यह वर्णन पहले जैसा स्वाभाविक नहीं लगता। यह अलंकार के भार से दबा है। अन्त में कवि कह भी देता है कि यह क्रीडा पुष्कर-युद्ध की तरह थी :

> पुक्खर-जुज्झु व तं जल-कीलणउ स-लक्खणु ॥

त्रिजगभूषण हाथी और रावण के युद्ध के रूप में स्वयंभू ने हस्ति-क्रीडा का भी वर्णन किया है। प्रचंड त्रिजगभूषण रावण को विलासिनी स्त्री की तरह लगता है। रावण कहता है :

१—जल कीलाए सयम्भू चउमुहएवं च गोग्गह-कहाए।
भद्दं च मच्छवेहे अज्ज वि कइणो ण पावन्ति ॥ १४. १३।
२—प०च०, संधि १६.१४।

[illegible] कवि-[illegible] [illegible] होइ पय-[illegible] ॥
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] सुरउ ॥

मैं जानता हूँ कि हाथी के [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] होता है फिर भी [illegible] [illegible] [illegible] में [illegible] क्यों नवीन सुरति का अनुभव [illegible] हो रहा है।

इसके पश्चात् कवि ने रावण और हाथी के बीच वार्तों-प्रतिघातों का और अंत में हाथी के पराजय होने का वर्णन उत्साहपूर्ण शैली में किया है।

स्वयंभू ने स्वर्ग का नहीं, तो नरक का वर्णन[1] अवश्य किया है और सचमुच उसे बीभत्स, भयावह और रोमांचकारी बनाने में वह सफल हुए हैं। रावण यमपुरी में पहुँचता है तो उसे नरक का भयंकर-रूप दिखाई देता है :

पेक्खइ सत्त णरय अइ-रउरव। उट्ठिय-वार-वार हाहारव ॥
पेक्खइ णइ वइतरणि वहन्ती। रस-वस-सोणिय-सलिलु वहन्ती ॥
पेक्खइ गय-पय-पेल्लिज्जन्तइं। सुहड सिरइं टसत्ति भिज्जन्तइं ॥
पेक्खइ णार-सिहुणाइं कन्दन्तइं। सम्बलि-रुक्ख धरा विज्जन्तइ ॥

भोजन का वर्णन करने में कवि ने प्रायः भोजन के विविध पदार्थों की नामावली गिनायी है। एक स्थान पर[2] वर्णन के आरम्भ में भोजन को सुरति के समान सरस, सस्नेह और सुन्दर कहा गया है और अन्त में उसी को जिनवर के वचनों के समान मधुरतम। कवि की मौज ही तो है :

(१) लहु भोयणु आणहिं मणहरउ जं स-रसु सणेहु जिह सुरउ ॥
(२) जहिं जें लइज्जइ तहिं जेतहिं गुलियारउ जिणवर-वयणु जिह ॥

वस्तु-वर्णन में स्वयंभू ने प्रायः इस तरह की स्वतंत्रता दिखाई है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है अपनी अद्‌भुत कल्पना के बल पर वह विचित्र ढंग से विभिन्न वस्तुओं में साम्य स्थापित कर देते हैं। रामपुरी (२८.५) को उन्होंने नारी रूप में चित्रित किया है और राज-सभा (३०.५) को वन-रूप में। राम को एक स्थान पर (३२.६) गरुड के रूप में अंकित किया है और दण्डक वन (३४.१०) को विलासिनी स्त्री के रूप में। एक स्थान पर (३८.१३) लक्ष्मण और वसन्त में साम्य स्थापित किया गया है तो अन्यत्र (५१.१३) सेना सूकर से उपमित है। यही सेना एक दूसरे स्थान (२७.४) पर वर्षा के मेघों से उपमित है। इसी प्रकार अन्य स्थानों पर भोजन समुद्रवेला के रूप में, राम गज के रूप में (२६.१३) और सरोवर आकाश के रूप में (२१.१४) वर्णित हैं। ऐसा नहीं है कि एकाध पंक्ति में कवि ने उपमेय और उपमान में साम्य की सम्भावना की हो। उसने उत्प्रेक्षा अथवा रूपक के सहारे दोनों में सांगोपांग साम्य दिखाया है।

युद्ध-वर्णन के प्रति स्वयंभू में अमित उत्साह है। यदि गिनती की जाय तो उनके दोनों महाकाव्यों के सभी वर्णनों में सबसे अधिक स्थान युद्ध वर्णन को मिला है। यह बात विचित्र-सी लगेगी कि अहिंसा-मूलक जैन-धर्म के उन्नयन और प्रसार के लिए लिखे गये काव्यों में युद्ध-वर्णन की इतनी प्रचुरता हो, पर है यह सत्य। 'रिट्ठणेमिचरिउ' का तो समानुपात ही इसके कारण

१—प० च०, संधि [illegible]।
२—रि० च० संधि [illegible]।

बिगड़ गया है। यह तो स्पष्ट ही है कि जहाँ इतना अधिक युद्ध-वर्णन हो वहाँ विभिन्न वर्णनों में, किसी हद तक, एकरूपता या पुनरावृत्ति का होना अनिवार्य हो जाता है। अस्त्र-शस्त्रों के नाम सर्वत्र एक-से मिलेंगे। योद्धाओं की तैयारियों या गर्वोक्तियों में भी विशेष अन्तर नहीं मिलता। माया-युद्धों का वर्णन जहाँ भी आया है, एकरूपता लिये है। दृष्टि-युद्ध, जल-युद्ध, मल्ल-युद्ध, गदा-युद्ध आदि स्थान-स्थान पर वर्णित हैं और एक-से दूसरे में नवीनता नहीं दिखाई देती। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि स्वयंभू का युद्ध-वर्णन नीरस है या केवल परम्परा-पालन के लिए किया गया है। प्रत्युत हर बार हम कवि को नये उत्साह के साथ युद्ध-वर्णन करते हुए देखते हैं, और हर बार वह कुछ-न-कुछ नई विशेषता तो पैदा करता ही है। दो सेनाओं का युद्ध-वर्णन दो वीरों के युद्ध-वर्णन से किंचित् भिन्न है। भरत और बाहुबलि की सेनाओं की भिड़न्त का एक दृश्य देखिये :

> अब्भिट्टइं वड्ढिय कलयलाइं। भरहेसर - वाहुबली - बलाइं॥
> वाहिय-रह - चोइय - वारणाइं। अणवरयामेल्लिय - पहरणाइं॥
> लुअ-चुण्ण-जोहि-खडिय-धुराइं। दारिय-णियम्ब-कप्पिय-उराइं॥
> णिव्वट्टिय-भुअ-पाडिय-सिराइं। धुय-खग्ग - कबन्ध-पणच्चिराइं॥
> गय-दन्त-छोह - भिण्णुब्भडाइं। उच्चाइय - पडिपेल्लिय - भडाइं॥
> पडिहय-विणिवाइय-गयघडाइं। अच्छोडिय - मोडिय - धयवडाइं॥
> मुसुमूरिय-चूरिय-रहवराइं। दलवट्टिय - लोट्टिय-हयवराइं॥
> रुहिरोल्लइं सरेंहिं विहावियाइं। णं बे वि कुसुम्भेंहि रावियाइं॥ ४.८

भरत और बाहुबल की सेनाओं के भिड़ते ही कलकल शब्द बढ़ने लगा। रथ हाँके जाने लगे, हाथी उकसाये जाने लगे। एक दूसरे पर आक्रमण होने लगे। पैर छिन्न-भिन्न होने लगे। रथ के धुरे टूटने लगे। गण्डस्थल विदीर्ण होने लगे और छाती फटने लगी। भुजाएँ कटकर गिरने लगीं। सिर लोटने लगे, छिन्न-भिन्न रुण्ड-मुण्ड नाच रहे थे। हाथियों के दाँतों के प्रहार से छिन्न भिन्न होकर योद्धा हट रहे थे। प्रतिहत होकर गज सेना धरती पर पड़ने लगी। ध्वज पट खण्डित होकर उड़ रहे थे। बड़े-बड़े रथ मसले जाकर चकना-चूर हो गये। बड़े-बड़े अश्व नष्ट होकर लोट-पोट हो गये। रक्तरंजित तीरों से दोनों ही सेनाएँ भयंकर हो उठीं, मानो दोनों कुसुम्भ रंग में रंग गई हों।

युद्ध का यह दृश्य अलंकरण से मुक्त और यथार्थ-चित्रण का गुण लिये हुए है। अब 'रिट्ठणेमिचरिउ' से अर्जुन के व्यक्तिगत शौर्य का चित्र अंकित करने वाला एक अलंकृत वर्णन देखिये :

> ताहि अवसरे पर पवर पुरंजउ। स-सरु स-रहु वरु स-धणु धणंजउ॥
> दिट्ठ मुट्ठि संधाणु ण णावइ। गुणहं पमाणु कालु णं आवइ॥
> रणे पेक्खंतु असेसइं सुहडइं। णं पंचाणण वारण सुहडइं॥
> केण वि धरिवि ण सक्किउ एंतिउ। जस दिण्णाहु डाहु णं दिंतउ॥
> काहि मि खुडइं खुरुप्पेंहि सीसइं। मउड पट्ट माणि कुंडल भीसइं॥
> काहि मि वच्छ वन्त सर पेसइं। काहु वि हय गय रहु णीसेसइं॥
> काहं विकरइं काय सय खंडइं। काहु मि हणइं छत्त धय दंडइं॥
> काहिं मि हणइं सरासण जाणइं। काहु मि सीसक्कइ तणु ताणइं॥ ९९.९

रक्त-रंजित कुरुक्षेत्र का वर्णन का वर्णन एक पंक्ति में करता हुआ कवि कहता है कि मानो वह फाल्गुन में विकसित रक्त-अशोक का वन हो :

दीसइ कहिरोल्लिउ णं पफुल्लिउ फग्गुणे रत्ता सोयवणु ॥ ५३.२

कुरुक्षेत्र की रणस्थली में युद्ध के अन्त का एक भीषण क्रीड़ापूर्ण दृश्य देखिए जो कवि के सूक्ष्म निरीक्षण का साक्ष्य देता है :

ताम्र धवलक्खण समइंधहो । उक्खय करहंस करहो णरिंदहो ॥
छिण्णु विसाल बहुट सहुसीसें । कुंडल मउड महामणि वीसें ॥
उत्तमंगु उच्छालिउ कवंधहो । पडिउ कबंधु महाकरि खंधहो ॥
करिकव धरइं धणुप्परि सीसहो । पेरकंतहो कुरु णरहो असेसहो ॥ ५३.२०

स्वयंभू ने युद्ध-वर्णन रस लेकर किया है, यही कारण है कि उसकी इतनी अधिकता होते हुए भी कवि का मन उससे ऊबता नहीं और पाठक को भी कुछ-न-कुछ नवीनता हर वर्णन में मिल जाती है।

कवि की जानकारी—जो कवि इतनी अधिक वस्तुओं और कार्य-व्यापारों का वर्णन करे उसमें अनेक बातों की जानकारी का होना आवश्यक है। स्वयंभू अवसर निकाल कर उनका प्रदर्शन करते हैं और ज्ञान तथा नीति सम्बन्धी बहुत सी बातें भी हमें बताते हैं। यह शास्त्रीय पांडित्य-प्रदर्शन हमारे देश में महाकाव्य की परम्परा का एक अंग रहा है। अन्य देशों के काव्य में भी यह प्रवृत्ति प्राचीन काल से चलती आई है।

युद्ध-कौशल, युद्ध-नीति, युद्ध की तैयारी आदि बातों का पूरा शास्त्रीय ज्ञान स्वयंभू को रहा होगा क्योंकि इनका वर्णन उन्होंने कई स्थानों पर किया है।[1] व्याकरण के तो वह पंडित लगते हैं, प्रायः व्याकरण के नियमों का उन्होंने अलंकार रूप में प्रयोग किया है।[2] उन्हें ज्योतिष (१३·७) का भी ज्ञान था। सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार स्त्रियों का वर्णन वह राम के मुख से चन्द्रनखा-प्रसंग (३६·१४) में कराते हैं। उसी प्रसंग में राम नीति-विषयक सुन्दर विचार भी प्रकट करते हैं, उनमें से कुछ उद्धरण के योग्य हैं :

जो मित्तु अकारणें एइ घरु । सो पत्तिय दुट्ठु कलत्त-हरु ॥
जो पंथिउ अलिय-सणेहियउ । सो पत्तिय चोरु अणेहियउ ॥
जो णरु अत्थकए ललिल करु । सो सत्तु णिहुत्तउ जीव-हरु ॥
जा कामिणि कवड-चाडु कुणइ । सा पत्तिय सिर-कमलु वि लुणइ ॥
जा कुलवहु सवहेहिं ववहरइ । सा पत्तिय विढय-सयइं करइ ॥
जा कण्ण होवि पर-णरु-वरइ । सा किं वहुअंती परिहरइ ॥

जो मित्र अकारण घर आता है उसे अवश्य ही स्त्री-हरण करने वाला दुष्ट समझो। जो पथिक मार्ग में झूठा स्नेह जताता है, उसे अवश्य ही अहितकारी चोर समझो। जो नर जल्दी-जल्दी चापलूसी करता है, उसे अवश्य जीव-हरण करने वाला समझो। जो स्त्री कपटपूर्ण चाटुकारी करती है, वह निश्चय ही सिर-कमल काटेगी। वह कुल-वधू बार-बार शपथ करती है, वह अवश्य सैकड़ों बुराइयाँ करने वाली है। जो कन्या होने पर पर-पुरुष को वरण करती है, क्या वह बड़ी होने पर ऐसा करना छोड़ देगी ?

१—उदाहरणार्थ प० च०, संधि ४।

२—उदाहरणार्थ, प० च०, १४, ६. २६. १०. ५३. १६. ४४. १०. ४५. ४. ५०. २।

राजसी भोजन और खाद्य-पदार्थों का ज्ञान (२५. ११. २६. ३२. ७३. ५) स्वयंभू को भलीभांति था। रावण के राजसी स्नान का वर्णन भी उन्होंने विस्तार से किया है (७१. ४)। अपशकुन-कथन अक्षयकुमार के हनुमान से युद्ध के लिए प्रस्थान करते समय (५२. १) किया गया है और शुभशकुन-कथन राम की सेना के लंका के लिए अभियान के अवसर (५९. ८) पर। लक्ष्मण के शास्त्रीय संगीत (२२. ८) के वर्णन के व्याज से कवि ने एतद्विषयक अपने ज्ञान का परिचय दिया है। इसी प्रसंग में सीता से नृत्य कराकर उसमें भरत के नाट्य शास्त्र में वर्णित नौ रस, आठ भाव, दस दृष्टियों और बाइस लयों से अभिज्ञता प्रकट की है :

तालविताल पणच्चइ जाणइ। णव रस अट्ठ भाव वि जाणइ ॥
दस दिट्ठिउ बावीस लयाइं। भरहें भरह-गविट्ठइं जाइं ॥

काम की दस दशाओं का वर्णन स्वयंभू ने कल्याणमाला (२६.८) और रावण (३८.५) को भुक्तभोगी बनाकर किया है। कवि और कवि-कर्म का वर्णन अलंकार के रूप में कई बार (५०. १, ५०. १३, ५१. ६) हुआ है। स्वप्न-विचार त्रिजटा के देखे हुए सपने के भिन्न-भिन्न अभिप्राय (५७.८-६) के बहाने किया गया है।

नीति और उपदेश की उक्तियाँ, जो कवि के अनुभव से पूर्ण हैं, बीच-बीच में बिखरी पड़ी हैं। संसार की अनित्यता पर शोक करने की व्यर्थता कवि इन शब्दों में प्रकट करता है :

घण-वट्टियइं विज्जु-विप्फुरियइं। सुविणय-बालभाव-संचरियइं।
जल बुब्बुय-तरंग-सुरचावइं। कहु दीसन्ति विणास न भावइं ॥ ६. १२.

मेघों की घटा, बिजली की चमक, स्वप्न और बालभाव की चपलता, जल बुद्बुद, तरंग इन्द्रधनुष, इनका अन्त देखते हुए किसे अच्छा नहीं लगता ?

कन्या पर कवि की उक्ति बड़ी ही कटु किन्तु सार-गर्भित है :

कण्ण दाणु कहिं तेणउ जइ ण दिण्णु तो तुडिहि चडावइ ॥
होइ सहावें मइलणिय छेयकालें दीवय-सिह पावइ ॥ ६. ३.

कन्या-दान-किसके लिए ? यदि कन्याएँ किसी को न दी जायें तो दोष लगा देती हैं, क्षयकाल की दीप-शिखा की भाँति वे स्वभाव से मलिन होती हैं।

लगे हाथ सासों की प्रकृति पर भी कवि की जानकारी का नमूना देखिए :

सुकइ-कहहों जिह खल-मइउ हिम-वद्दलिउ कमलिणिहिं जिह।
होन्ति सहावें वइरिणिउ णिउ-सुण्हहं खल-सासुअउ तिह ॥ १९. ७

जैसे सुकवि की कथा के लिए दुर्जनों की बुद्धि और कमलिनियों के लिए हिम-मेघ होता है वैसे ही अपनी बहुओं के लिए सासें हैं।

अब कवि की जानकारी का प्रसंग समाप्त करते हैं। रूप सौन्दर्य, प्राकृतिक क्रियाकलाप, विविध वस्तु-व्यापार आदि जो महाकाव्य में वर्ण्य-विषय माने जाते हैं उनके प्रति भी उसकी अभिरुचि का परिचय हम प्राप्त कर चुके हैं। इसके अनन्तर हमें कवि की भाषा-शैली, अभिव्यक्ति-कौशल, अलंकार-योजना अथवा अप्रस्तुत-विधान पर दृष्टि डालनी चाहिए।

भाषा—स्वयंभू की कृतियों की भाषा अपभ्रंश है। नामवर सिंह के शब्दों में स्वयंभू अपभ्रंश के वाल्मीकि हैं।[1] जिस समय उन्होंने अपभ्रंश में काव्य-रचना आरम्भ की उस समय

१—नामवर सिंह—पृ० १८५।

यह पूर्ण साहित्यिक भाषा नहीं बन पाई थी। पहले अध्याय में हम दिखा चुके हैं[1] कि स्वयंभू के पूर्व किसी ऐसे अपभ्रंश कवि का पता नहीं लगता जिसने उसे महाकाव्य की रचना में नियोजित किया हो। ऐसी दशा में यह सहज अनुमेय है कि अपभ्रंश-भाषा का साहित्यिक रूप बहुत कुछ स्वयंभू के हाथों संवारा गया होगा। जन-भाषा के स्तर से उठाकर उसे महाकाव्य का सफल माध्यम बनाना स्वयंभू का काम था। किन ऐतिहासिक परिस्थितियों में साहित्यिक प्राकृत से जन-सामान्य की भाषा का पार्थक्य हुआ और अपभ्रंश प्राकृत का स्थान लेने लगी इसका कुछ विवेचन पहले अध्याय में किया जा चुका है। स्वयंभू जैसे प्रतिभाशाली कवि का आश्रय पाकर अपभ्रंश महान् उत्कर्ष को प्राप्त हुई, इसका भी संकेत किया जा चुका है।

पूर्ववर्ती प्राकृतों से भिन्न अपभ्रंश की भाषावैज्ञानिक और व्याकरणिक विशेषताओं का अध्ययन अनेक विद्वानों ने किया है। याकोबी का कथन है कि अपभ्रंश एक मिश्रित भाषा थी जिसने शब्द-कोश का अधिकांश साहित्यिक प्राकृतों से ग्रहण किया और व्याकरणिक गठन देश्य भाषाओं से।[2] राहुल जी ने इसी बात को अपने ढंग से यों कहा है कि अपभ्रंश ने "नये सुबन्तों और तिङन्तों की सृष्टि की।" ध्वनि-विकास और शब्द-रूप दोनों दृष्टियों से अपभ्रंश अपनी पूर्ववर्ती प्राकृतों से पर्याप्त भिन्न है। स्वयंभू की अपभ्रंश में वे सभी भाषा-गत विशेषताएँ मिलती हैं जिनको विद्वानों ने इस भाषा के अध्ययन के परिणाम-स्वरूप निर्दिष्ट किया है, जैसे ध्वनि-विकास में अन्त्य स्वर का ह्रस्वीकरण, उपान्त्य स्वर का ज्यों-का-त्यों रहना, संयुक्त वर्णों में समीकरण और पूर्ववर्ती स्वर में क्षतिपूरक दीर्घीकरण, आदि और अनादि स्पर्श-व्यंजनों का महाप्राण हो जाना, अ अथवा र के समीपवर्ती दन्त्य व्यंजन का मूर्धन्य हो जाना, आदि य का ज हो जाना, ख, घ, थ, ध, फ, भ, का ह हो जाना, म का व में बदल जाना, उष्म व्यंजनों में केवल स का अवशेष रहना, शब्द-रूप-निर्माण में प्रातिपदिकों की विविधता का अन्त और विभिन्न स्वरान्त वाले प्रातिपदिकों का अकारान्त पुल्लिंग शब्द के कारक-रूपों से प्रभावित होना, व्याकरणिक लिंग-भेद से नपुंसक-भेद का लोप होना, कारक-विभक्तियों का केवल तीन समूहों में सिमट जाना, काल-रचना में तिङन्त रूपों की अपेक्षा कृदन्तज रूपों की प्रवृत्ति का जोर पकड़ना, संयुक्त-क्रिया-रूपों का चलन, स्वार्थिक प्रत्यय-ड के प्रयोग की अधिकता आदि।

परन्तु अपभ्रंश-व्याकरण के इन कुछ नीरस नियमों को जान लेने मात्र से 'पउमचरिउ' और 'रिट्ठणेमिचरिउ' की भाषा का न तो सही अनुमान हो सकता है और न उनकी व्यावहारिक कठिनाइयों से मुक्ति मिल सकती है। नियम चाहे कितने ही विस्तार से क्यों न बनाये जायँ वे निरपवाद नहीं हो सकते और न कवि को अपनी सीमाओं में बाँध सकते हैं। एक विकसनशील भाषा के लिये, जैसी कि स्वयंभू को प्राप्त हुई थी, यह कथन और भी सत्य है। यथार्थ बात यह है कि स्वयंभू किसी व्याकरण के नियम से बँध कर नहीं चले होंगे, बाद के वैयाकरणों ने अपभ्रंश-व्याकरण के नियम-निर्धारण में स्वयंभू की भाषा को आदर्श-रूप में ग्रहण किया होगा। डा० भायाणी ने 'पउमचरिउ' के प्रथम भाग की अँग्रेजी भूमिका में उसकी व्याकरणिक विशेषताओं का विस्तृत निरूपण किया है।[3] ये विशेषताएँ १ से २० संधि के अध्ययन से निष्पन्न हैं। उनमें से प्रत्येक को अपभ्रंश-व्याकरण के नियम रूप में नहीं ग्रहण किया जा सकता क्योंकि ये

१—दे० अध्याय १, पृ० १८।
२—भविसयत्त कहा।
३—प० च०, भाग १, अँग्रेजी प्रस्तावना, पृ० ५२-७४।

अपभ्रंशों से पूर्ण हैं। उदाहरण के लिए एक स्थान पर कहा गया है—पदान्तर्गत म प्रायः व अथवा वं में बदल जाता है, फिर आगे यह भी कहा गया है कि कभी-कभी ऊपर का ठीक उल्टा होता है और व का म हो जाता है। 'प्रणाम' से पणवेप्पिणु (१.१.१.) हरिदमन' से हरिदवण (१५.१०५) बन जाता है तो परिवृत्त से परिमिय (२.५.६) और सिविर से सिमिर (११.८.१) भी बनता है। संयुक्त स्वरों के सरलीकरण में कभी पूर्व स्वर दीर्घ हो जाता है, (जैसे दक्षिण से दाहिण सर्व से साव) तो कभी व अप्रभावित बना रहता है (जैसे प्रविष्ठ से पइठ, सम्मुख से समुह)।

काव्य के रसास्वादन की दृष्टि से पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ भाषा की जो सर्व-प्रथम विशेषता हमारा ध्यान आकृष्ट करती है वह है उसकी संयुक्त वर्णों से पूर्ण पदावली। प्रायः हर पंक्ति में संयुक्त वर्णों का सामना करना पड़ता है। उसके शब्द-रूप-निर्माण की यह एक प्रमुख विशेषता लगती है।. जहाँ शब्दों में ऐसी विशेषता न भी हो वहाँ उनके सविभक्तिक बनते ही यह पैदा हो जाती है। दोनों ग्रंथों में से किसी से भी और कहीं से भी कोई उदाहरण लेकर इस कथन की परीक्षा की जा सकती है :—

(१) तिण्णि वि भिडिय खलु आमेल्लवि। धय-धूवन्त महारह पेल्लेवि॥

—प० च०, १७.५.२.

(२) जय-पव्वय-पवरुज्जाणु जहिं। रिसि-संघु पराइउ ताव तहिं॥

—प० च०, ३३.३.१

(३) णर णारायण रायहि पेसिउ आएहिं पर वले भिडिउ घडुक्कउ।
णं हरिहर बंभाणेहि तिहि मि पहाणेहि मंदरु सायरे मुक्कउ॥

—रि० च०, ६१.२

कहीं-कहीं तो एक ही पद में एकाधिक संयुक्त वर्णों की उपस्थिति से उनके उच्चारण में विशेष कठिनाई होती है, यह बात दूसरी है कि कवि ऐसे पदों की योजना किसी विशेष उद्देश्य से कर रहा हो :—

भिण्ण-वच्छत्थलुद्देस-विहलंघलं। णीसरन्तन्त-मालावली-चुंभलं॥
वे वि सुंडीर-संघाय-संघारणा। वे वि मायंग-कुंभत्थ लुद्दारणा॥

—प० च०, ४६.६.

संयुक्ताक्षरों की भाँति ही 'पउमचरिउ' और 'रिट्ठणेमिचरिउ' की भाषा में ण कार की भी भरमार है। यह कोई स्वयंभू की विशेषता हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता, यह तो अपभ्रंश की विशेषता है। पर 'पउमचरिउ' और 'रिट्ठणेमिचरिउ' का पाठक उनके णकारों की बहुलता से तंग आ जाता है। कडवक की बात जाने दीजिए, लगातार दो-तीन पंक्तियाँ भी ऐसी शायद ही मिलें जो णकार से मुक्त हों। उदाहरण देना व्यर्थ लगता है। अपभ्रंश की इस विशेषता को दृष्टि में रखते हुए उसे उकार बहुला की भाँति ही णकार बहुला भी नाम दिया जाय तो उपयुक्त होगा। कहीं-कहीं संयुक्त वर्णों के मध्य छोड़कर अन्यत्र न का दर्शन होता ही नहीं। सर्वत्र, आदि में, मध्य और अन्त में, न के स्थान पर 'ण' का ही राज्य दिखाई देता है। कहने की आवश्यकता नहीं आज की परिवर्तित भाषा-स्थिति के अभ्यस्त पाठक को इस णकार-बाहुल्य से रसास्वादन में व्याघात पहुँचता है। 'ण' न केवल 'न' का स्थानापन्न होकर आता है वरन् वह अन्य वर्णों का भी स्थान लेता है (णाण=ज्ञान)। इससे और भी भी कठिनाई होती है।

"य" और ह की स्थिति "ण" से भी अधिक भ्रमोत्पादक है। जिस तरह ख, घ, थ, ध, फ, भ में से किसी के स्थान पर भी ह आ सकता है उसी तरह य अनेक अ-महाप्राण (क, ज, त, आदि) वर्णों का स्थान ले सकता है, "गय" का अर्थ "गज" भी हो सकता है, और "गत" भी। "ताय" का अर्थ "ताल" भी हो सकता है और "ताप" भी। प्राय: संदर्भ से ही अर्थ निकालना पड़ता है, जहाँ संदर्भ ज्ञात न हो वहाँ कठिनाई अनुभव हुए बिना नहीं रहती।

स्वयंभू में कुछ विचित्र शब्द-संयोग देखने को मिलते हैं। प्रत्यक्षतः इस प्रकार निर्मित शब्दों का अर्थ समझना कठिन होता है, किन्तु यदि संधि-विच्छेद की प्रक्रिया से उन्हें अलग-अलग कर दिया जाय तो हिन्दी के पाठकों के लिए वे बहुत सरल बन जाते हैं। पउमचरिउ से कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं :

१—पराइव=पर आये।

णिविसें तं सिद्धत्थु पराइउ ॥ २.११.२

(पल भर में वे सिद्धार्थ उपवन पर (में) आये।)

सच्चउ जें जिणु वारे पराइउ ॥ २.१६.१०

(सचमुच ऋषिमजिन द्वार पर आये हुए थे।)

२—पडलोवरे=पटल के ऊपर।

चामीयर-पडलोवरे थवियउ ॥ २.११.५

(सुवर्ण पटल के ऊपर रख दिया।)

३—णायउ=ण+आयउ=न आया।

जइ पुणु कहवि तुल-लग्गें णायउ।

हउं ण होमि सौमित्तिए जायउ ॥ ३१.२.५

(यदि यह कहकर भी मैं तुलालग्न में वापस न आया तो मैं सुमित्रा का बेटा नहीं।)

४—णावमि=ण+आवमि=न आऊँ।

जइ एम वि णावमि। ३१.२.६

(यदि मैं न आऊँ.......।)

५—कद्दिवसु=किसी न किसी दिन।

अम्हहं तुम्हहं अवरमि कद्दिवसु वि अवस-पयाणउ ॥ ७५ ७.१०

(हमारा, तुम्हारा और दूसरों का भी किसी-न-किसी दिन प्रयाण अवश्य होगा।)

६—किंचिदुट्ठिओ=किंचित् उठा हुआ।

विहि वि किंचिदुट्ठिओ। ४५.८.८

(भाग्य की तरह कुछ उठा हुआ।)

७—अवरेक्कु=ऊपर एक, दूसरा एक।

अवरेक्कु रणंगणे दुज्जयासु। पट्ठविउ लेहु पवणंजयासु ॥ १८.१०.६

(अन्य एक पत्र रण में अजेय हनुमान को भी प्रेषित किया है।)

८—आणन्तरे=तिसके बीच।

आवइवि पडीवउ जाम पहु ताणन्तरें दिट्ठ अणन्तरहु ॥ १८.१

(वहाँ से लौटते हुए रावण को अनन्त रथ के दर्शन हुए।)

९—णाणमि=ण+आनमि=न लाऊँ ।

अह णाणमि तो सत्तमए दिणे पइसमि सलहं हुआसणिय ।

(यदि सातवें दिन (सीतादेवी का वृत्तान्त) न लाकर दूँ तो चिता में प्रवेश करूँ ।)

इस तरह के संयुक्त शब्दों की संख्या बहुत अधिक है जिन्हें संधि-विच्छेद की प्रक्रिया से सरल बनाया जा सकता है । अपभ्रंश की यह प्रवृत्ति आगे चलकर मंद पड़ गई और हिन्दी में तो अब बिल्कुल नहीं रह गई है । बोल-चाल में इस तरह के शब्द-संयोग प्रायः घटित होते हैं पर लिखित हिन्दी में केवल संस्कृत शब्दों में ही संधि की प्रक्रिया लागू होती हुई देखी जाती है । इसीलिए कहा जाता है कि हिन्दी के शब्दों में संधि होती ही नहीं । यदि स्वयंभू द्वारा अपभ्रंश में प्रारम्भ की गई शब्द-संयोग की प्रवृत्ति आगे भी बनी रहती तो आज हिन्दी शब्दों का क्या रूप होता, यह बता सकना कठिन है । आशंका यही है कि शब्द-रूपों में बड़ी अराजकता एवं तज्जन्य दुर्बोधता का राज्य होता ।

कारक विभक्तियाँ अपभ्रंश में बहुत कम रह गई थीं । वे केवल तीन समूहों में सिमट गई थीं । पहला समूह प्रथमा, द्वितीया और सम्बोधन का था, दूसरा तृतीया और सप्तमी का, तथा तीसरा चतुर्थी, पंचमी और षष्ठी का । अन्तिम दो समूहों में प्रायः मिश्रण और विपर्यय हुआ करता था । निर्विभक्तिक शब्द-प्रयोग भी हुआ ही करते थे । इनके कारण उत्पन्न अव्यवस्था को दूर करने के लिए परसर्गों का जन्म हुआ ।

विभक्तियों के मिश्रण और विपर्यय के कारण पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ के अर्थ-बोध में कठिनाई न हो, ऐसी बात नहीं है, पर स्वयंभू ने परसर्गों के उन्मुक्त प्रयोग से इस कठिनाई को बहुत कम कर दिया है ।

यद्यपि अपभ्रंश प्राकृतों की संश्लिष्टावस्था को पीछे छोड़कर विश्लिष्टाता की ओर तेजी से बढ़ रही थी तथापि प्राकृत काल के कुछ प्राचीन रूप अपभ्रंश में बहुत दिनों तक चलते रहे । स्वयंभू की कृतियों में इनके बहुत से उदाहरण मिलते हैं । 'आवमि' होन्ति, एन्ति, सन्त आदि क्रिया-रूप संस्कृत-प्राकृत के काफी निकट हैं । एक उदाहरण पर्याप्त होगा :

किं तुम्हें विरुज्झहो अप्पुणु जुज्झहो मइं हणुवन्तें हन्तएंण ।

पावन्ति वसुन्धर चन्द-दिवायर किं किरणेहिं सन्तएण ।। २०.१

यहाँ 'सन्तएण' (होते हुए) क्रिया-पद संस्कृत बहुवचनान्त क्रिया 'सन्ति' से विकसित होते हुए भी उसके कितना निकट है ।

स्वयंभू में अनेक सर्वनाम पद अपने प्राचीन रूप में ही प्रयुक्त होते हुए मिलते हैं :—

(१) तं वयणु सुणेवि समुट्ठियउ । १९.१८

(२) तेण वि तिक्ख खुरुप्पेहिं खण्डिउ । ५२.४.

वाक्यों में कर्मवाच्य का अधिक प्रयोग संस्कृत की अपनी विशेषता है । स्वयंभू में भी यह प्रवृत्ति प्रायः दिखाई देती है । इसे संस्कृत का प्रभाव ही कहा जायगा ;—

(१) तंह णिसियरेण मुक्कु हणुवन्तहो । ५२.४.८

(२) गलगज्जेवि एम णिसायरेण । ६५.११.७

(३) सायरबुद्धि विहीसणेण परिपुच्छिउ । २१.१

(४) तेहि अवसरे आसंकिय-मणेण । वुच्चइ वल[illegible]व विहीसणेण ।।६५.१२.४

(५) धयरट्ठें संजउ पेसियउ । दुज्जोहणु तेण गवेसियउ ।। रि०च०, ९१.१

उदाहरण संख्या ४ में हम यह भी देखते हैं कि 'विहीसपेण के साथ उसका विशेषण 'आसंकिय-मणेण' भी उसका वैसा का रूप लिए हुए है।

स्वयंभू की भाषा में यत्र-तत्र मुहाविरों और कहावतों का प्रयोग भी मिलता है। दो-एक उदाहरण देखिए :—

(१) मिलेवि तेहिं कह कह विणमारिउ। लेवि अद्धचन्देहि णीसारिउ।। २१.८.८

(सेवकों ने उन्हें (नारद को) पाकर मारा तो नहीं लेकिन अर्द्धचन्द्र अर्थात् गर्दनिया देकर निकाल दिया।)

(२) दुक्खाउरु रोवइ सयलु लोउ। णं चप्पेवि चप्पेवि भरिउ सोउ।। ६६.१३.२

(दुख: से सभी लोग रो रहे थे मानो चप्पा-चप्पा में शोक भर गया हो।) .

(३) पत्ति हिं जुत्त वइल्लु जिह भव-संसारे भमन्तु ण थक्कइ।। ४१.८

(जुए में जुते बैल की तरह (जीव) भव-संसार में भटकता हुआ कभी नहीं थकता।)

बीच-बीच में स्वयंभू सूक्तियों के प्रयोग से भी वर्णन को प्रभाव पूर्ण और स्पष्ट बनाते हैं। हनुमान पर क्रुद्ध रावण जब हाथ में चन्द्रहास लेकर झपटता है तो मंत्री उसे रोक लेते हैं और कहते हैं :

जइ णासइ सियालु विवराणणु। तो किं तहों रूसइ पंचाणणु।। ५५.६

(यदि शृगाल गुफा का मुख नष्ट कर दे तो क्या इससे सिंह रुष्ट होता है ?)

सीता की प्राप्ति को असम्भव बताता हुआ विभीषण रावण से कहता है—

जाणइ सिविणा-रिद्ध जिह ण हुअ, ण होइ ण होसइ तुज्झु।। ५७.४

(सीता को स्वप्न की वह रिद्धि समझो जो न तुम्हें कभी प्राप्त थी, न है और न होगी।)

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि स्वयंभू की भाषाभाव-प्रकाशन की योग्यता के लिए जितने गुण चाहिए उन सबसे समन्वित है। स्वयंभू के सामने अपभ्रंश का कोई नमूना नहीं था, फिर भी अपनी प्रतिभा से उन्होंने उसे महाकाव्य के उपयुक्त बनाया। उनकी भाषा में सहज प्रवाह और भावानुकूल परिवर्तित होती चलने की क्षमता है। युद्धवर्णन में उसका वेग प्रचंड बरसाती नदी का है तो उपदेश-कथन में वह मंथर गति से चलती है। ओज, प्रसाद और माधुर्य, तीनों गुणो का निदर्शन उसमें मिलता है। लक्षणा-व्यंजना की अपेक्षा उसकी अभिधा शक्ति से ही कवि ने अधिकतर काम निकाला है। स्वयंभू की अपभ्रंश वह ग्रामीण युवती है जो अपने सहज-सौन्दर्य, रूप-लावण्य और पद-विन्यास से हमें विस्मय-विमुग्ध बनाती है, उसमें नागरी का हाव-भाव, वक्र-भंगी और रहस्यमयता नहीं है। उसकी सरलता ही उसकी शक्ति है।

छंद—

जिस प्रकार व्याकरण के क्षेत्र में अपभ्रंश ने संस्कृत-प्राकृत से भिन्न एक नया मार्ग बनाया उसी तरह उसने अपने लिए नए छंदों का भी विधान किया। पहली बार उसने मात्रिक छंदों का सूत्रपात किया। इसके पहले प्रायः वर्णिक छंद होते थे जिनमें विभिन्न गुणों के अनुसार शब्दों का क्रम होता था। दूसरी बात यह है कि अपभ्रंश के पूर्व छंद तुकान्त नहीं होते थे, अपभ्रंश ने तुकान्त छंदों की प्रथा चलाई। जिस प्रकार श्लोक संस्कृत का और गाहा प्राकृत का अपना छंद कहा जाता है उसी प्रकार दोहा अपभ्रंश का अपना मुख्य छंद है। ईसा की सातवीं शताब्दी

से अपभ्रंश में उस का प्रचलन माना जाता है।[1] "विक्रमोर्वशीय" में प्राप्त दोहे को प्रक्षिप्त न माना जाय तो उसका प्रारंभ ईसा की पहली-दूसरी शताब्दी में मानना होगा। डाक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लक्षित किया है कि अहीरों के प्रिय छंद बिरहा का खाका भी दोहे का ही है।[2] इससे दोहे का सम्बन्ध आभीर जाति से भी जुड़ता है जो स्वाभाविक है क्योंकि आभीरों का अपभ्रंश के उत्थान से घनिष्ट सम्बन्ध है।

दोहा मुक्तक काव्य के लिए उपयुक्त छंद है तो प्रबंध काव्य के लिये चौपाई की उपयुक्तता निर्विवाद रूप से स्वीकृत है। चौपाई भी अपभ्रंश की ही देन है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने चौपाई का सम्बन्ध अपभ्रंश के अलिल्लाह छंद से बताया है।[3] पहले यह समझा जाता था कि दोहा-चौपाई में चरित काव्य लिखने की परम्परा का आरंभ सूफी कवियों ने किया। किन्तु अब माना जाने लगा है कि इसका आरंभ और पहले से ही हो गया था। इस परम्परा का सूत्रपात अपभ्रंश में हुआ। अपभ्रंश में ही कडवक बद्ध शैली में चरित काव्य लिखे जाने लगे जिसमें चार पद्धड़ियों या आठ पंक्तियों के बाद एक घत्ता देने का नियम था। पद्धड़िया, पज्झटिका या अरिल्ल का स्थान बाद में चौपाई ने लिया। घत्ता का स्थानापन्न दोहा बना। स्वयंभू ने स्वीकार किया है कि पद्धडिआ छंद उन्हें चतुर्मुख से मिला।[4] किन्तु इस समय चतुर्मुख की कोई रचना प्राप्त नहीं है। इसलिए कडवक-बद्ध शैली में अपभ्रंश में चरित काव्य का सबसे प्राचीन उदाहरण इस समय स्वयंभू का ही है।

पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ के छंद-विधान का विस्तृत अध्ययन डा० भयाणी ने किया है। पउमचरिउ के तृतीय भाग[5] के भूमिका खण्ड में उन्होंने ग्रंथों के प्रत्येक कडवक के प्रारंभ, मध्य और अंत में प्रयुक्त छंदों का पूरा विवरण प्रस्तुत कर दिया है। तदनुसार पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ के कडवकों के यमक में, अर्थात् प्रारम्भ और अन्त के बीच वाले मुख्य भाग में प्रयुक्त छंदों में पद्धडिया, वदनक और पारणक का प्राधान्य है। कडवक को प्रारंभ करने वाले छंदों में मंजरी, हेला, द्विपदी, सालभंजिका, कामलेखा, माला मंजरी, दोहा आदि विशेषण रूप से प्रयुक्त हुए हैं। घत्ता या कडवक के अंत के छंदो में रत्नावली, केतकी कुसुम, कामिनी हास, कांचन माला, अभिनव वसंतश्री, त्रिवली-तरंगक, प्रेमविलास, अनंग लतिका, मन्मथ तिलक आदि छंदों की अधिकता है। इनके अतिरिक्त कडवकों के आदि, अंत और मध्य में अनेक अन्य छंदों का प्रयोग भी स्वयंभू ने स्थान-स्थान पर किया है। स्वयंभू छन्द-शास्त्र के पंडित थे जिस काप्र माण उन्होंने स्वयंभू छंद द्वारा दिया है। इसलिए छंदों के प्रयोग में उनसे पूर्ण कौशल की आशा की जा सकती है।

काव्य रचना में एक-रसता से बचने के लिए कवि लोग प्राय: विविध छंदों का प्रयोग करते हैं। कभी-कभी छंद ज्ञान के प्रदर्शन के लिए भी कवि छंदों की विविधता का आश्रय लेते हैं, यह नीति श्रेयस्कर नहीं समझी जाती। छंद-चयन में सर्वोत्तम दृष्टिकोण यह है कि छंदों में

१—डा० विनयमोहन भट्टाचार्य, जर्नल, रायल एशियाटिक सोसायटी आव बंगाल, खंड ८२ (१) पृ० २४९।

२—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य का आदि-काल, पृ० ९२।

३—हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ५९।

४—चउमुहेण समप्पिय पद्धडिय रि० च०, १.२।

५—प० च०, भाग तीन भूमिका; पृ० १९-३४।

परिवर्तन इस प्रकार किया जाय कि काव्य में एक-रसता न उत्पन्न हो और भाव, विचार, घटना या विषय के अनुकूल छंद अपने से आते चलें। सब मिलाकर देखा जाय तो स्वयंभू ने इसी नीति का अवलम्बन किया है। कथात्मक अंश के लिए उन्होंने पद्धड़िया, पारणक या वदनकछंद का प्रयोग किया है तो युद्ध के वर्णन में उन्होंने प्रायः भुजंग प्रयात से काम लिया है जो इसके लिए सर्वथा उपयुक्त छंद माना जाता है। स्वयंभू की छंद-योजता विषयानुसार परिवर्तित होती रहती है, यह उसकी प्रमुख विशेषता है।

अलंकार—

अलंकार कविता-कामिनी का अनिवार्य अंग है। कवि का कौशल केवल इस बात में है कि कितनी स्वाभाविकता से वह उसे अलंकारों से विभूषित करता है। अलंकारों की अधिकता और चमत्कार-प्रदर्शन से कविता का रूप बिगड़ जाता है। वही कवि सफल है जो कृत्रिमता से बचकर अलंकारों द्वारा अपनी कविता का शृंगार कर सके।

स्वयंभू को पूर्ववर्ती साहित्य से काव्य में अलंकार-प्रयोग की दीर्घ परम्परा प्राप्त हुई थी। उनके काव्यों में कई प्रकार के अलंकारों के उदाहरण मिलते हैं। काव्य-रचना के उपक्रम में कुछ अलंकार तो उपने आप आ जाते है, कुछ के लिए कवि को प्रयत्नशील होना पड़ता है। यह भी देखा गया है कि कुछ अलंकार कवि को इतने प्रिय होते हैं कि उसके स्वभाव के अंग बन जाते हैं और अनायास उसकी रचना में आते रहते हैं। "उपमा कलिदासस्य" की जो कहावत इतनी प्रसिद्ध है उसके अन्तराल में व्यक्तिगत-रुचि का ही नियम कार्य करता है। इस दृष्टि से देखा जाय तो स्वयंभू का सर्व-प्रिय अलंकार उत्प्रेक्षा है। उत्प्रेक्षा का स्वयंभू में इतना बाहुल्य है कि पद-पद पर उसका प्रयोग अनायास मिलता है। कडवक-के-कडवक उप्रेक्षा की लड़ियों से भरे हैं। एक उदाहरण दिया जाता है :—

> दीसइ तेण वि सहसत्ति वाल। णं भसलें अहिणव-कुसुम-माल॥
> दीसन्ति चलण-णेउर रसन्त। णं महुर-राव वन्दिण पढ़न्त॥
> दीसइ णियम्बु मेहल-समग्गु। णं कामएव-अत्थाण-मग्गु॥
> दीसइ रोमावलि छुडु चडन्ति। णं कसल-वाल-सप्पिणि ललन्ति॥
> दीसन्ति सिहिल उपसोह देन्त। णं उरयलु भिन्देवि हत्थि-दंत॥
> दीसइ सुणासु अणु हुअ-सुअंबु। णं णयण-जलहो किउ सेउ बन्धु॥
> दीसइ णिडालु सिर-चिहुर-छण्णु। ससि-विम्बु व णव-जलहर-णिमण्णु॥—१०.३.

उसने (रावण ने) अचानक उस बाला (मन्दोदरी) को देखा, मानो भ्रमर ने अभिनव कुसुममाला देखी हो। मन्दोदरी के पैरों के बजते हुए नूपुर ऐसे मालूम होते थे मानो बन्दीजन मधुर शब्दों का पाठ कर हैं। मेखला सहित नितम्ब ऐसे लगते थे मानो कामदेव का प्रस्थान-मार्ग हो, बढ़ती हुई रोम राजि ऐसी थी मानो काली बाल नागिन ही शोभित हो रही हो। स्तन इस तरह शोभायमान थे मानो हृदय में धँसे हुए हाथी के दाँत हों। सुगन्ध का अनुभव करने वाली सुन्दर नाक ऐसी दिखाई देती थी मानो नेत्र जल के लिये सेतुबन्ध ही हो। सिर के बालों से ढंका हुआ ललाट ऐसा जान पड़ता था मानो चन्द्र बिम्ब ही नये मेघों में डूब गया हो।

यहाँ स्वयंभू के औपम्य-विधान पर विचार कर लेना चाहिए। अलंकारों के व्याज से अप्रस्तुत-विधान का उद्देश्य यह माना जाता है कि प्रस्तुत सहज बोध गम्य हो जाय और कवि

जिस भाव, विचार या वस्तु-व्यापार को शब्दों में अंकित करना चाहता है वह पूरे प्रभाव के साथ पाठक तक पहुँच जाय। जितनी ही अधिक सम्वेदनशीलता के साथ कवि अप्रस्तुत-विधान करता है उतनी अधिक रसानुभूति के साथ पाठक उसके प्रस्तुत-विधान को ग्रहण करता है। इसलिये सफल कवि अप्रस्तुत-विधान में प्रायः उन्हीं उपमानों को लाते हैं जो पाठक से चिरपरिचित होते हैं और जिनमें परम्परागत भावोत्तेजक शक्ति होती है। पाठक रूप, रंग और गुण के द्वारा वस्तुओं का चित्र ग्रहण करता है। इसलिये औपम्य-विधान में कवि को इन तीनों को सदैव ध्यान में रखकर चलना होता है। पर यह भी देखने में आता है कि कल्पना की उड़ान में कभी-कभी कवि इस नियम को भूल जाते हैं और उनके उपमान न केवल भावोत्तेजक नहीं होते वरन् अबोधगम्य, संस्कारहीन, लोकरुचि के विरुद्ध अथवा हास्यास्पद हो जाते हैं।

स्वयंभू के उपर्युक्त उदाहरण में कुछ उपमान तो इतने अधिक प्रसिद्ध और प्रचलित हैं कि उनके विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। बढ़ती हुई रोमराजि को काली नागिन से उपमित करने की लालच कवियों को रूप-रंग-साम्य के कारण हुई होगी, यद्यपि किसी नायिका में ऐसी रोमराजि शायद ही देखी गई हो, यदि वह वास्तविक भी हो तो इससे कहाँ तक नायिका के रूप-सौन्दर्य में वृद्धि होती, इस पर सभी सुविज्ञ पाठक एकमत नहीं होंगे। पर यहाँ तो स्वयंभू ने केवल परम्परा का पालन किया है। स्तनों को छाती में धँसे हुए हस्ति-दन्त से उपमित करना भावोत्तेजक तो क्या, हास्यास्पद ही है। यहाँ रूप-रंग के साम्य का तो प्रश्न ही नहीं है, कदाचित गुण-साम्य के कारण (वह भी लक्षणा के बल पर) कवि का ध्यान उस पर गया हो।

परन्तु यह समझ लेना चाहिए कि ऐसे उपमान सर्वत्र मिलेंगे। इसमें कुछ तो कवि-परम्परा से प्राप्त होंगे कुछ कवि के अपने होंगे। बात यह है कि अप्रस्तुत-विधान का उद्देश्य ही भिन्न होता है। उसके द्वारा किसी भाव या वस्तु-स्थिति की तीव्रता या गहराई की अनुभूति कराना ही कवि का लक्ष्य होता है। जब जो उपमान कवि के इस उद्देश्य में सहायक होता है कवि निःसंकोच उसका प्रयोग कर बैठता है। ऐसा करने में वह तर्क, न्याय, नीति, लोकमत या सुरुचि की तुला पर अपने उपमानों को रखकर नहीं चलता। उसे लौकिक औचित्य अनौचित्य की परवाह नहीं होती। यदि ऐसा न होता तो गोस्वामी तुलसीदास अपनी राम-भक्ति की गरिमा या गहराई को कामी पुरुष की स्त्री-रति या लोभी की धन-लिप्सा से उपमित न करते।[1]

अस्तु, स्वयंभू के सर्व-प्रिय अलंकार उत्प्रेक्षा के एक उदाहरण से अप्रस्तुत-विधान में कवि के वास्तविक उद्देश्य को समझ लेने के पश्चात् हम उनकी रचनाओं में आये हुए कुछ मुख्य अलंकारों का क्रम से रसास्वादन करेंगे।

अनुप्रास

अलंकारों के दो भेदों में पहले शब्दालंकारों का ही चमत्कार दृष्टिगोचर होता है। अतः पहले शब्दालंकारों को ही देखना चाहिए। शब्दालंकारों में भी पहले अनुप्रास का स्थान है क्योंकि वह सहज लक्ष्य हो जाता है और यदि कवि ने सहृदयता के साथ उसका नियोजन किया है तो अपनी नादात्मकता से वह काव्यानुभूति या रसोद्रेक में सहायक बन जाता है। अनुप्रास अलंकार का स्वयंभू में बहुत संयमित प्रयोग मिलता है। उसके प्रयत्न-साध्य उदाहरण केवल युद्ध-वर्णनों में या इसी तरह की किसी अन्य ऐसी स्थिति में प्राप्त होंगे जहाँ वातावरण उत्पन्न करने के

१—कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम॥ उ० का०, १३०(ख)।

लिए कवि को खोज-खोज कर वर्णों की आवृत्ति करनी पड़ी है। छेकानुप्रास के उदाहरण तो "पउमचरिउ" और "रिट्ठणेमिचरिउ" जैसे महाकाव्यों में हर पृष्ठ पर मिलते ही मिल जायेंगे।

यहाँ वृत्यानुप्रास के एक-दोउदाहरण दिये जाते हैं—

(१) सुकइ-कहव्व सु-संधि-सु-सधिय। सु-पय सु-वयण, सु-सद्द सुवद्धिय ॥ ३८.३

(२) सु-ललिय-लोयण-ललिय-पसण्णइ ॥ ३८.२.

(३) कक्कड-कवि-केस मीसावण ॥ ३५.१२.

(४) पायउल-विउल-चुंभल-बलन्तु ॥५१.१

(५) तरु तरल-तमाल-तालेल कक्कोल साला ॥ ५१.२.

(६) मन्दिर-मन्दर-मेरु-मयत्था :

(७) माहर-माह-महोअर मेहा।

(८) भीम भयाणय भीमणिणाया। ५६.८

पहले उदाहरण में अनुप्रास की छटा के साथ श्लेष का अर्थ-गौरव भी है। चौथे में आदि वर्ण की आवृत्ति न होकर अंतिम वर्ण की है और पाँचवे में तीन शब्दों में आदि और अंतिम दोनों स्थानों पर वर्ण की आवृत्ति से विशेष प्रकार की तादात्मकता उत्पन्न हो गई है।

यमक—

नीचे यमक के कुछ उदाहरण देखिए—

(१) जीवाउ वाउ हय हय वराय। सन्दण सन्दण गय गय जे जाय।
तणु तणु जे खणद्धें खयहो जाइ। धणु धणु जि गुणेण वि वंकु थाइ ॥
दुहिया वि दुहिय माया वि माय। सम-भाउ लेन्ति किर तेण भाय ॥ २२.३

जीव की आयु वायु है, हय (घोड़े) हत (आहत) हो जाते हैं। रथ खंडित हो जाते हैं। गज रोग को प्राप्त हो जाते हैं। तन तृण की तरह है जो आधे पल में नष्ट हो जाता है। धन धनुष की तरह है जो गुण से भी टेढ़ा हो जाता है। दुहिता भी दुष्ट हृदय होती है, माता भी माया है। सम भाग बँटाने के कारण ही भाई-भाई हैं।

(२) एह ण सीय वणे ट्ठिय मल्ली। सव्वहु हियए पइट्ठिय मल्ली ॥
एह ण सीय जीह जमराय हो। केवल हाणि जसुज्जम-राय हो ॥३७.४.

(विभीषण रावण को समझाता है) यह नन्दव उपवन में स्थित मनोज्ञा सीता नहीं है, यह लंका निवासियों के हृदय में प्रविष्ठ भाला है। यह सीता नहीं है, यमराज की जिह्वा है, यश, पुरुषार्थ और राज की हानि है।

(३) पुणु वि गरुउ संताउ विहीसणे। काइं णिवारिउ ण किउ विहीसणे ॥
(विहीसणे=(१) विगत भय (रावण), (२) विभीषण द्वारा)

फिर भी हे घोर संतापकारी निर्भीक रावण ! तुमने विभीषण के निवारण करने पर कुछ कान नहीं दिया।

(४) सुहड-सुहड-संखोह-भासुरं। पडह-भेरि-संखोह-भासुरं ॥ ५७.६.
(सुहड=(१) सुभट, (२) सुघटित (ख) संखोह=(१) संक्षोभ (२) शंखों का समूह। भासुरं=(१) भयंकर, (२) प्रभापूर्ण ध्वनि (भा+सुर)।

सुभट सुसज्जित रथों में बैठे हुए क्रोध से भयंकर लग रहे थे। नगाड़ा, भेरी और शंख-समूह से प्रचंड ध्वनि हो रही थी।

पउमचरिउ की पूरी ५७ संधि यमक के उदाहरणों से परिपूर्ण है।

श्लेष—

दो-चार उदाहरण श्लेष के प्रस्तुत किये जाते हैं :

(१) ऊपर अनुप्रास का पहला उदाहरण 'श्लिष्ट-पद-संकुल भी है। 'चन्द्रनखा की दृष्टि में सीता का सौन्दर्य कैसा जँचा, इसी का वर्णन इस पंक्ति में है। सीता सुकवि की कथा की तरह सुसंधि सुसंधिय, सुपय, सुसद्द और सुबद्ध थीं। श्लेष के बल पर इन विशेषणों का अर्थ कवि की सुन्दर कथा और सीता दोनों पक्षों पर घटाया गया है, यद्यपि "सुसंधि" और "सुसंधिय" से कवि ने क्या अंतर किया है, यह पूर्णतया स्पष्ट नहीं है।

(२) ताव तेत्थु णिज्झाइय वावि असोय-मालिणी।
हेमवण्ण स-पओहर मणहर णाइं कामिणी ॥४२.९.
(स-पओहर=स्तन-सहित, जल-सहित)

—वहाँ उसे अशोकमालिनी नाम की सुन्दर वापिका दिखाई दी जो कामिनी की तरह सुनहरे रंग की, पयोधर (स्तन और जल) से युक्त थी।

(३) तइयउ वणु सुहसेउ सुहावउ। जिणवर-सासणु णाइं स-सावउ।
(स-सावउ=(१) श्रावक (२) वृक्ष विशेष)

तीसरा, सुहावना सुहसेउ वन था जो जिनवर की शासन की तरह सावय (श्रावक और वृक्ष विशेष) से युक्त था।

(४) कत्थय पडियइं पासा-जूअइं।
मुणिवर इव जिण-णामु लयन्तइं। वन्दिण इव सु-दाय मग्गन्तइं ॥

—कहीं पर जुए के पासे फेंके जा रहे थे, जुआड़ी मुनिवर की तरह जिन (जिनेन्द्र और जीत) का नाम ले रहे थे और बन्दी-जन की भाँति सु-दाय (सुदान-सुन्दर दाँव) माँग रहे थे।

अब अर्थालंकारों पर आते हैं, जहाँ अर्थ द्वारा काव्य के सौन्दर्य में वृद्धि की जाती है। स्वयंभू को इनमें सादृश्य मूलक अलंकारों से बहुत प्रेम है। हम आरम्भ में कह चुके हैं कि उत्प्रेक्षा उनका सर्वप्रिय अलंकार है। उत्प्रेक्षा के मूल में भी उपमा ही होती है। स्वयंभू में उपमा अलंकार के भी सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। नीचे पहले इसी के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

उपमा—

लंका को नववधू रूप में चित्रित करता हुआ कवि कहता है :

(१) तहिं गिरिवर वट्टे सोहइ लंकाणयरि किह।
थिय गयवर-खन्धे गहिय-पसाहण बहुअ जिह ॥ ४२.९

(इस पद में लंका नगरी उपमेय है वधू उपमान है, सोहइ समान धर्म है और किह-जिह वाचक हैं।)

(२) सुकइ-कहहो जिह खल-मइउ हिम बद्दलियउ कमलिणिहिं जिह।
होन्ति सहावें वइरिणिउ तिय-सुण्हइं खल-सासुअउ तिह ॥

—जैसे सुकवि की कथा के लिए दुर्जनों की बुद्धि या कमलिनी के लिए हिम मेघ है वैसे ही बहुओं के लिए सासें दुश्मन होती हैं।

(३) सज्जण-चित्त-मिहेहि कापुरिसु जेम । ण पइसइ उज्झाहे चक्कु तेम ॥ ४. १.

—सज्जन विमर्शित में जैसे कापुरुष समाज प्रवेश नहीं कर सकता, वैसे ही भरत के चक्ररत्न ने अयोध्या में प्रवेश नहीं किया ।

मालोपमा—

उपमा से अधिक मालोपमा में स्वयंभू की रुचि है । जहाँ एक उपमेय के बहुत से उपमान कहे जायं वहाँ मालोपमा अलंकार होता है । एक ही बात को अनेक उपमानों से अनुभव-गम्य बनाना स्वयंभू की एक विशेष आदत है । आकाश में मेघ-जाल के फैलने का भाव- बोध कराने के लिए वह एक साथ बारह उपमान ढूंढ लाते हैं :

(१) पसरइ मेह-विन्दु गयणंगणे । पसरइ जेम सेणु समरंगणे ॥
पसरइ जेम तिमिरु अण्णाणहो पसरइ जेम बुद्धि बहु-जाणहो ॥
पसरइ जेम पाउ पाविट्ठहो । पसरइ जेम धम्मु धम्मिट्ठहो ॥
....

पसरइ जेम दवग्गि वणन्तरे । पसरइ मेहु-जालु तिह अम्बरे ॥२८.१

इसे एक धर्मा मालोपमा का उदाहरण कहा जा सकता है क्योंकि यहाँ सब उपमानों का एक ही धर्म "पसरइ" कथन किया गया है । विशेषता यह है कि धर्म के एक होते हुए भी उसका कथन हर उपमान के साथ अलग-अलग हुआ है । इससे मालोपमा अलंकार पुनरुक्ति प्रकाश से सम्वलित हो गया है ।

नीचे एक उदाहरण ऐसा दिया जाता है जिसमें धर्म-कथन केवल एक बार हुआ है :

पइसरइ ण पट्टणे चक्क-रयणु । जिह अबुहब्भन्तरे सुकइ-वयणु ॥
जिह वम्भयारि-मुहे काम-सत्थु । जिह गोट्ठंगणे मणि-रयण-वत्थु ॥
जिह वारि-णिवन्धणे हत्थि-जूहु । जिह कुजण-जणे सज्जण-समूहु ॥४.१

—(भरत का) चक्ररत्न अयोध्या की सीमा में वैसे ही नहीं प्रविष्ट हो रहा था जैसे मूर्ख लोगों के भीतर सुकवि के वचन, ब्रह्मचारी के मुख में कामशास्त्र का प्रवचन, गोठ में मणि-रत्नों का समूह, द्वार के निबन्धन में हाथियों का समूह और कुजनों के मध्य सज्जन-समाज ।

रूपक—

अब रूपक अलंकार के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं । जब उपमेय में उपमान का निषेध-रहित आरोप किया जाय तो रूपक अलंकार होता है ।

(१) जो मइलिउ विहि परिणामेण अयस-कलंक-पंक मलेहिं ।
सो जस-पडु पक्खालेवउ दहमुह-सीस-सिलायलेहिं ॥ ७७.१२

—(राम प्रतिज्ञा करते हैं) भाग्य के परिणामस्वरूप जो मेरा यश-वस्त्र अकीर्ति के कलंक के पंक से मैला हो गया है उसे रावण के सिर की चट्टान पर प्रक्षालित करूँगा ।

(२) पंकय वयणउ कुवलय-णयणउ केयइ-केसर-सिर-सेहरु ।
पल्लव करयलु कुसुम णहुज्जलु पइसरइ वसन्त-णरेसरु ॥ १४.१

यहाँ सांगरूपक द्वारा वसंत को राजा के रूप में चित्रित किया गया है । पंकज उसका मुख है, कुमुद नेत्र हैं, केतकी का पराग सिर का मुकुट है, पल्लव हाथ हैं, फूल उज्ज्वल नख हैं ।

(३) सो राहव-केसरि जिवडेवि उप्परि णिसियर-करि-कुंभत्थलई ।
कीलए जे दलेवइ णवरुवेमि वेवइ णाणइ-जस-मुत्ताहलइं ॥ ५८.३

इस घत्ता में राम की सिंह से और निशाचर रावण की हाथी के कुंभस्थल से तथा जानकी की पुन: प्राप्ति के यश की मोती से एकरूपता स्थापित की गई है। इस प्रकार एक सुन्दर रूपक का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

(४) कलि-कलुस-सलिल-सोसण-पतंग ।।

(५) किय मोह-महासुर-णयर-डमरू ।।

(६) जाणिय संसार-समुद्द थाहु ।। २२.४

ऊपर के तीनों उदाहरणों में उपमेय और उपमान इतने लोक-प्रचलित हैं कि उनके विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। कवि की समास-पद्धति भी वर्दनीय है।

उत्प्रेक्षा—

उत्प्रेक्षा का एक उदाहरण पहले दिया जा चुका है। यह भी कहा गया है कि यह स्वयंभू का सबसे अधिक प्रिय अलंकार है। सचमुच उनके वस्तु-वर्णन में उत्प्रेक्षा-अलंकार उनका सबसे बड़ा सहायक है। उनकी कल्पना का चरम उत्कर्ष इसके माध्यम से दिखाई देता है। नीचे उत्प्रेक्षा के कुछ और उदाहरण दिये जा रहे हैं :

(१) कहें वि सरुहि रहं दिट्ठइं णहरइं थण-सिहरोवरि सु-पहुत्तइं।
वेगेंण वलग्गहो मयण तुरंगहों णं पायइं छुडु छुडु खुत्तइं ।। १४.७

—किसी के स्तन के अग्रभाग में लगे रक्तरंजित नख-चिन्ह ऐसे लगते थे मानो वेग से जाते हुए काम-तुरंग के पैरों के घाव हों।

(२) कत्थ वि णाणविह-रुक्ख-राइ। णं महि-कुल वहुअहें रोम-राइ ।। ३६.१

—कहीं पर नाना प्रकार की वृक्ष-मालाएँ थीं जो मानो धरारूपी वधू की रोमराजि ही हों।

(३) रेहइ करयल-कमलाइद्धउ। णं महुअरु मयरन्द-पइद्धउ ।। ५.६

सीता के कर कमल में लिपटी हुई वह अंगूठी ऐसी जान पड़ती थी मानो मधुकर ही पराग में प्रविष्ट हो।

(४) सोहइ धवय-वडेण आवेढिउ दससिर-सिरु-पवरु।
णं सुर-सर वाहेण कइलासहों तणउ तुंग-सिहरु ।। ७३.४

धवल वस्त्र से आवेष्ठित रावण का उच्च सिर ऐसे शोभा दे रहा था, मानो कैलाश के तुंग शिखर पर गंगा का प्रवाह ही हो।

(५) रेहइ सुन्दरि सहुँ सुन्दरेणु। वर-करिणि णाइं सहुं कुंजरेण।
णं रत्त संझ सहुँ दिणयरेण। णं सुरसरि सहुं रयणायरेण ।।
णं सीहिणि सहुँ पंचाणणेण। जिय पउम णाइं सहुं लक्खणेण ।।

सुन्दर (हनुमान) के साथ सुन्दरी (लंका-सुन्दरी) ऐसे सोह रही थी मानो गज के साथ हथिनी ही हो, मानो दिनकर के साथ संध्या ही हो, मानो रत्नाकर के साथ गंगा हो मानों सिंह के साथ सिंहनी हो या लक्ष्मण के साथ जितपद्मा हो।

अपह्नुति—

उपमेय के निषेधपूर्वक उस पर उपमान के आरोप को अपह्नुति अलंकार कहते हैं। स्वयंभू ने इसका एक सुन्दर उदाहरण विशल्या के 'रूप-वर्णन' के प्रसंग (६९.२१) में दिया है। पूरा वर्णन १३ पंक्तियों में समाप्त होता है। यहाँ उससे कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं।

किं चलण-तलग्गइं कोमलाइं । णं णं अहिणव-रत्तुप्पलाइं ॥
किं ऊरु परोप्पर णिज्जितेय । णं णं णव-रंभा खंभ एव ॥
किं रोमावलि थण कसण एह । णं णं मयणाणल-धूम-लेह ॥
किं णव-थण णं णं कणय-कलस । किं करयं णं पारोह-सरिस ॥
किं आणणु णं णं चन्द-बिम्बु । किं अहरउ णं णं पक्क बिम्बु ॥

उपमेय सभी परम्परा से प्राप्त हैं। कदाचित् रोमराजि को मदनानल-धूम-लेख कहने में थोड़ी नवीनता हो। भाषा का प्रवाह और छंद की लय रसानुभूति में सहायक हैं।

व्यतिरेक—

जहाँ उपमेय में उपमान से सकारण उत्कर्ष दिखाया जाय वहाँ व्यतिरेक अलंकार होता है। श्रेणिक के वर्णन में (१.६) स्वयंभू ने इस अलंकार का समावेश किया।

ताहिं सेणिउ णामें णय-णिवासु । उवमिज्जइ णरवइ कवणु तासु ॥
किं तियणयणु णं णं विसम-चक्खु । किं ससहरु णं णं एक्क-पक्खु ॥
किं दिणयरु णं णं दहण-सीलु । किं हरि णं णं कय-भुअण-लीलु ॥
किं कुंजरु णं णं णिच्च मत्तु । किं गिरि णं णं ववसाय-चत्तु ॥
किं सायर णं णं खार-णीरु । किं वम्महु णं णं हय-सरीरु ॥
किं फणिवइ णं णं कर-भाउ । किं मारुउ णं णं चल-सहाउ ॥
किं महुमहु णं णं कुडिल वक्कु । किं सुरवइ णं णं सहस-अक्खु ॥

जिनेश शंकर से लेकर चन्द्रमा, सूर्य, हाथी, पर्वत, सागर, कामदेव, फणीन्द्र, मारुत, विष्णु, इन्द्र सभी को कवि श्रेणिक की तुलना में अनुपयुक्त पाता है। उपमानों की पंक्ति खड़ी कर देना स्वयंभू की विशेषता है ही प्रायः हर अलंकार में इसका निदर्शन वह करते हैं।

परिसंख्या—

अब परिसंख्या का एक उदाहरण दृष्टव्य है। जब किसी वस्तु या व्यापार का अन्य स्थलों से निषेध करके केवल एक स्थान पर ही कथन किया जाय तो परिसंख्या अलंकार होता है। जीवंत-नगर (२९.१) के वर्णन में कवि ने इस अलंकार का निदर्शन किया है।

पट्टणु तिहि मि तेहिं आवज्जिउ । दिणयर-बिम्बु व दोस-विवज्जिउ ॥
णवर होइ जइ कम्पु घएसु । हउ तुरएसु जुज्झु सुरएसु ॥
घाउ मुखेसु । भंगु चिहुरेसु ॥
जउ रुद्देसु । मलिणु चन्देसु ॥
खलु खेत्तेसु । दंड छत्तेसु ॥
बहुकर गहणेसु । पहरु दिवसेसु ॥
वणु दाणेसु । चित्त झाणेसु ॥
सुर सग्गेसु । सीहु रण्णेसु ॥
कलहु गएसु । संक कव्वेसु ॥
डरु वसहेसु । वेलु गयणेसु ॥
वणु कव्वेसु । झाणु मुक्खेसु ॥

उस नगर में कम्पन केवल पताकाओं में, हत, (घाव) अश्वों में, द्वन्द्व सुरति में, आघात मृदंग में, भंग केशों में, जड़ता रुद्र में, मलिनता चन्द्र में, खल खेतों में, दंड छत्रों में, दान ग्रहण

में, प्रहर दिन में, अब रात में, मिलन स्थान में, सुर संकेत में, सिद्ध अरण्य में, कलह सर्गों में, अंक काव्यों में, मय शैलों में, देव आकाश में, वन (वन, खेत) जंगलों में और ध्यान मुक्त नरों में था।

इस उदाहरण में स्वयंभू की तीर्थ-प्रियता दर्शनीय है।

अनन्वय—

अनेकार्थक शब्द अलंकार है। स्वयंभू में उसके भी दो-एक उदाहरण मिल जाते हैं। जब उपमेय के समान अन्य कोई उपमान न मिले और उपमेय स्वयं ही उपमान के रूप में वर्णित हो तब अनन्वय अलंकार होता है :

(१) जइ पर तं जि तासु उवमिज्जइ ॥ २९.१

(२) जहिं वेसु वि तासु जें अणुसरिसु ॥ ६.५

लोकोक्ति—

किसी लोक-प्रसिद्ध कहावत के प्रयोग में लोकोक्ति अलंकार होता है। रावण के प्रति कथित विभीषण की एक उक्ति में इसका सुन्दर उदाहरण आया है :

भणइ विहीसणु कुइय-मणु वयणु णिएवि दसाणण केरउ।
मरण-कालें आसण्णे थिए सव्वहो होइ चित्तु विवरेरउ ॥ ५७.३

विनाश-काल आने पर बुद्धि विपरीत हो जाती है, इसी लोकोक्ति का कवि ने किंचित परिवर्तित रूप यहाँ दिखलाया है।

इस प्रकार हम स्वयंभू के काव्य में अनेक प्रकार के अलंकारों का प्रयोग होते हुए देखते हैं। जैसा कि हम कई बार ऊपर कर चुके हैं स्वयंभू में उत्प्रेक्षा अलंकार की इतनी अधिकता है कि दूसरे सभी अलंकार उसके सामने नगण्य से लगते हैं। अतिशयोक्ति, अत्युक्ति आदि जो कवियों के इतने प्रिय अलंकार होते हैं स्वयंभू में उत्प्रेक्षा से ही संवलित मिलते हैं, इसलिए उनके उदाहरण अलग से नहीं दिए गए हैं।

रस-व्यंजना—

प्रस्तुत प्रकरण को समाप्त करने के पहले स्वयंभू की रस-व्यंजना पर विचार कर लेना आवश्यक है। यह बात तो निर्विवाद है कि पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ दो महाकाव्य शान्त रस पर्यवसायी हैं, क्योंकि दोनों में उनके नायकों का अंत वैराग्य मूलक है। पर शान्त रस के अंगी रस होने पर भी इन काव्यों में शृङ्गार और वीर रस को इतनी महत्ता दी गई है कि प्रभावान्विति को उसके कारण व्याघात पहुँचता है। भारतीय परम्परा के अनुसार महाकाव्य में शृंगार, वीर और शान्त रस में से एक को अंगी होना चाहिए। यदि आधिकारिक कथा की दृष्टि से देखा जाय तो पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ दोनों में वीर रस की प्रधानता माननी चाहिए क्योंकि दोनों में नायकों के द्वारा अन्त में प्रति-नायक का वध दिखाया जाना ही मुख्य वर्ण्य विषय है। उसके पूर्व कथा को चरम परिणति पर पहुँचाने के लिये युद्धों की लम्बी शृंखला का वर्णन किया जाता है। विशुद्ध काव्योत्कर्ष की दृष्टि से इन महाकाव्यों की समाप्ति प्रतिनायक (रावण और जरासंध) के वध के साथ हो जानी चाहिए, पर इससे कवि का धार्मिक उद्देश्य पूरा न होता। इसलिए पउमचरिउ में सीता के निर्वासन और अग्नि-परीक्षा के प्रसंग से आरम्भ करके धर्मोपदेश-कथनों के बहाने कथा का विस्तार किया जाता है और राम के तपश्चरण से उसे शान्त रस पर्यवसायी बनाया

जाता है। रिट्ठणेमिचरिउ के अंत में णेमि तीर्थंकर के चरित-विस्तार, कृष्ण की मृत्यु और बलदेव की परीक्षा-दीक्षा तथा मोक्ष के वर्णन से पूरा वातावरण धार्मिक, शान्तिमय और निर्वेद-पूर्ण बन जाता है। अस्तु, बीच में इन महाकाव्यों का वातावरण शृंगार और युद्ध से कितना भी ओत-प्रोत क्यों न हो, अंत में वह शान्ति-आप्लावित बनता है। जैकर का कथन कि, शृङ्गार और वीर रस को अधिक महत्ता मिलने के कारण इन महाकाव्यों की प्रभावान्विति को व्याघात पहुँचता है, तभी सत्य प्रतीत होता है जब हम समग्र रूप से इन पर दृष्टिपात करते हैं।

वस्तु-वर्णन के अन्तर्गत हमने उन अनेक वस्तु-व्यापारों के उदाहरण दे दिये हैं जिनकी सहायता से कवि ने रस निष्पत्ति का प्रयत्न किया है और जो आलम्बन, उद्दीपन, विभाव, अनुभाव के रूप में रस के अवयव कहलाते हैं। शृंगार, वीर, शान्त आदि रसों की अनुभूति कराने में स्वयंभू की सफलता उन वर्णनों से आंकी जा सकती है। उदाहरण के लिये शृंगार-रस में वियोगावस्था का वर्णन सीता-हरण के पश्चात् राम की उक्तियों में देखा जा सकता है।[1] भामण्डल और रावण की विरह जनित दस-दशाओं के वर्णन के रूप में भी स्वयंभू ने वियोग-वर्णन के उदाहरण दिये हैं।[2] लेकिन ये परम्परा-भुक्त हैं और इच्छित रसानुभूति नहीं कराते। संयोग-शृङ्गार का वर्णन रावण-मन्दोदरी, लक्ष्मण-वनमाला और वसुदेव-गन्धर्वमाला के प्रसंग में सुन्दर हुआ है। पूर्वाराग का वर्णन सीता के चित्र पर भामण्डल की अनुरक्ति के रूप में हुआ है : अनुभावों का सर्वोत्कृष्ट वर्णन उस समय हुआ है जब वसुदेव के रूप को देखकर नगर की स्त्रियाँ सुध-बुध खो बैठती हैं और विपरीत आचरण करने लगती हैं। हम यह कह चुके हैं कि स्वयंभू ने उद्दीपन-विभाव के रूप में प्रकृति या वस्तु वर्णन बहुत कम किया है।

युद्ध का वर्णन इतना सजीव और सांगोपांग है कि वीर रस की पूरी अनुभूति कराने में कवि को सफलता हुई है। अधिकतर योद्धाओं की दर्पोक्तियों को ही उद्दीपन रूप में चित्रित किया गया है। युद्ध-वर्णन के प्रसंग में लोथों से पटे और रक्त-मज्जा से परिपूर्ण युद्ध क्षेत्र के चित्रण के द्वारा कवि ने वीभत्स रस की भी अनुभूति कराने का उपक्रम किया है।

निर्वेद की अनुभूति जिनेन्द्र की स्तुति में निवेदित स्तोत्रों से कराई गई है, जैसे—

जय जय जिण वरिन्द धरणीन्द-णरिन्द-सुरिन्द-वन्दिया।
जय जय चन्द-सन्द-धर-किन्नर-बहु विज्जाहि वन्दिया॥
जय जय दुट्ठ-मट्ठ-दुट्ठट्ठ-कम्म-दिढ-बन्ध-खोडणा।
जय जय कोह-लोह-अण्णाण-माण-दुम-पन्ति-मोडणा॥
तुहुं सव्वण्हु सव्व-णिरवेक्खु णिरंजणु णिक्कलो परो।
तुहुं णिरवयवु सुहुमु परमप्पउ परमु लहु परंपरो॥
तुहुं णिल्लेउ अ-लेउ अप्पमाणु अक्खउ वीयरायओ।
तुहुं गइ मइ सरणु मम सामरि सुहि सहायओ॥ ८६.१५

इस प्रकार रस-निष्पत्ति की दृष्टि से हम देखते हैं कि स्वयंभू जितने कुशल वीर और शृंगार रसों की अनुभूति कराने में हैं उतनी कुशलता उन्हें शान्त-रस के निरूपण में भी है।

१—देखिये "चरित्र-चित्रण", पृ० १२।
२—प०च०, संधि—२१.६, ३८.५।

अध्याय ६

स्वयंभू के धार्मिक तथा दार्शनिक विचार

स्वयंभू कवि हैं और अपनी दोनों कृतियों को उन्होंने काव्य-रचना का प्रयास कहा है।[1] पर स्वयंभू का दृष्टिकोण मूलतः धार्मिक है जिसका प्रभाव उनके समस्त काव्य पर लक्षित होता है। उनकी काव्य-साधना के मूल में धार्मिक भावना है। काव्य को धर्म-प्रचार का साधन बनाना कोई नई बात नहीं। स्वयंभू के पहले भी यह हो चुका था और बाद में भी यह हुआ है। हिन्दी-भक्ति-काल के सभी कवियों ने यही किया। विशुद्ध और निरपेक्ष साहित्य-साधना के लिए भक्त-कवियों ने लेखनी नहीं चलाई। काव्य तो उनके लिए भक्ति का एक साधन था, साध्य नहीं। रीति-काल में इसके विपरीत हुआ। तब कवियों ने काव्य-रचना का लक्ष्य सामने रखा और किसी-किसी ने उस पर भक्ति का ऊपरी बाना चढ़ा लिया। पर भक्ति वहाँ हृदय की नहीं थी, इसलिए रीति-काल में कविता अपने उच्च स्थान से स्खलित हो गई। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि कविता सच्चे मन से की जाय तो काव्य-साधना को कवि का धार्मिक दृष्टिकोण बाधा नहीं पहुँचाता। स्वयंभू की काव्य-साधना उनकी धार्मिक साधना का एक अंग है, पर इससे उसका मूल्य कम नहीं हो जाता।

स्वयंभू में धार्मिक आस्था बहुत जबर्दस्त है। स्थान-स्थान पर उनके पात्र धर्म की ही विजय का उद्घोष करते हैं, यथा:—

धम्मेण जाण-जम्पाण-धय। धम्मेण भिच्च-रह-तुरय-गय ।।
धम्मेणाहरण विलेवणइं। धम्मेण णियासण-भोयणइं ।।
धम्मेण बलतरु मणहरइं। छुधम्मेण हा-पंडुर - घरइं ।।
धम्मेण पिण्ड-पीण त्थणउ। चमरइं पाडन्ति वरंगणउ ।।
धम्मेण मणुय-देवत्तणइं। बलएव वासुए त्तणइं।
धम्मेण अरुह-सिद्धत्तणइं। तित्थकर-चक्कहरत्तणइ ।।
एवकें धम्में होन्तएण इन्दा देव वि सेव करन्ति।
धम्म-विहूणहों माणुसहों चण्डाल वि पंगणएं णा ठन्ति। ६१४ प० च०

धर्म से पीनस्तनी स्त्रियों की प्राप्ति से लेकर तीर्थंकर-पद तक की उपलब्धि संभव बताई गई है। एक धर्म के रहने से इन्द्र और देव भी सेवा करते हैं। धर्म रहित व्यक्ति के घर में चाण्डाल भी पैर नहीं रखता।

धर्म की प्रेरणा से पाण्डु राज्य का त्याग कर ऋषि-संघ में चले आते हैं·

पंडुहे रज्जु करन्ताहो धम्मु विणु अणु णा रुच्चई।
धम्मु विणु बस अप्पाणु दिए तव सुउ धम्म धुत्तेहु पुच्चइं। १४. ६. रि० च०।

स्वयंभू की रचनाओं में जैनों की धार्मिक मान्यताओं के दोनों पक्षों-आचारात्मक और विचारात्मक—का निरूपण मिलता है। जैन मतवाद का शायद ही कोई अंग हो जो स्वयंभू

[1]—दे० अध्याय ५।

की दृष्टि से ओझल हो गया हो। एक अवलम्बित योजनानुसार उन्होंने जैन-धर्म और दर्शन का पूरा व्याख्यान उपयुक्त पात्रों द्वारा उपयुक्त अवसरों पर कराया है। इससे पहले कि हम उन स्थलों का विश्लेषण करें हमें जैन-धर्म में स्वयंभू की व्यक्तिगत स्थिति और विश्वासधारा का ज्ञान हो जाना चाहिए।

स्वयंभू गृहस्थ थे, साधु या मुनि नहीं, जैसा कि उनके ग्रंथों की कुछ प्रतियों में मिलता है स्वयंभू ने अपने वंश, गोत्र आदि का कोई उल्लेख नहीं किया है। इसी तरह अन्य जैन ग्रन्थ कर्त्ताओं की भाँति उन्होंने अपने गुरु या सम्प्रदाय की भी कोई चर्चा नहीं की है।[1] पुष्पदन्त के महापुराण के "स्वयंभु" शब्द के टिप्पण में उन्हें "आपुलीसंघीय" बताया गया है।[2] इससे अनुमान है कि वह यापनीय सम्प्रदाय के अनुयायी थे। जैन समाज दिगम्बरों के अनुसार वि०सं० १३६ में और श्वेताम्बरों के अनुसार वि०सं० १३९ में दो सम्प्रदायों में विभक्त हुआ था। श्वेताम्बर-दिगम्बर-उत्पत्ति के ६०-७० वर्ष बाद जैनों में यापनीय नामक तीसरे सम्प्रदाय की उत्पत्ति बताई जाती है। किसी समय यह सम्प्रदाय कर्नाटक और उसके आस-पास बहुत प्रभावशाली रहा। जैसा कि हम देख चुके हैं स्वयंभू का कार्य-क्षेत्र भी कर्नाटक ही था। इसलिए यह सम्भव है कि स्वयंभू यापनीय-संघ के अनुयायी रहे हों। किन्तु इस समय उस संघ का नाम ही नाम रह गया है और उसका एक भी अनुयायी नहीं है। वैयाकरण शाकटायन और महाकवि स्वयंभू उसके दो कीर्ति-स्तम्भ माने जाते हैं। उसकी विशेष विचारधारा को बताने वाला साहित्य अभी तक अनुपलब्ध है। जो कुछ थोड़ी-बहुत सामग्री या साक्ष्य प्राप्त होता है उसके आधार पर श्वेताम्बरों की अपेक्षा वह दिगम्बरों के अधिक समीप लगता है। अधिक निश्चित जानकारी के अभाव में चाहे स्वयंभू के यापनीय संघीय होने-अथवा-न होने के विषय में कोई अन्तिम निर्णय न हो सके पर अन्त: साक्ष्यों के आधार पर उन्हें दिगम्बर सम्प्रदाय का अनुयायी मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। कोई आश्चर्य नहीं कि स्वयंभू के मन में दोनों सम्प्रदायों की मान्यताओं के लिए आदर-भाव रहा हो, क्योंकि ज्ञात-तथ्यों के अनुसार दोनों में विरोध की अपेक्षा साम्य अधिक था। नाथूराम प्रेमी का झुकाव स्वयंभू को दिगम्बर मानने की ओर अधिक प्रतीत होता है।[3] भायाणी का मत उन्हें यापनीय मानने के पक्ष में है।[4]

इतना निश्चित है कि स्वयंभू श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी नहीं थे क्योंकि "पउमचरिउ" और "रिट्ठणेमिचरिउ" दोनों ग्रन्थों में उनके दिगम्बर होने के प्रमाण मौजूद हैं। दोनों में, दिगम्बर-परम्परानुसार, राम और कृष्ण की कथा श्रेणिक के पूछने पर इन्द्रभूति गौतम द्वारा कहलाई जाती है, जबकि श्वेताम्बरीय कथाग्रन्थों में राम-कृष्ण-कथा की अवतारणा जम्बू स्वामी के प्रति सुधर्म स्वामी द्वारा कराई जाती है। दोनों ग्रन्थों में तीर्थंकरों के जन्म के पूर्व आने वाले स्वप्नों की संख्या १६ बताई गई है जो दिगम्बर-मतानुमोदित है।[5] श्वेताम्बर मतानुसार यह संख्या १४ है।

१—प्रेमी, पृ० १९७।

२—"स्वयंभु : पद्धडीबद्ध कर्ता आपलीसंघीय :" महापुराण १.९.५।

३—प्रेमी, पृ० १९८।

४—भायाणी, पउमचरिउ, भूमिका, पृ० १३।

५—प०च०, संधि १.१५। रि०च०, संधि ८.३। (सयणंकोवरि निद्दपमत्तइं। सोलह सिविणइं दिट्ठइं सिवएवि॥)

जो कुछ भी हो, यदि हम मत-मतान्तर की बात अलग रख दें और स्वयंभू को एक धर्म-भीरु व्यक्ति के रूप में, मानव-धर्म की व्यापक पृष्ठभूमि में रखकर देखें, तो वह उदार-चेता, विशाल-हृदय मनुष्य प्रतीत होते हैं। धर्म-प्रचार के उद्देश्य से लिखे गये ग्रन्थों में यह अनिवार्य है कि अन्य प्रतिस्पर्द्धी धर्मों की यदा-कदा आलोचना हो, उनकी असंगतियाँ बताई जायँ या अपने धर्म के सामने उनका पराभव दिखाया जाय। स्वयंभू के "पउमचरिउ" और रिट्ठणेमिचरिउ" का आरम्भ हिन्दू धर्म में प्रचलित राम और कृष्ण-कथा की असंगतियों के वर्णन से होता है।[1] पउमचरिउ में एक स्थान पर[2] जटायु पक्षी को उसके पूर्व-भव में बौद्ध धर्मानुयायी दंडक राजा बताया गया है। फिर त्रिकाज्ञ जैन मुनि और बौद्ध राजा के बीच जैन-बौद्ध-दर्शन की तुलनात्मक श्रेष्ठता पर विवाद होता है। एक अन्य स्थान पर वन का वर्णन करते हुए बौद्ध-धर्म के प्रति अव-हेलना या अवमानना की भंगी में, कवि ने उसे बौद्धों के गर्जन की तरह निःशून्य कहा है।[3]

किन्तु इसके साथ ही अनेक स्थल ऐसे भी हैं जहाँ स्वयभू ने हिन्दू अवतारों और देवताओं का तथा महात्मा बुद्ध का नाम आदर के साथ लिया है। धार्मिक संकीर्णता और पूर्वग्रह से ऊपर उठकर उन्होंने हिन्दू-बौद्ध-जैन तीनों धर्मों के आराध्यों की एक ही देव में एकता स्वीकार की है और प्रकारान्तर से यह माना है कि नामों में भिन्नता होते हुए भी वस्तुतः सब धर्मों का मूल तत्व एक ही है।

अपने अनेक पात्रों के मुख से स्वयंभू ने अपनी उदार धार्मिक भावना की अभिव्यक्ति कराई है। विट-सुग्रीव का विनाश कर सुग्रीव से मैत्री स्थापित करने के तुरन्त पश्चात् राम-चन्द्र प्रभु जिन की स्तुति इन शब्दों में करते हैं :

> जय तुहुँ गइ तुहुँ मइ तुहुँ सरणु। तुहुँ माया-वप्पु तुहुँ वन्धु-जणु॥
> तुहुँ परम-पक्खु परमत्ति-हरु। तुहुँ सव्वहुँ परहुँ पराहियरु॥
> तुहुँ दंसणे णाणे चरित्ते थिउ। तुहुँ सयल-सुरासुरेहिँ णमिउ॥
> सिद्धन्तें मन्तें तुहुँ वायरणें। सज्झाएं झाणें तुहुँ तव-चरणें॥
> अरहन्तु बुद्धु तुहुँ हरि हरु वि तुहुँ अण्णाण-तमोह-रिउ।
> तुहुँ सुहुम निरंजणु परमण्उ तुहुँ रवि वम्भु सयम्भु सिउ॥ ४३·१६

जय हो, तुम्हीं मेरी गति हो, तुम्हीं मेरी मति हो, तुम्हीं मेरी शरण हो, तुम्हीं मेरे माँ-बाप हो, तुम्हीं बन्धुजन हो। तुम्हीं परमपक्ष हो, तुम्हीं परमतिहरणकर्ता हो, तुम्हीं सब में परात्पर हो। तुम्ही दर्शन, ज्ञान और चारित्र में स्थित हो, तुम्हें सुरासुर नमन करते हैं। सिद्धान्त, मंत्र, व्याकरण, संध्या, ध्यान और तपश्चरण में तुम्हीं हो। अरहन्त, बुद्ध तुम्हीं हो। हरि, हर और अज्ञान रूपी तिमिर के शत्रु तुम्हीं हो। तुम सूक्ष्म निरंजन और परमपद हो, तुम सूर्य, ब्रह्मा, स्वयंभू और शिव हो।

कौरवों की ईर्ष्या और षड्यंत्र के फलस्वरूप जब पाण्डवों को राजधानी छोड़ वारणावत नगर को जाना पड़ता है तो कुन्ती पुत्रों-समेत जिन-भवन में जाकर वन्दना करती है—

> "जय देवाहिदेव जय णिम्मल। जय णिंद्दाम पयासिय केवल॥
> जय सोय-कसाय-भउ भंजण। परम परम्पर सुहु मण रंजण॥

१—प०च०, १.१०। रि०च०, १.४।

२—प०च०, ३५.४।

३—णं खीसण्णु बउद्धहुं गज्जिउ। ४७.४ प०च०।

तुहुँ बंभाणा बुद्ध सिव संकरू । तुहुँ सिद्धि त मंतु तुहुँ अक्खर ।।
तुहुँ कल्लाणु णाणु तुहुँ मंगलु । तुहुँ छज्जीवण काय सुवच्छलु ।।
तुहुँ संसार समुद्दु तारणु । तुहुँ जे मोक्खु तुहुँ मोक्खहो कारणु ।।
तुहुँ वन्दिज्जइ सुर संघाए । अहवइ केत्तिएण थुइवाए ।। १८.७. रि० च० ।

इसी प्रकार युद्ध-भूमि में आहत अभिमन्यु प्राण-विसर्जन के पूर्व स्तुति करता हुआ सभी देवों का स्मरण करता है—

जो सव्वहं देवहं अग्गलउ । तइलोक्क-सिहरें जसु थावलउ ।।
जे अट्ठ वि कम्पउं णिज्जियइं । जें पंचेन्दियइं परज्जियइं ।।
जं धरिवि महारिसि मोक्खु गय । जसु तणएं धम्मे थिय जीव-दय ।।
जे णासिउ जाइ-जरा-मरणु । सो सव्वहों तिहुयणहों जे सरणु ।।
जो महइ णिरंजण परम छवि । जसु सोउ विओउ विणासु णवि ।।
जो णा इव णउंसउ णइव तिय । णा पयट्ट एक्क-वि जासु किय ।।
जो णिक्कलु संन्तु पराहिपरु ।।
णारायणु दिणयरु वइसवणु, सिउ वरुण, हुवासणु ससि पवणु ।
जो होउ सु होउ थुणन्तु थिउ, एक्कन्ते करेप्पिणु कालुविउ ।। रि०च० ५५.३ ।

परम सत्ता के जितने भी गुण और नाम अभिमन्यु गिना सकता है उन सबको गिनाता हुआ कवि कहता है कि इनमें से वह जो कोई भी अभिमन्यु एकान्त भाव से उसका स्मरण करके मर गया । यह आत्मार्पण की वह उच्च भूमि है जहाँ धार्मिक मतवाद के लिए स्थान ही नहीं होता ।

"स्वयंभू छंद" में भी अडिल्ला छंद के उदाहरण में एक पद दिया गया है जो चाहे स्वयंभू-कृत न हो पर उसके चयनकर्ता की उदार मनोवृत्ति की सूचना देता है । छंद इस प्रकार है[1]—

अक्क-पलास-बिल्लु अडरुसउ,
धम्मिअ उ एम ए महुरु तूसउ ।
बुद्धाइच्च बम्हु हरि संकरु,
जै मेराउ देउ हरिसंकरु ।। स्वयंभू छंद ८.३९

जैसे मधुमक्खी मधु की प्राप्ति के लिए अर्क, पलाश, बिल्व, अडूस आदि सभी वृक्षों के पास जाकर संतोष प्राप्त करती है उसी तरह धार्मिक पुरुष बुद्ध, आदित्य, ब्रह्मा, विष्णु, शंकर आदि सभी देवों से आनन्द की प्राप्ति करें ।

ऊपर के उदाहरणों में स्वयंभू की धार्मिक भावना भली-भाँति प्रतिबिम्बित है । जैन-धर्म का अनुयायी और प्रचारक होने पर भी उनमें सब धर्मों के प्रति आदर, सहिष्णुता और उदारता का भाव है । राम-कथा के वर्णन में अपने पूर्ववर्ती कवियों विमलसूरि और रविषेण का अनुगमन करते हुए भी स्वयंभू ने "पउमचरिउ" में उन स्थलों का समावेश या विस्तार नहीं किया है जो ब्राह्मण-विरोधी हैं । "पउमचरिय" (४.६४-८७) और "पद्मपुराण" (४.८५-१३१) में "द्विजातिसमुद्भव" का विस्तृत वर्णन है । इस वर्णन का मन्तव्य ब्राह्मण-विरोधी है । स्वयंभू ने "पउमचरिउ" से इस प्रकारण को बिल्कुल बहिष्कृत कर दिया है । हरिषेण के उपाख्यान में ब्राह्मण धर्म से जैन धर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के उद्देश्य से विमलसूरि (८.१४७-१५१) और रविषेण (८.२८६-२९३) ने रथ-यात्रा का वर्णन विस्तार से किया है । स्वयंभू ने इसे कोई महत्व नहीं प्रदान किया है और

१—भायाणी, भूमिका, पृ० १४ से उद्धृत ।

एक पंक्ति में उसे समाप्त कर दिया है ।[1] इसी तरह भरत-यज्ञ प्रसंग भी स्वयंभू ने कुछ शब्दों में ही समाप्त कर दिया है[2] जिसके लिए विमल और रवि ने पूरा 11 वाँ पर्व लगा दिया है ।

सच यह है कि स्वयंभू को अपने धर्म का प्रचार प्रिय था, लेकिन वह अन्य धर्मों की निन्दा में जान-बूझ कर नहीं पड़ना चाहते थे । जटायु के भवान्तर-कथन में बौद्ध धर्म का जो पराभव दिखाया गया है उसमें कदाचित उनका कोई वश नहीं था । जटायु का प्रसंग वह छोड़ नहीं सकते थे और उसके वर्णन में वह जैन-परम्परा में प्रचलित कथा से बच नहीं सकते थे ।

निष्कर्ष यह है कि सहिष्णुता, उदारता और विशाल हृदयता स्वयंभू की धार्मिक विचार-धारा का एक प्रधान अंश है ।

अपने दोनों महाकाव्यों के माध्यम से स्वयंभू जैन मत के आचारात्मक और दार्शनिक दोनों पक्षों का आख्यान करना चाहते हैं । उन्हें जैन धर्म के आचार-पक्ष को स्पष्ट करने में पूरी सफलता हुई है । स्वयंभू ने दार्शनिक पक्ष की गहराई में पैठने का प्रयत्न नहीं किया है । जैन-दर्शन के अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद जैसे सिद्धान्त के सम्यक् निरूपण के लिए काव्य का माध्यम उपयुक्त होता भी नहीं, फिर भी यथासंभव कवि ने उसकी व्याख्या की है ।

"जैन दर्शन के सात तत्व हैं, जिनके नाम हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष । जीव और अजीव इन दो प्रकार के तत्वों का निरूपण जैन तत्व ज्ञान का विषय है । आस्रव और बंध का विवेचन जैन धर्म सिद्धान्त में आता है, और वही उसका मनोविज्ञान-शास्त्र है । संवर और निर्जरा चरित्र विषयक हैं और यही जैन-धर्म-गत आचार-शास्त्र कहा जा सकता है तथा मोक्ष जैन-धर्मानुसार जीवन की वह सर्वोत्कृतष्ट अवस्था है जिसे प्राप्त करना समस्त धार्मिक क्रिया व आचरण का अंतिम ध्येय है ।"[3]

जैन धर्म के अनुसार विश्व के मूल में जीव और अजीव ये दो मुख्य तत्व हैं । अजीव तत्व के पाँच भेद हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल । पौद्गलिक कर्मों के संयोग से यह जीव बंधन में है और सब प्रकार के कष्ट भोगता है । जीव में कर्मों के आने के द्वार को आस्रव कहते हैं । जीव अपनी योग नामक शक्ति से कर्मों को अपने में आकृष्ट करता है । जीव की योग शक्ति शरीर की मानसिक वाचिक और कायिक क्रियाओं द्वारा कार्यशील होती है । बीज और कर्म के परस्पर मिल जाने को बन्ध कहते हैं । आस्रव के रोकने को संवर कहते हैं । अर्थात् नये कर्मों का जीवन में न आना ही संवर है । बँधे हुए कर्मों के थोड़ा-थोड़ा कर जीवन से अलग होने को निर्जरा कहते हैं । स्पष्ट है कि संवर पूर्वक निर्जरा से ही जीव को मोक्ष प्राप्त हो सकता है,जो सातवां तत्व है और हर प्राणी का अन्तिम लक्ष्य है ।

जैन धर्म के दार्शनिक मन्तव्यों के इस संक्षिप्त परिचय से स्वयंभू के धार्मिक और दार्शनिक विचारों का विवेचन सरल होना चाहिए, क्योंकि स्वयंभू ने इन्हीं का विस्तार अपने काव्य में किया है, अपनी काव्यमय शैली मे उन्होंने इन्हीं को सुग्राह्य बनाने का प्रयत्न किया है । "पउमचरिउ" के प्रारम्भ में[4] आकाश द्रव्य के मध्य लोक-तत्व का संक्षेप में परिचय

१—पहिलएं दिवसें महा-रह कारणें । आलेवि अलणि-कुवकु गउ तक्खणे ॥ ११.२.२ ।

२—प०च०, १५. ८. ६ १,५.९. १ ।

३—डा० हीरालाल जैन : भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योग, पृ० २१५ ।

४—संधि, १.११ ।

देकर स्वयंभू उसके बीच भारत की स्थिति बताते हैं, फिर अवसर्पिणी[1] काल के आरम्भ में कल्प वृक्ष के नष्ट हो जाने पर चौदह कुलधरों की उत्पत्ति का वर्णन करते हैं। सातवें कुलधर चक्षुष्मत् के समय में अचानक सूर्य और चन्द्रमा को देखकर लोग कुतूहल वश उनसे प्रश्न करते हैं, तब चक्षुष्मत् बताते हैं कि अब से कर्म-भूमि प्रारम्भ होगी। उसके पहले भोग-भूमि थी। चौदहवें कुलधर नाभिराय की पत्नी मरुदेवी से आदि तीर्थंकर ऋषभ की उत्पत्ति होती है।

ऋषभ का जीवन-परिचय कराते हुए कवि बताता है कि अंत में शुक्ल ध्यान द्वारा उन्हें केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। एक कडवक[2] में स्वयंभू ने उन समस्त साधनाओं का वर्णन कर दिया है जिनके द्वारा कोई जीव निर्वाण के द्वारा तक पहुँच सकता है। ऋषभ जिन ने शुक्ल ध्यान की अग्नि को प्रज्ज्वलित किया। उन्होंने तीनों शल्यें नष्ट कर दीं, चार प्रकार के कर्मों के ईंधन को जला दिया, पांच इन्द्रिय-रूपी दानवों का दर्प चूर-चूर कर दिया, छः प्रकार के रसों को छोड़ दिया, सात महाभयों को समाप्त कर दिया, आठ दुष्ट मदों को नष्ट कर दिया। नौ प्रकार के ब्रह्मचर्य के रक्षक, दस-विध परम-धर्मों का पालन करने वाले, एकादशांग श्रुत के ज्ञाता, बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करने वाले, तेरह प्रकार के चारित्र में पूर्ण निष्ठ, चौदह गुण स्थानों में पूर्ण रूप से आरूढ़, पन्द्रह प्रमादों से दूर रहने वाले, सोलह कषायों का वर्णन करने वाले, सत्रह संयमों के पालक अट्ठारह दोषों के नाशकर्ता शुभ ध्यान में स्थित गत-मान और प्रसन्न-मुख ऋषभ जिनेंद्र को केवल ज्ञान उत्पन्न हो गया।

आदि तीर्थंकर की कैवल्य-प्राप्ति के वर्णन के व्याज से स्वयंभू हमें जैन-धर्म-विहित आत्म-संयम, आत्मानुशासन, आत्म-निग्रह, त्याग और साधना की संहिता से परिचित करा देते हैं। तदनन्तर समवसरण की रचना करा ऋषभ जिन के मुख से वह जैन-दर्शन, धर्म, सिद्धान्त, चारित्र आदि का कथन कराते हैं—

> ताम विणिग्गय दिव्व झुणि। कहइ तिलोअहों परम मुणि ॥
> बन्ध-विमोक्ख काल बलइं। धम्माधम्म महाफलइं ॥
> पुग्गल जीवाजीव-पउत्तिउ। आसव-संवर-णिज्जर-गुत्तिउ ॥
> संजम-णियम-लेस-वय-दाणइं। तव-सीलोववास-गुणठाणइं ॥
> समदंसण-णाण-चरित्तइं। सग्ग-मोक्ख-संसार-णिमित्तइं ॥
> णव पयत्थ सज्झायज्झाणइं। सुर-णर-उच्छेहाउ-पमाणइं ॥
> सायर-पल्ल-पुव्व-कोडीयउ। लोयविहाय-कम्मपयडीयउ ॥
> कालइं खेत्त-भाव-पर दव्वइं। बारह अंगइं चउदह पुव्वइं ॥
> णरय-तिरय-मणुअत्त-सुरत्तइं। कुलयर-हलहर-चक्कहरत्तइं ॥
> किं बहुवेण आलावेण तिहुअणें सयलें गविट्ठउ।
> णउ एक्क वि तिल-मेत्तु-वि तं जि जिणेण ण दिट्ठउ ॥ ३.११

तदनन्तर त्रिभुवन-महामुनि की दिव्य ध्वनि विकीर्ण होने लगी। उन्होंने बन्ध मोक्ष काल की शक्ति, धर्म अधर्म का फल, पुद्गल, जीव और अजीव की उत्पत्ति, आस्रव, संवर,

---

१—काल-द्रव्य का संक्षिप्त वर्णन संधि, ७८.४ में मिलता है।

२—संधि, ३.२।

निर्जरा, गुप्ति, संयम, नियम, लेश्या, व्रत, दान, तप, शील, उपवास, गुणस्थान, सम्यक दर्शन, ज्ञान, चारित्र, स्वर्ग-मोक्ष, संसार और उनके कारण, नौ प्रसिद्ध ध्यान, सुर और मनुष्यों की मृत्यु और आयु के प्रमाण, सागर पूर्व पल्य, कोड़ाकोड़ी लोकालोक विभाग, कर्मों का प्रकट होना, काल क्षेम भाव, पर द्रव्य बारह अंग, चौदह पूर्व नरक-तिर्यंच मनुष्यत्व, देव, कुलधर, हलधर, चक्रधर, तीर्थंकरत्व, इन्द्रत्व और सिद्धत्व सभी बातों का कथन किया। अधिक कहना व्यर्थ है, सचमुच उन्होंने तीनों लोकों में देख लिया था। उसमें तिलमात्र भी ऐसा नहीं था जो उन्होंने न देखा हो।

इस प्रकार स्वयंभू पउमचरिउ के आरम्भ के दो कडवकों में ही हमको उस सम्पूर्ण शब्दावली से अवगत करा देते हैं जिसके द्वारा जैन धर्म का पूरा विवरण प्रस्तुत किया जा सकता है। कवि की यह सुविचारित योजना है कि शुरू में ही आदि तीर्थंकर के मुख से जैन धर्म के उन सभी मूलभूत सिद्धान्तों से पाठक को परिचित करा दिया जाय जिसकी व्याख्या और प्रचार करना उसे अभीष्ट है। प्रसंगत: इस शब्दावली से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि स्वयंभू के धार्मिक और दार्शनिक विचार वहीं हैं जिनका प्रतिपादन जैनागमों में होता आया था। स्वयंभू को अपनी ओर से कोई नई धार्मिक विचार-धारा नहीं प्रवाहित करनी है और न कोई नया दार्शनिक सिद्धान्त ही प्रचारित करना है। जैन-धर्म के उपर्युक्त सभी अंगों, सिद्धान्तों तत्वों या तथ्यों का स्वयंभू ने सम्यक् विवेचन, विश्लेषण या प्रतिपादन किया हो, ऐसी बात नहीं है। ऐसा होना संभव भी नहीं था क्योंकि तब "पउमचरिउ" और रिट्ठणेमिचरिउ" काव्य न होकर धर्म-ग्रंथ हो जाते। स्वयंभू की विशेषता तो इस बात में है कि उन्होंने अपनी कृतियों के काव्य-रूप की रक्षा करते हुए अपने धर्म का भी प्रचार किया।

स्वयंभू ने जैन-धर्म के जिन पक्षों को अपने काव्य में अधिक महत्व दिया है उससे उनकी व्यक्तिगत धार्मिक प्रवृत्ति या अभिरुचि का भी पता लगता है। उनके स्वभाव की उदारता और सहिष्णुता का निर्देश हम पहले कर आये हैं। हमने यह भी संकेत किया है कि स्वयंभू ने धर्म के दार्शनिक पक्ष की अपेक्षा उसके आचारात्मक या व्यावहारिक पक्ष पर अधिक बल दिया है। बार-बार हम उन्हें सदाचार, अपरिग्रह, संयम, नियम, पर-स्त्री-त्याग की बात करते पाते हैं। दर्शन की बातें भी उनमें यत्र-तत्र हैं, जीव, अजीव, पुद्गल, सृष्टि आदि की भी चर्चा वह करते हैं, परन्तु अपेक्षाकृत कम। भवान्तरों का अधिक वर्णन वर्तमान जीवन में सदाचार की प्रेरणा देने के विचार से करते हैं। इसी दृष्टि से वह अहिंसा, विराग और आत्म-विग्रह की बात बार-बार करते हैं।

यों तो तनिक भी मौका पाते ही स्वयंभू-जैनधर्म के किसी न किसी तत्व की चर्चा कर बैठते हैं, किसी पात्र से जिन-वंदना करा देते हैं या किसी ऋषि संघ द्वारा उपदेश करा देते हैं या किसी मुनि द्वारा दीन-दुखिया की रक्षा कराकर उसके पूर्वभवों का कथन करा देते हैं, किन्तु "पउम-चरिउ" और "रिट्ठणेमिचरिउ" में ४-५ स्थल ऐसे हैं जहाँ कवि कथा-प्रवाह को थोड़ा रोक कर जैन-धर्म के तत्वों का विस्तार से वर्णन करता है।

इस तरह का पहला अवसर सीता-हरण के ठीक पश्चात् आता है। राम पत्नी-वियोग में व्याकुल होकर मूर्छित हो जाते हैं। तभी वहाँ दो आकाशगामी जैन-मुनि पदार्पण करते हैं। अपने अवधिज्ञान से वे सब कुछ जान लेते हैं और स्त्री-अनुरक्ति के विरुद्ध राम को समझाने लगते हैं।

गिरि-मेरु-समाणेउ जेत्थु दुहु। तहें कारणें रोवहि काइं तुहुँ॥
खल तिय मइ जेण ण परिहरिय। तहों णरय-महाणइ दुत्तिरिय॥ ३९.४

—तुम उस बात के लिए क्यों रोती हो जिसमें सुमेरु-पर्वत बराबर दुःख है। जिसने दुष्ट स्त्री को नहीं छोड़ा उसके लिए नरक-रूपी नदी का संतरण बहुत कठिन है।

स्वयंभू स्त्री-रति-विषयक प्रसंग को बढ़ाना चाहते हैं, वह एक पक्षीय निर्णय नहीं होने देना चाहते, इसलिए राम कहते हैं कि संसार में सब कुछ मिल सकता है परन्तु हृदय से वांछित सुन्दर स्त्री नहीं मिल सकती।

तं जोव्वण तं मुह-कमल तं सुरउ सवट्टण-हत्थउ।
जेण ण माणिउ एत्थु जगें तहों जीविउ णिरत्थउ॥ २९.५

वह यौवन, वह मुख-कमल, वह सुरति, सुडौल हाथ, इन सब को इस जग में जिसने नहीं माना उसका समस्त जीवन व्यर्थ है।

इस पर जैन मुनि मुख विचकाकर स्त्री का वह बीभत्स रूप चित्रित करते हैं जो किसी पुरुष के मन को स्त्री के प्रति वितृष्णा से भर देने के लिए पर्याप्त होता है। वे कहते हैं।

पेक्खन्तहुं पर वण्णुज्जलउ। अब्भन्तरें रुहिर चिलिव्विलउ॥
दुग्गन्ध-देहु घिणि-विट्टलउ। पर चम्में हड्डहुं पोट्टलउ॥
मायामें जन्तें परिभमइ। भिण्णउ णव-णाडिहिं परिसवइ॥
कम्मट्ठ-गठ्ठि-सय-सिक्किरिउ। रस-वस-सोणिय-कद्दम-भरिउ॥
वहु-मंस-रासि किमि-कीड-हरु। खट्टहें वइरिउ भूमीहें भरु॥
आहारहों पिसिवउ सीवियउ। णिसि मडउ दिवसें संजीवियउ॥
णीसासूसासु करन्ताहुं। गउ जम्मु जियन्त-मरन्ताहुं॥
मरण-काले किमि-कप्परिउ जें पेक्खेवि वंकिज्जइ।
घिणिहिणन्तु मक्खिय-सएहिं तें तेहउ केम रमिज्जइ॥ ३९.६

तुम केवल उसका उज्जवल रंग देखते हो। पर भीतर तो वह रक्त से लिप्त है। शरीर दुर्गन्धित, घृणा की गठरी और चामवेष्टित हड्डियों की पोटली है। माया के यन्त्र से वह घूमती है। नौ नाड़ियों से उद्भिन्न होकर चलती है। आठ-कर्मों की गाँठ से संघटित रस, मज्जा और रक्तपंक से भरी उसे केवल प्रचुर मांस का ढेर समझो, वह कृमि और कीड़ों का घर है। वह खाट की शत्रु और धरती का भार है। आहार के लिए पीसना, रात में मृतक की भाँति सो जाना, दिन में जीवित रहना, इस प्रकार श्वास लेते-छोड़ते तथा जीते-मरते स्त्री का जन्म व्यतीत हो जाता है। मरण-काल में कीड़े उसे ऐसा काट खाते हैं कि उसे देखकर लोग मुख टेढ़ा कर लेते हैं। सैंकड़ों मक्खियों से घृणित बने ऐसे स्त्री-शरीर से कैसे रमण किया जाता है?

आगे स्त्री के सौन्दर्य-पूर्ण अंगों की निस्सारता प्रकट करते हुए मुनि कहते हैं :—

तं चलण-जुअलु गइ-मन्थरउ। सउणहिं खज्जन्तु भयंकरउ॥
तं सुरय-णियम्बु सुहावणउ। किमि-बिलविलन्तु चिलिसावणउ॥
तं णाहि-पएसु किसोयरउ। खज्जन्त-माणु थिउ भासुरउ॥
तं जोव्वणु अवरुन्डण-मणउ। सुज्झन्तु णवर भीसावणउ॥
तं सुन्दरु वयणु मियन्ताहुं। किम्मि-कप्पिउ णवर मरन्ताहुं॥
तं अहर-बिम्बु वण्णुज्जलउ। लुंचन्तु सिवहिं घिणि-विट्टलउ॥
तं णयण-जुअलु विब्भ-भरिउ। विच्छायउ काएहिं कप्परिउ॥
सो चिहुर-भारु कोड्डावणउ। उड्डन्तु णवर भीसावणउ॥

तं माणुसु तं मुह-कमलु ते थण तं गाढालिंगणु।
णवर धरेप्पिणु णासउड्ड वोल्लेवउ छिचि छिलिसावणु ॥३९. ७.

उसके मंथर गति वाले चरण-युगल को पक्षी बुरी तरह खा जाते हैं। वह सुहावना सुरति-नितम्ब कीड़ों से बिलबिलाता हुआ घिनौना हो उठता है। वह भास्वर क्षीण नाभि-प्रदेश कीड़ों का खाद्य बन जाता है। आलिंगन की इच्छा रखने वाला यह यौवन भयंकर रूप से क्षीण हो उठता है। जीवित अवस्था के उस सुन्दर मुखड़े को मरते ही कृमि खा जाते हैं। उज्ज्वल अधरबिम्ब को सियार लुंजित कर उच्छिष्ट और घृणित बना देते हैं। विभ्रम से भरे, दोनों नेत्रों को कौवे खंडित कर कान्तिहीन कर देते हैं। कुतूहल जनक वह केशकलाप भी भयंकर रूप से बिखर जाता है। वह मनुष्य, वह मुख-कमल, वे स्तन, वह प्रगाढ़ आलिंगन—ये सब नष्ट होने लगते हैं तो लोग यही बोल उठते हैं, "छिः छिः कितने घिनौने हैं ये।"

जिन स्त्री-अङ्गों के सौन्दर्य-चित्रण में स्वयंभू स्थान-स्थान पर सुन्दर से सुन्दर उपमाओं की लड़ियां जुटाने में नहीं थकते उनका यह वीभत्स रूप सामने रखकर मुनि राम को बताते हैं कि जीव किस प्रकार माता के उदर में ९ माह में शरीर धारण कर बाहर आता है—

तहिं तेहएं रस-वस-पूय-भरें। णव मास वसेवउ देह-घरें।
णवमासिउ देहहों णीसरिउ। वड्ढन्तु पडीवउ वीसरिउ॥
जेण दुवारे आइयउ जो तं परिहरेंवि ण सक्कइ।
पन्तिहि जुत्तु बइल्लु जिह भव संसारें ममन्तु णम थक्कइ॥ ३९. १०

—ऐसे रस मज्जा और मांस से भरे देह रूपी घर में यह जीव ९ मास में शरीर धारण करता है और नवें महीना माता के उदर से बाहर आता है। वह बढ़ता हुआ यह सब कुछ भूल जाता है। जिस द्वार से वह बाहर आता है उसी को वह नहीं छोड़ सकता! जुए में जुते हुए तेली के बैल की तरह भव-सागर में भटकता हुआ वह कभी नहीं थकता।

इसके बाद मुनि राम को समझाते हुए संसार की क्षण-भंगुरता और मानव-सम्बन्धों की परिवर्तनशीलता पर प्रकाश डालते हैं:

तुहुँ कहि मि भाउ सा कहिमि बहिणि। तुहुँ कहिमि दइउ सा कहि मि घरिणि॥
तुहुँ कहि मि णरएं सा कहि मि सग्गे। तुहुँ कहिमि महि हिं सा सयण मग्गे॥
तुहुँ कहिं मि णारि सा कहिंमि जोहु। किं सिवणा-रिद्धिहें करहि मोहु॥

कभी तुम भाई बने और वह बहिन बनी। कभी तुम पति बने वह पत्नी बनी। कभी तुम नरक में थे, वह स्वर्ग में थी, कभी तुम धरती पर थे तो वह आकाश मार्ग में। कभी तुम स्त्री थे तो वह पुरुष थी। अरे, स्वप्न में प्राप्त इस वैभव में मुग्ध क्यों होते हो?

अन्त में मुनि वियोग-रूपी महागज के लिए जिन-अंकुश की आवश्यकता बताकर चले जाते हैं:

उम्मेट्टु विओअ-गइन्दएसु। जगडन्तु भमइ जगु णिरवसेसु॥
जइ ण धरिउ जिण-वयणंकुसेण। तो खज्जइ माणुसु माणुसेण॥

लक्ष्य करने की बात यह है कि स्त्री-रति, सांसारिक, माया-बन्ध और तज्जन्य वियोग-दुःख से निवृत्ति का कवि एक ही उपाय बताता है, वह है जिन-शरण जाना।

विराग-प्रधान होने के कारण जैन-धर्म में स्त्री-रति की निंदा प्रायः मिलती है। राम को सीता के वियोग में जो दुःख होता है उस अवसर का उपयोग कर स्वयंभू ने इस विषय पर

अपने मत की भली-भाँति अभिव्यक्ति की है। सीता के प्रति रावण की अनुरक्ति को लेकर मन्दोदरी और विभीषण के मुख से भी वह स्त्री-विषयक अपनी मनोभावनाओं का प्रकाशन करते हैं।[1] "पउमचरिउ" की सारी कथा के विस्तार में सीता के रूप में स्त्री ही तो मूल कारण है। इसलिए स्वयंभू ने जी-भर कर स्त्री-रूप की क्षण-भंगुरता और उसमें अज्ञान-जन्य अनुराग का निन्दापूर्ण वर्णन किया है। आश्चर्य तब होता है जब हमारा ध्यान इस बात पर जाता है कि स्वयंभू के दो-दो (और किसी-किसी के मत से तीन-तीन) स्त्रियां थीं और जब हम देखते हैं कि धर्माचरण से प्राप्य पदार्थों में वह स्थूल नितम्ब और पीन स्तनों वाली स्त्रियों को भी मानते हैं।

सीता का अपहरण कर जब रावण लंका पहुँचता है तब मन्दोदरी उससे जो कुछ कहती है उससे भी स्वयंभू की धार्मिक विचार धारा पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। मन्दोदरी कहती है—

जिणवर-सासणें पंच विरुद्धइं। दुग्गइ जाइ णिन्ति विसुद्धइ।।
पहिलउ वहु छज्जीव-णिकायहुँ। बीयउ गम्मइ मिच्छावायहुँ।
तइयउ जं पर-दव्वु लइज्जइ। चउथउ पर-कलत्तु सेविज्जइ।।
पंचमु णउ पमाणु घर वारहों। आयहिं गम्मइ भव-संसारहों।। ४१.६

—जिनवर शासन में पाँच चीजें विरुद्ध हैं। ये दुर्गति में ले जाने वाली और नित्य अशुद्ध हैं। पहले छः निकायों के जीवों का वध, दूसरे मिथ्यात्व-वाद लगाना, तीसरे पर-द्रव्य का अपहरण, चौथे पर-स्त्री सेवन करना और पाँचवें अपने गृह-द्वार का परिमाण न करना। इनसे भव-संसार में भटकना पड़ता है।

पर-स्त्री-सेवन के विरुद्ध रावण को समझाता हुआ विभीषण नरक का बहुत डरावना चित्र खींचता है जिसमें ऐसे दुष्कर्म के परिणामस्वरूप जाना पड़ता है।[2]

जिन-धर्म का सबसे विस्तृत वर्णन हनुमान के द्वारा रावण के सामने कथित १२ अनुप्रेक्षाओं के रूप में कराया जाता है। हनुमान पर-स्त्री सेवन के कुपारिणामों की व्याख्या करते हैं, उसे दुःख की पोटली, कुल का कलंक और इह-लोक-परलोक का नाश करने वाली बताते हैं। तत्पश्चात् वह अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, त्रिलोक, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, अहिंसा, बोधि, इन १२ अनुप्रेक्षाओं का वर्णन करते हुए रावण को सत्पथ का उपदेश देते हैं।[3]

स्वयंभू ने बड़े सरल और प्रभावशाली शब्दों में इन अनुप्रेक्षाओं के व्याज से संसार और जीवन का चित्र अंकित किया है। अनित्य अनुप्रेक्षा में वह सांसारिक वस्तुओं की क्षण-भंगुरता इन शब्दों में प्रकट करते हैं—

सम्पत्ति - समुद्र-तरंग - णिह। सिय चंचल विज्जुल-लेह जिह।
जोव्वण गिरि-णइ-पवाह-सरिसु। पेम्मु वि सुविणय-दंसण-सरिसु।।
धणु सुर-धणु-रिद्धिहें अणुहरइ। खणें होइ खणद्धें ओसरइ।।
खिज्जइ सरीरु आउसु गलइ। जिह गउ जल-णिवहुण संभवइ।।
घरु परियणु रज्जु सम्पय जीविउ सिय पवर।
एयइं अथिराइं एक्कु मुएप्पिणु धम्मु पर।। ५४.५.

१—संधि ४१.७ तथा ४२.५।
२—प०च०, सं० ४२.५।
३—प०च० सं० ५४.५-१६।

घर, परिजन, राज्य, सम्पदा, जीवन और प्रवर लक्ष्मी, ये सब अस्थिर हैं; केवल एक धर्म को छोड़कर।

अशरण अनुप्रेक्षा की व्याख्या करता हुआ कवि कहता है कि जीव के लिए अन्त में धर्म ही शरण है :

तहिं असरण-कालें जीवहों अण्ण ण का वि घर।
पर रक्खइ एक्कु अहिंसा-लक्खणु धम्मु पर॥

एकत्व अनुप्रेक्षा की बात करता हुआ कवि कहता है कि अंत में जीव का साथ दो ही देते हैं—वे हैं जीव के सुकृत और दुष्कृत।

पर वेण्णि सयाइ जीवहों दुक्किय-सुक्कियइं॥

अन्यत्व अनुप्रेक्षा में समझाया गया है कि स्वजन, घर, परिजन, शरीर, धन, लक्ष्मी सब दूसरे के हैं। जिन-धर्म को छोड़कर दूसरा कोई भी अपना नहीं है :

जिण-धम्मु मुएवि जीवहों को वि ण अप्पणउ॥ ५४. ८

संसार अनुप्रेक्षा में कवि कहता है कि जीव अपने कर्मों का फल भोगता हुआ अनेक योनियों में भटकता है, इस संसार में उसे कहीं भी सुख नहीं मिलता।

एहएं संसारे रावण सोक्खु कहिं तणउ।
अप्पिज्जइ सीय सीलु म खण्डहि अप्पणउ॥ ५४.९.

त्रिलोक अनुप्रेक्षा में सृष्टि-विस्तार समझाते हुए कवि कहता है कि ऐसा कौन-सा प्रदेश है जिसका जीव ने भक्षण न किया हो—

तं कवणु पएसु जणप्प वि जीवें भक्खियउ॥

अशुचि अनुप्रेक्षा में स्त्री के प्रति अरुचि उत्पन्न करने का प्रयत्न है जो मुनियों के द्वारा राम को दिये गये उपदेश का स्मरण कराता है।

आस्रव संवर और निर्जरा अनुप्रेक्षाओं में जैन-धर्म के प्रसिद्ध सिद्धान्तों का कवि ने बड़ी मार्मिक भाषा में व्याख्यान किया है। अन्त में दस अंगों वाली अहिंसा अनुप्रेक्षा का वर्णन करता हुआ कवि अहर्निश जिन-तत्वों का स्मरण कराने वाली बोधि अनुप्रेक्षा का कथन करता है और कहता है—

रावण अणुवेक्खउ एयाउ। जिण-सासणें बारह-भेयाउ॥
जो पढइ सुणइ मणे सद्दहइ। सो सासय-सोक्ख-सयइं लहइ॥

हे रावण जिन-शासन में ये बारह प्रकार की अनुप्रेक्षाएँ हैं। जो इन्हें पढ़ता, सुनता और अपने मन में श्रद्धा करता है वह शाश्वत शत-शत सुखों को पाता है।

स्वयंभू ने अनुप्रेक्षाओं के रूप में जैन-धर्म के आचारात्मक या कर्म-कांड-पक्ष का पूरा कथन कर दिया है। रिट्ठणेमिचरिउ में भीष्म के द्वारा इन्हीं बात का प्रकारान्तर से फिर वर्णन कराया गया है। इनके अतिरिक्त 'पउमचरिउ' में छूटी हुई कुछ अन्य बातें भी, जिनका जैन धर्म में बड़ा महत्व है, भीष्म द्वारा वर्णित हैं। भीष्म सम्पत्ति का चतुर्विध फल बताते हैं।[1] फिर १७ प्रकार की मृत्यु का वर्णन करते हैं—

सत्तारह मरणइ भासियाइं। संखेवें पंच पयासियाइं॥ आदि, ४८.६.७

फिर वह पंच महाव्रत, संयम, चारित्र, अणुव्रत, गुणव्रत आदि का वर्णन करते हैं[2]।

१—रि० च०, संधि, ४८.५।
२—रि० च० संधि, ४८.११-१२।

अन्त में भीष्म समाधि-मरण की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हैं—

सलिलहो मज्झ मयंकु जिहं तिहं मणु धरवि ण सक्कइ कोइ ।
जेण समाहि मरणु लइउ सो परमारहो मायण होई ।। ४८.१३.

संलेषण-भाव, दस शुद्धियों आदि का भी वर्णन भीष्म द्वारा कवि विस्तार से कराता है[1] ।

आगे की संधि में कवि ने भीष्म के मुख से मोक्ष के कारणों का भी वर्णन कराया है ।

सारांश यह है कि पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ दोनों महाकाव्यों को मिलाकर जैन धर्म के सभी तत्वों के वर्णन के लिए स्वयंभू ने पर्याप्त अवकाश निकाला है । ऐसा करने में उन्होंने आवृत्तियों की चिन्ता नहीं की है । इसका कारण यह है कि उन्हें न केवल जैन धर्म की जानकारी करानी है वरन् उसके बार-बार के प्रभाव-वर्णन से पाठक के मन और हृदय पर उसकी छाप भी छोड़नी है ।

जैन धर्म के दार्शनिक पक्ष का यत् किंचित् विवेचन जटायु के उपाख्यान में हुआ है । अनेकान्तवाद या स्याद्वाद प्रसिद्ध जैन दार्शनिक सिद्धान्त है । उसकी बहुत संक्षेप में फिर भी बहुत स्पष्ट व्याख्या स्वयंभू ने जैन-मुनि और बौद्ध मतानुयायी राजा दंडक के विवाद के रूप में की है—

राजा दंडक कहता है—बताइए परमेश्वर, इस तप के अनुष्ठान से क्या होगा ? यह शरीर क्षणिक है, जीव भी क्षण भर ठहरता है, ध्यान करते ही वह अतीत हो चुका है । तुम भी क्षणिक हो और सिद्धत्व आज भी प्राप्त नहीं है और फिर इस मोक्ष का क्या प्रमाण है ?

मुनि ने नयवाद से राजा के तर्क का खंडन करते हुए कहा—यदि क्षणिक पक्ष कहते हो तो 'क्षण' शब्द का उच्चारण भी नहीं हो सकता । फिर तो 'क्ष' और 'ण' भी क्षणिक हो जायेंगे । तब क्षणिक शब्द का उच्चारण नहीं होगा । अघटित अघटमान और अघटंत क्षणिक, क्षणांतमाल, शून्य से शून्यासन कैसे संभव है ? अतः बौद्धों का सब शासन व्यर्थ है ।[2]

क्षणिक शब्द से निरुत्तर होकर राजा डंडक ने फिर कहा—जब सब अस्ति दिखाई देता है, तो फिर तप किसके लिए किया जाय ?

मुनि ने उत्तर दिया—जैसे नैयायिकों की हँसी उड़ाई जाती है वैसे हमसे नहीं कह सकते । हम अस्ति और नास्ति दोनों पक्षों को मानते हैं । अतः तुम्हारे क्षणवाद की तरह हमारे मत का खंडन नहीं हो सकता ।

१—रि० च० संधि ४८.१७ ।

२—वोल्लाविउ "बोल्लहि परमेसर । तव-चरणेण काइं तवणेसर ॥
खणिउ सरीरु जीउ खण-मेत्तउ । जो झायहि सो गयउ अतीतउ ॥
तुहु मि खणिउ ण अज्जवि सिद्धत्तणु । मायहों किं पमाणु किं लक्खणु" ॥
सयल णिरत्थु वुत्तु जं राएं । मुणिवर चवेवि लग्गु णयवाएं ॥
"जइ पुणु सो ज्जें पक्खु बोल्लेउ । ता खण-सद्दु ण उच्चारेउ ॥
खणिउ खयारु ण यारु वि होसइ । खण-सद्दहो उच्चारु ण दीसइ ॥

अघडिउ अघडमाणु अघडन्तउ खणिएं खणिउ खणन्तर मेत्तउ ।
सुण्णें सुण्ण-वयणु सुण्णासणु सव्वु णिरत्थु बउद्धहुं सासणु ॥ ३५.५

यह सुन राजा डंडक ने कहा—तुम्हारा परम पक्ष मैंने जान लिया। अस्ति और नास्ति में नित्य सन्देह है, क्योंकि यह जीव कभी धवल होता है और कभी श्याम, फिर कभी मत्तगज तो कभी सिंह, कभी ब्राह्मण, कभी क्षत्रिय, कभी वैश्य और कभी शूद्र।

इस पर भट्टारक ने उत्तर दिया—एक चोर को चिरकाल से कोतवाल ने पकड़ रखा है। गर्दन, मुख, नाक, आंख से रचित श्वास लेता हुआ भी वह किसी को दिखाई नहीं देता।[1]

स्वच्छन्दता से इस प्रकार विचार करने पर राजा दंडक ने जैन धर्म स्वीकार कर लिया।

इस तरह जैन अनेकान्तवाद और जीव के स्वरूप का निरूपण करते हुए स्वयंभू बौद्धों के क्षणिकवाद और नैयायिकों के तर्क पर जैन-दर्शन की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हैं।

"रिट्ठणेमिचरिउ" के अन्त में त्रिभुवन स्वयंभू एक बार अवसर निकाल कर बलदेव-नेमिनाथ-प्रश्नोत्तर के रूप में जीवन और जगत की समस्या पर विचार करते हैं। विषय जितना ही गूढ़ है उतने ही सरल ढंग से कवि उसका विश्लेषण प्रस्तुत करता है। पूरा प्रश्नोत्तर उद्धरण करने के योग्य है—

"किं इह तिहुयणे सारु भडारा ?"
"धम्म-रअणु भो महिहर धारा।"
"किं दुल्लहु भव-लक्खिहिं जिणवर ?"
"पवज्जा-णिहाणु हे सिरि-हर।"
"किं सुहु लाया-लोइ महागुरु ?"
"वाह-रहिउ अहो मुसुमूरिय मुरु।"
"के जीवहो वइरिय तित्थंकरु ?"
"कोह-मोह-मय-अच्छी हरि-हर।"
"किं पालणिव एत्थु सव्वणहं ?"
"धुऊ सम्पत्तु सोल अइ विण्हं।"
"किं सुन्दरु करणिज्जु दयारुह ?"
"दाणु प्रज्ज हो देवइ-तणु-रुह।"
"के दू-सह तिय सेसर-सामिय ?"
"पवर-परसिह खगवइ गामिय।"
"किं बलवंतउ समर-विमद्दण ?"
"जीव हो चिरु-कय कम्म-जणद्दण।"
"कवणु देउ केवल-वर-लोयण ?"
"दोस-विवज्जिउ हो महु-सूयण।"
"कवणु धम्मु जगि णाणप्पायण ?'
"जीव-दया-वरु हे णारायण।"
"किं संसारहों सु मूलु णिरासव ?"
"गरुउ पमाउ-गुणहिं मणि केसव।"
"किं कट्ट-यरु सिद्धि-अव्आवह ?"
"अण्णाण त्तणु जउ-वइ माहव।"

1—प० च०, सं० ३५.७।

"जीव-णिकायहो कि दढ़-बंधणु भुवणुत्तम ?"
"विविह-परिग्गहु गेहिणि-सणेहु पुरिसोत्तम ।"

इस प्रकार संक्षिप्त प्रश्न और उसका संक्षिप्त उत्तर, किन्तु एक धर्म-व्यवस्थापक की साधिकारी वाणी में। यहाँ संशय के लिए, तर्क के लिए कोई स्थान नहीं है। कवि की वचन-विदग्धता का गुण तो इस प्रश्नोत्तर में है ही, साथ ही इसमें कितनी मनोवैज्ञानिकता है कि ग्रंथ का अंत करते-करते पुत्र पिता द्वारा प्रतिपादित समग्र जैन-धर्म और दर्शन का समाहार कर देता है।

स्वयंभू की कृतियों का अध्ययन करने से उनके व्यक्तित्व की जो धारणा निष्पन्न होती है वह धर्म-भीरु, विनम्र और उदार प्रकृति के पुरुष की है। अपने धर्म के प्रति दृढ़ आस्था रखते हुए भी स्वयंभू में धार्मिक कट्टरता या दुराग्रह नहीं है। जैन तीर्थंकरों के प्रति उनकी भाव-प्रवणता भक्ति की सीमा को पहुँच गई है। यह माना जाता रहा है कि जैन-धर्म के ज्ञान-प्रधान होने के कारण उसमें भक्ति के लिए स्थान नहीं है।[1] परन्तु इधर जो सामग्री प्रकाश में आई है[2] उसके बल पर यह कहा जा सकता है कि जैन-धर्म के अन्तराल में भी भक्ति की पयस्विनी सदा से प्रवाहित होती रही है। काका कालेलकर के अनुसार सब पंथों में सबसे अधिक शक्ति है भक्ति की। भक्ति की दीक्षा सब पंथों को लेनी पड़ी है। ऐसा एक भी धर्म या पंथ नहीं है जो भक्ति से मुक्त रहा है। "ज्ञानादेव तु कैवल्यम्" कहने वाले अद्वैतवादी ज्ञानमार्गी शंकराचार्य को भी कहना पड़ा "मोक्ष कारण सामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।" फिर तो उन्हें भक्ति की अपनी व्यवस्था भी करनी पड़ी, "स्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते।"[3]

इसी तरह जैन धर्म में भी भक्ति का अपना विशिष्ट रूप रहा है। जैन भक्त-कवि तीर्थंकरों की स्तुति उसी प्रकार भाव-विभोर होकर करते हैं जिस प्रकार सगुणोपासक हिन्दी कवि राम-कृष्ण आदि अवतारों की करते हैं। उनमें भी हम आत्मार्पण का वही भाव पाते हैं, आराध्य की महत्ता और गुण-कथन के साथ उनमें भी उसी दास्य-भाव का निदर्शन मिलता है। कीर्तन-स्मरण आदि की शैली भी सगुणोपासक हिन्दू कवियों की भाँति ही मिलती है। हिन्दुओं के निर्गुण ब्रह्म का स्थान जैन-धर्म में सिद्ध को दिया जाता है क्योंकि वह वर्ण, रस, गंध, शब्द, स्पर्श, जन्म, मरण से मुक्त और निःसंग होता है। इस प्रकार तीर्थंकर को सगुण और सिद्ध को निर्गुण ब्रह्म का समकक्ष मानकर जैन भक्ति-कवियों ने अपनी भावना के अनुसार उनकी उपासना की है।

स्वयंभू में तीर्थंकरोपासना की प्रवृत्ति अधिक है। सिद्धोपासना में, निर्गुणोपासना की तरह ही, रहस्यवाद की प्रधानता हो जाती है। स्वयंभू में इस प्रवृत्ति का नितान्त अभाव है। उनके भक्तिपरक पदों में भावुकता बहुत अधिक है जो पाठक को अपने प्रवाह में बहा ले जाती है। उनका आत्मार्पण भी दर्शनीय होता है। जिनेश्वर की वंदना में राम के मुख से निकली कुछ पंक्तियाँ, प्रमाण-रूप में, उद्धरण के योग्य हैं—

१—डा० हिरण्मय : हिन्दी और कन्नड में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन, —१९५९. पृ० १८७

२—डा० प्रेमसागर जैन : जैन भक्ति-काव्य की पृष्ठभूमि, १९६४, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

३—डा० प्रेमसागर जैन : हिन्दी भक्ति-काव्य और कवि, प्राक्कथन, पृ० २।

जय गय-भय-राय-रोस-विलय । जय मयण-महण-तिहुवण-तिलय ।।
जय खम-दम-तव-वय-णियम-करण । जय-कलि-मल-कोह-कसाय-हरण ।।
जय काम-कोह्-अरि-दप्प-दलण । जय जाह्-जरा-मरणत्ति-हरण ।।
जय-जय तव-सूर तिलोय-हिय । जय-मण-विचित्त-अरुणें सहिय ।।
जय धम्म-महारह्-बीढें ठिय । जय सिद्धि-वरंगण-रण्ण-पिय ।।
जय संजम-गिरि-सिहरुग्गमिय । जय इन्द-णरिन्द-चन्द णमिय ।।
जय सत्त-महा भय-हय-दमण । जय जिण-रवि णाणम्वर-गमण ।।
जय दुक्किय-कम्म - कुमुय-डहण । जय चउ-गइ-रयणि-तिमिर-महण ।।
जय इन्दिय-दुद्दम-दणु-दलण । जय जक्ख-महोरग-थुय-चलण ।।
जय केवल किरणुज्ज्योय-कर । जय-भविय - रविन्द णन्दयर ।।
जय जय भुवणेक-चक्क-भमयि । जय-मोक्ख महीहरें अत्थमिय ।।

निष्कर्ष यह है कि स्वयंभू की धार्मिक विचारधारा में जहाँ एक ओर जैनधर्म के मूल-सिद्धान्तों का विधिवत् प्रतिपादन है वहाँ दूसरी ओर उसमें किसी प्रकार की पर-धर्म-निन्दा या दुराग्रह का भाव नहीं है। स्वयंभू के स्तुति-परक पदों में जैन-भक्ति की उस भावना का भी बीज मिलता है जिसका समुचित विकास हम मध्यकाल के जैन-भक्त कवियों की कविता में पाते हैं।

अध्याय १०

स्वयंभू का परवर्ती हिन्दी कवियों पर प्रभाव

स्वयंभू अपभ्रंश के युग-प्रवर्तक कवियों में है। "स्वयंभू छंद" में उन्होंने अपभ्रंश के जिन कवियों की कविताओं का उद्धरण नाम-सहित दिया है उनमें केवल चतुर्मुख के महान् कवि होने का अनुमान विद्वानों ने किया है। स्वयंभू ने भी अपभ्रंश कवियों में केवल चतुर्मुख के प्रति, उनके पद्धडिया छंद के लिए, आभार स्वीकार किया है।[१] पउमचरिउ के अन्तर्गत भी एक स्थान पर गो-ग्रह-कथा-वर्णन में चतुर्मुख की श्रेष्ठता का वैसे ही बखान है जैसे जल-क्रीड़ा-वर्णन के लिए स्वयंभू का।[२] चतुर्मुख के विषय में विद्वानों का मत है कि उन्होंने राम-कथा और कृष्ण पर काव्य-रचना की थी।[3] चतुर्मुख के बाद के अनेक कवियों ने चतुर्मुख का गुणगान किया है। इससे आजकल के विद्वानों ने अनुमान लगाया है कि चतुर्मुख अवश्य एक महान् कवि होंगे, यद्यपि उनकी रचनाओं में से अद्यावधि एक भी उपलब्ध नहीं है। डा० भायाणी ने चतुर्मुख को अपभ्रंश की वृहद्-त्रयी (चतुर्मुख स्वयंभू-पुष्पदन्त) में स्थान दिया है।[४] दुख केवल इस बात का है कि चतुर्मुख की रचनाओं की अनुपस्थिति में स्वयंभू के साथ उनके तुलनात्मक महत्व का अध्ययन नहीं हो सकता। उनके कृतित्व के विषय में विद्वानों की सारी धारणा उनके पश्चात-वर्ती कुछ कवियों के निर्देश मात्र पर आधारित है। जो कुछ भी हो, अपभ्रंश में स्वयंभू के पूर्व यदि कोई महान् कवि हुआ तो वह केवल चतुर्मुख हो सकते हैं। इसलिए इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं है कि स्वयंभू अपभ्रंश के युग-प्रवर्त्तक कवियों में है। उन्होंने अपभ्रंश भाषा का रूप स्थिर करके उसे महाकाव्योपयुक्त बनाने में महान् योग दिया। अपभ्रंश काव्य की उन सभी विधाओं के रूप-निर्माण में स्वयंभू का हाथ था जिनका आधुनिक भारतीय भाषाओं पर गहरा प्रभाव लक्षित होता है।

अपभ्रंश के अनेक कवियों ने अपनी रचनाओं में स्वयंभू को स्मरण करते हुए उनका गुणगान किया है। पुष्पदन्त ने चतुर्मुख, हर्ष और बाण के साथ उनका नाम लिया है और शिष्यों तथा सम्बन्धियों से घिरे हुए एक आचार्य के रूप में उन्हें आदरपूर्वक स्मरण किया है।[५] हरिषेण ने अपनी "धम्मपरिक्खा" (९८७ ई०) में उन्हें देव तुल्य बताते हुए उनके लोक-परलोक-कथा-ज्ञान की प्रशंसा है।[६] करकंडुचरिउ के लेखक कनकामर (११वीं शती) के अनुसार वह "विशाल-चित्त"

१—रि० च०, १·२।

२—प० च०, १४·१३।

३—दे० प्रेमी, पृ० २०९ तथा भायाणी, भूमिका. पृ० १७-१८।

४—प० च०, भाग १, भूमिका, पृ० २९।

५—(क) चउमुह सयंभु सिरि-हरिसु दोणु,
        ण आलोइउ कइ इसाणु बाणु ॥ महापुराण १.१.५।

(ख) कइराज सयंभु महायरिउ
        सो सयण-सहासहिं परियरिउ ॥ महापुराण, ६९ १.७।

६—जो सयंभु सो देउ पाहाणउ। आदि। भायाणी, भूमिका पृ० ३० से उद्धृत।

है।[1] हेमचन्द्र (१०८६-११७२ ई०) उन्हें भरत, काश्यप, पिंगल, जयदेव के समान छन्द शास्त्र का ज्ञाता बताते हैं।[2] इनके अतिरिक्त अन्य कितने ही अपभ्रंश कवियों ने स्वयंभू की प्रशस्ति गाई है।[3] संस्कृत के राजशेखर कवि पर तो स्वयंभू का सबसे अधिक ऋण है क्योंकि उनके "चन्द्रशेखर" का अपभ्रंश-खंड स्वयंभू-छन्द की संस्कृत-छाया-मात्र है। पुष्पचन्द, धनपाल, हेमचन्द्र, की रचनाओं पर भी स्वयंभू का प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित किया जा सकता है।

यह आश्चर्य की बात है कि जो अपने समय का इतना महान् कवि रहा हो और जिसकी महानता का गुणगान लगभग सभी अपभ्रंश कवियों ने किया हो, हिन्दी का युग आते-आते उसका नाम लेने वाला कोई न हो। स्वयंभू की प्रशस्ति में हिन्दी के किसी कवि ने एक शब्द भी नहीं कहा है। इसका एक कारण तो यह हो सकता है कि हिन्दी कवियों के समय तक ऋण या आभार-स्वीकरण की परम्परा का लोप हो गया था। हिन्दी के प्रायः किसी कवि ने अपने पूर्ववर्ती कवियों का स्मरण-स्तवन नहीं किया है। इस नियम का एक अपवाद तुलसीदास मिलते हैं जिन्होंने रामचरित के आदि उद्‌गाता वाल्मीकि की तथा व्यास की वन्दना की है।[4] अन्य किसी संस्कृत या प्राकृत कवि का नाम उन्होंने नहीं लिया है। "मानस" के प्रारम्भ में जहाँ गोस्वामी जी आत्म-विनय-वश कहते हैं कि—

भाषा भनित मोर मति थोरी। हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी॥

वहीं पर उन्होंने प्राकृत कवियों का गुण-गान, बिना किसी का नाम लिये हुए किया है :

जे प्राकृत कवि परम सयाने। भाषां जिन्ह हरिचरित बखाने॥

आलोचकों का मत है कि "प्राकृत कवि" से तात्पर्य प्राकृत-अपभ्रंश के कवियों से ही हो सकता है। डाक्टर शंभूनाथ सिंह इस सम्बन्ध में कहते हैं कि यहाँ प्राकृत कवि का अभिप्राय प्राकृत और अपभ्रंश में रामकथा लिखने वाले विमलसूरि, स्वयंभू, पुष्पदंत आदि कवियों से है। रामचरित मानस की भाषा और शैली पर स्वयंभू का प्रभाव तो स्पष्ट दिखाई देता है।[5]

अन्य अनेक आलोचकों के भी मतों का सारांश यही है कि हिन्दी की काव्य परम्परा पर प्राकृत-अपभ्रंश के कवियों का गहरा प्रभाव रहा है। जायसी-ग्रंथावली की भूमिका में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि उस समय काव्य-व्यवसायियों को प्राकृत और अपभ्रंश से पूर्ण परिचित होना पड़ता था। छंद और रीति आदि के परिज्ञान के लिये भाषा कवि-जन प्राकृत तथा अपभ्रंश का सहारा लेते थे। ऐसे ही किसी कवि से जायसी ने काव्य रीति सीखी होगी।..........प्राकृत अपभ्रंश की पुरानी प्रथा के अनुसार "हि" विभक्ति का सब कारकों में व्यवहार देखकर यह दृढ़ अनुमान होता है कि जायसी ने किसी से भाषा-परम्परा की जानकारी प्राप्त की होगी।[6]

१—भायाणी, पृ० ३०, पाद टिप्पणी।

२—छन्दोनुशासन, पृ० १४।

३—नयनन्दी, वीर, श्रीचन्द, धनपाल, रइधू, नारायण भट्ट, चिन्तामणि मिश्र आदि।

४—(क) सीताराम-गुण ग्राम-पुण्यारण्य-विहारिणौ।
वन्दे विशुद्ध विज्ञानौ कवीश्वर कपीश्वरौ॥

(ख) व्यास आदि कवि पुंगव नाना। जिन सादर हरि सुजस बखाना॥

५—शंभूनाथ सिंह, पृ० ५५१।

६—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : जायसी ग्रंथावली-भूमिका पृ० २२७।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है, "वस्तुतः छंद, काव्य-रूप, काव्यगत रूढ़ियों और वक्तव्य-वस्तु की दृष्टि से दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक लोकभाषा का साहित्य परिनिष्ठित अपभ्रंश में प्राप्त साहित्य का ही बढ़ाव है, यद्यपि उसकी भाषा उक्त अपभ्रंश से थोड़ी भिन्न है।"[1]

यह निश्चित है कि जब हम हिन्दी साहित्य पर अपभ्रंश के प्रभाव की बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य प्रकारान्तर से महाकवि स्वयंभू के प्रभाव से भी होता है। अपभ्रंश की जिस दीर्घ काव्य-परम्परा का बढ़ाव हम हिन्दी को मानते हैं उस परम्परा के आदि प्रवर्तकों में स्वयंभू का नाम आता है। अतः चाहे हिन्दी का कोई कवि स्पष्ट शब्दों में स्वयंभू का ऋण न स्वीकार करे पर उनके प्रभाव से कोई मुक्त नहीं है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन के विचार से तो गोस्वामीजी ने स्वयंभू की रामायण अवश्य देखी होगी। 'हिन्दी काव्य धारा' की अवतरणिका[2] में राहुल जी कहते हैं, "मालूम होता है, तुलसी बाबा ने स्वयंभू रामायण को जरूर देखा होगा।··· तुलसी बाबा ने स्वयंभू-रामायण को देखा था, मेरी इस बात पर आपत्ति हो सकती है, लेकिन मैं समझता हूँ कि तुलसी बाबा ने 'क्वचिदन्योपि' से स्वयंभू-रामायण की ओर ही संकेत किया है। आखिर नाना पुराण निगम आगम और रामायण के बाद ब्राह्मणों का कौन-सा ग्रन्थ बाकी रह जाता है, जिसमें राम की कथा आई है। "क्वचिदन्योपि" से तुलसी बाबा का मतलब है, ब्राह्मणों के साहित्य से बाहर "कहीं अन्यत्र से भी" और अन्यत्र इस जैन-ग्रन्थ में रामकथा बड़े सुन्दर रूप में मौजूद है। जिस सोरों या सूकर क्षेत्र में गोस्वामी जी ने राम की कथा सुनी उसी सोरों में जैन-घरों में स्वयंभू-रामायण पढ़ी जाती थी। राम-भक्त रामानन्दी साधु राम के पीछे जिस प्रकार पड़े थे, उससे यह बिल्कुल संभव है कि उन्हें जैनों के यहाँ इस रामायण का पता लग गया हो।"

यदि राहुल जी का मत मान्य हो तो गोस्वामी तुलसीदास द्वारा स्वयंभू-रामायण के देखे जाने पर भी कवि के नाम का स्पष्ट रूप में उल्लेख न करने का एक ही कारण हो सकता है और वह है धार्मिक बाधा। तुलसीदास का जन्म जिस युग में हुआ था वह वैष्णव-भक्ति के प्रचार का युग था। उसके पूर्व ही बौद्ध धर्म का पतन हो चुका था। किन्तु जैन धर्म अब भी उसकी प्रतिद्वन्द्विता में खड़ा था। तुलसीदास वर्णाश्रम-विरोधी किसी अन्य धर्म या उसके उन्नायक कवि का नाम नहीं लेना चाहते होंगे। यह उनकी ईमानदारी का प्रमाण है कि 'क्वचिदन्योपि" कह कर उन्होंने रामकथा के अब्राह्मण-स्रोत की ओर भी संकेत कर दिया।

तुलसीदास ने स्वयंभू का नाम भले ही न लिया हो किन्तु विद्वानों ने लक्ष्य किया है कि उनके "मानस" के अनेक स्थलों पर स्वयंभू-रामायण का प्रभाव है। ऊपर के वक्तव्य के अन्त में राहुल जी ने कहा है कि स्वयंभू-रामायण में कितने ही स्थान हैं जिनका प्रभाव रामचरित-मानस में दिखाई पड़ेगा। राहुल जी ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि "इनका यह हरगिज मतलब नहीं कि गोस्वामी जी ने भाव वहाँ से चुराया था उनकी प्रतिभा सिर्फ नकल करने की थी। गोस्वामी जी की प्रतिभा स्वतः महान् थी। उसे पहले की प्रतिभाओं का वैसे ही सहारा मिला होगा, जैसे हरेक बालक को अपने पूर्वजों की सहायता से अपने ज्ञान का विस्तार करना पड़ता है।"

१—आचार्य डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी-साहित्य (उद्भव और विकास) १९५२, पृ० ४३।

२—"हिन्दी काव्य धारा," अवतरणिका, पृ० ५२।

एकाध उदाहरण देकर स्वयंभू की रामायण और तुलसी के मानस के कुछ स्थलों के साम्य को निर्दिष्ट करना अच्छा होगा। स्वयंभू ने अपनी काव्य-सरिता वाले रूपक में लिखा है—

अक्खर-वास-जलोह-मणोहर । सु-अलंकार छन्द मच्छोहर ॥
दीह समास पवाहावंकिय । सक्कय-पायय-पुलिणालंकिय ॥
देसी-भासा-उभय-तडुज्जल । क वि दुक्कर-घण-सद्द-सिलायल ॥
अत्थ-बहल-कल्लोलाणिट्ठिय । आसासय-सम-तूह-परिट्ठिय ॥१. २.

यह (काव्य-सरिता) अक्षर-व्यास के जल-समूह से मनोहर, सुन्दर अलंकार तथा छंद रूप मत्स्यों से परिपूर्ण और लम्बे समास रूपी प्रवाह से अंकित है। यह संस्कृत और प्राकृत रूपी पुलिनों से अलंकृत देशी भाषा रूपी दो कूलों से उज्ज्वल है। इसमें कहीं-कहीं घन शब्द रूपी शिला-तल हैं। कहीं-कहीं यह अनेक अर्थ रूपी तरंगों से अस्त-व्यस्त-सी हो गई है। यह सैकड़ों आश्वास रूपी तीर्थों से प्रतिष्ठित है।

तुलसीदास ने भी इसी तरह काव्य-सरोवर का रूपक बाँधा है:—

सप्त प्रबन्ध सुभग सोपाना । ग्यान नयन निरखत मन माना ॥
रघुपति महिमा अगुन अबाधा । बरनब सोइ बर वारि अगाधा ॥
राम सीय जस सलिल सुधासम । उपमा बीचि विलास मनोरम ॥
पुरइन सघन चारु चौपाई । जुगुति मंजु मनि सीय सुहाई ॥
छंद सोरठा सुन्दर दोहा । सोइ बहुरंग कमल कुल सोहा ॥
अरथ अनूप सुभाव सुभासा । सोइ पराग मकरन्द सुबासा ॥
सुकृत पुंज मंजुल अलि माला । ग्यान विराग विचार मराला ॥
धुनि अवरेब कवित गुन जाती । मीन मनोहर ते बहु भाँती ॥
अरथ धरम कामादिक चारी । कहब ज्ञान विज्ञान विचारी ॥
नव रस जप तप जोग विरागा । ते सब जलचर चारु तड़ागा ॥

तुलसी के रूपक में भी छंद, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति गुण आदि का कथन स्वयंभू के समान है। उन्होंने मानस के छन्दों को कमल, भाषा को सुगन्ध और ध्वनि, वक्रोक्ति को मनोहर मीन कहा है। स्वयंभू की देशी भाषा संस्कृत के दुष्कर शब्द-शिलाखण्डों से यत्र-तत्र संकुल है, तुलसी की 'सुभाषा' में ऐसी कोई बाधा नहीं है, जिसका तात्पर्य यही लेना चाहिए कि वह जन-भाषा का आदर्श सामने रखकर चलने वाले हैं।

स्वयंभू और तुलसी में इसी तरह का एक और निकट-साम्य लक्षित होता है। स्वयंभू के पउमचरिउ में राम-कथा का प्रारम्भ श्रेणिक की शंका से होता है :—

"परमेसर पर-सासणेहिं सुव्वइ विवरेरी।
कहें जिण-सासणे केम थिय कह राघव-केरी॥ १.९.

—हे परमेश्वर दूसरों के शासन में रामकथा उल्टी सुनी जाती है, इसलिए कहिए कि जिन शासन में राम की कथा कैसी है?

हिन्दू-विचार-धारा में प्रचलित राम-विषयक धारणा पर व्यंग्य करता हुआ श्रेणिक आगे पूछता है :—

जइ रामहों तिहुअणु उवरें माइ। तो रावणु कहिं तिय लेवि जाइ॥

—यदि तीनों लोकों की अवस्थिति राम के उदर में है तो रावण उनकी सीता को कहाँ ले गया ?

इसी तरह तुलसी के मानस में भी पार्वती शंका करती है :—

जो नृप तनय त ब्रह्म किमि, नारि-विरह मति भोरि।
देखि चरित महिमा सुनत, भ्रमति बुद्धि अति मोरि।। १–१०८.

भरद्वाज की जिज्ञासा भी इसी से मिलती हुई है :—

प्रभु सोइ राम कि अमर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि।
सत्य धाम सर्वज्ञ तुम्ह कहहु विवेक विचारि।। १.४६.

स्वयंभू के पउमचरिउ में श्रेणिक की शंका का समाधान करने के लिए गणधर गौतम राम-कथा की उत्पत्ति यों बताते है :—

वद्धमाण मुह कुहर विणिग्गय। राम-कहा णइ एह कमागय।।

....

एहराम कह सरि सोहन्ती। गणहर देवहि दिट्ठ वहन्ती।।
पच्छइ इन्दभूइ-आयरिए। पुण धम्मेण गुणालंकरिए।।
पुणु पहवे संसारा राएं। कित्ति हरेण अणुत्तरवाएं।।
पुणु रविषेणायरिय पसाएं। बुद्धिए अवगाहिय कइराएं।। १.२

तुलसी के मानस में राम-कथा की परम्परा इस प्रकार वर्णित है—

संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहिं सुनावा।।
सोइ सिव कागभुसुंडिहिं दीन्हा। राम-भगति अधिकारी चीन्हा।।
तेहि सन जागबलिक पुनि पावा। तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा।।
मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत।
समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउं अचेत।।१–३०

'मानस' के श्रोताओं की शंका तो राम के ब्रह्मत्व या अलौकिकत्व से सम्बन्ध रखती है, पर 'पउमचरिउ' में श्रेणिक की शंका ब्राह्मण परम्परा में प्रचलित राम-कथा के सभी पात्रों की अलौकिकता या अस्वाभाविकता के सम्बन्ध में है। स्वयंभू ने राम-कथा की उत्पत्ति जैनधर्मानुसार बताई है तो तुलसी ने ब्राह्मण-परम्परा में प्रचलित विश्वास को अभिव्यक्त किया है। पर दोनों महाकवियों का यह अन्तर तो धर्म-भेद के कारण है। जिस बात पर यहाँ ध्यान केन्द्रित करने का प्रयास किया जा रहा है वह है स्वयंभू और तुलसी के काव्य-रूप में साम्य। लक्ष्य करने की बात यह है दोनों मे राम-कथा का रूप भिन्न होते हुए भी दोनों की वर्णन-शैली में, बहुत कुछ साम्य है। कथा का रूपक लगभग एक-सा है। संवाद-शैली दोनों में एक-सी है। यह समानता केवल आकस्मिक है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

प्राकृत-अपभ्रंश-काल से प्रवाहित होती हुई चरित-काव्य की जो विशेषताएँ हिन्दी में आईं और उसके चरित-काव्यों में दृष्टिगत होती हैं उन सब पर अन्य कवियों के साथ स्वयंभू का का भी प्रभाव मानना ही पड़ेगा। अपभ्रंश-साहित्य में स्वयंभू का जो स्थान है और साथ ही अपभ्रंश का हिन्दी से जो नैकट्य है उसे देखते हुए यह कहना अधिक संगत प्रतीत होता है कि स्वयंभू का हिन्दी के चरित-काव्यों पर सबसे अधिक प्रभाव है। 'कृष्णायन'[1]

१—द्वारका प्रसाद मिश्र : कृष्णायन, प्रस्तावना, पृ० ४।

की प्रस्तावना लिखते हुए डा० धीरेन्द्र वर्मा और डाक्टर बाबूराम सक्सेना ने कहा है कि गोस्वामी जी ने जब रामचरित मानस की रचना की तो उस समय उनके ध्यान में वह सम्पूर्ण पूर्वकालीन चरित-साहित्य रहा होगा। उन्होंने विषय की सामग्री "नाना पुराणनिगमागम" से ली, विभागों के नाम रामायण से लिए और एक दोहा कहकर सात-आठ चौपाई और फिर एक दोहा और सात-आठ चौपाई का क्रम अपभ्रंश के चरित-काव्यों से ग्रहण किया। कभी ऐसी धारणा थी कि हिन्दी में दोहा-चौपाइयों में चरित काव्य लिखने की परम्परा का आरम्भ सूफी कवियों ने किया। किन्तु अब यह माना जाने लगा है कि इसका आरम्भ और पहले से ही हो गया था।[1] वस्तुतः इस परम्परा का आरम्भ अपभ्रंश में हुआ। "महाकाव्य की रचना जिस रूप में हुई उसमें अन्याय तत्व संस्कृत महाकाव्यों से अवश्य गृहीत हुए, किन्तु उसकी शैली अपभ्रंश से प्रेरित हुई। "रामचरित मानस" की दोहे-चौपाई की शैली तुलसी की मौलिक शैली नहीं। इसकी प्रेरणा सिद्धों के काव्य से मिली। इन सिद्धों में सरहपाद और कृष्णाचार्य के काव्यों में चौपाई और दोहे की शैली मिलती है। यह शैली अपभ्रंश की पुरानी शैली कही जाती है जिसमें दस या बारह चौपाइयों के पश्चात् घत्ता या उल्लाला लिखने का चलन अधिक था। किन्तु जिस छन्द को हिन्दी में चौपाई कहा गया है वह अपभ्रंश में दो प्रकार से उपलब्ध है। एक तो पज्झटिका और दूसरा अलिल्लह। अपभ्रंश का यही अलिल्लह छन्द हिन्दी की चौपाई से बहुत कुछ साम्य रखता है। अन्तर केवल लघु गुरु का है। जहाँ चौपाई के अन्त में गुरु होते हैं, वहाँ अलिल्लह में दो लघु का होना आवश्यक माना जाता है। इस प्रकार दस-दस या बारह-बारह अलिल्लह या पज्झटिका के पश्चात् घत्ता या उल्लाला रखने की शैली को अपभ्रंश में कडवक नाम से पुकारा गया।"[2]

कडवक-बद्ध काव्य-रचना का आरम्भ अपभ्रंश में हुआ, इस विषय में अब दो मत नहीं रह गये हैं। मतभेद हो सकता है तो केवल इस विषय में कि यह शैली पहले बौद्ध-सिद्ध कवियों के बीच विकसित हुई या जैन कवियों के बीच। यहाँ भी धर्म-भेद के कारण निर्णय में बड़ी बाधा है। जैसा कि हम देख चुके हैं स्वयंभू ने पज्झटिका छंद के लिए चतुर्मुख का स्मरण किया है। हो सकता है कि इसमें देश-व्यवधान भी एक कारण रहा हो। सरहपा पूर्व प्रदेश के रहने वाले थे, जबकि स्वयंभू का कार्य-क्षेत्र दक्षिण में था। किन्तु जिस तथ्य पर यहाँ ध्यान केन्द्रित करना है वह यह है कडवक-शैली में वृहत्तर-स्तर पर प्रयोग स्वयंभू ने ही किया, सरहपा ने नहीं। सरहपा की रचनाएँ फुटकर रूप में हैं। किन्तु स्वयंभू ने कडवक-शैली में दो विशालकाय महाकाव्यों की रचना की। इसलिए यह तो स्पष्ट ही है कि कालान्तर में हिन्दी के चरित-काव्यों तक इस शैली का प्रसार "पउमचरिउ" और "रिट्ठणेमिचरिउ" के कारण हुआ होगा।

छंद-विधान के साथ अपभ्रंश से हिन्दी ने उसकी अनेक काव्य-रूढ़ियाँ भी प्राप्त कीं। हिन्दी के चरित काव्यों के प्रारम्भ के मंगलाचरण, आत्म-निवेदन, दुर्जन-निन्दा, सज्जन-प्रशंसा आदि को स्वयंभू के पउमचरिउ या रिट्ठणेमिचरिउ से मिला कर देखा जा सकता है कि दोनों में कितना साम्य है। हिन्दी के चरित-काव्यों में जिस चीज को छोड़ दिया गया वह है पूर्ववर्ती कवियों का नाम-स्मरण और गुणगान। नख-शिख-वर्णन की रूढ़ि भी हिन्दी ने अपभ्रंश से

१—हिन्दी साहित्य का आदि-काल, पृ० ९६।

२—शकुन्तला दुबे : काव्य रूपों के मूल स्रोत और उनका विकास, पृ० २७—२८।

प्राप्त की। संध्या, ऊषा, प्रभात, रात्रि, उद्यान, उपवन, नगर, गढ़—इनके वर्णन के सम्बन्ध में अपभ्रंश-कवियों ने कुछ नई रूढ़ियों को जन्म दिया। हिन्दी कवियों ने उन्हें ज्यों का त्यों ग्रहण कर दिया। निस्सन्देह इन रूढ़ियों का प्रारम्भ स्वयंभू से हो जाता है। स्वयंभू ने संस्कृत साहित्य में प्रचलित कवि-समयों (जैसे हंस का नीर-क्षीर विवेक, सुन्दरियों के चरणों के आघात से अशोक का खिलना) को अपने काव्य में आश्रय नहीं दिया। हम देखते हैं कि हिन्दी कवियों ने उनका सर्वथा परित्याग तो नहीं किया पर उनका व्यवहार विरल जरूर हो गया।

परवर्ती हिन्दी कवियों पर स्वयंभू की भाव या विचारधारा का प्रभाव ढूंढ़ निकालना कठिन है। इसका मुख्य कारण यह है कि स्वयंभू एक जैन कवि थे और उन्होंने जो कुछ लिखा वह जैन धर्म के आदर्शों के प्रचार और प्रसार के लिए। राम और कृष्ण-कथा को, जो प्राचीनकाल से हिन्दी कवियों की रचनाओं का उपजीव्य होती आ रही थी, स्वयंभू ने जैन मान्यताओं के अनुसार नये आदर्शों में ढाल दिया। यह कैसे संभव था कि अपने अवतारों और आराध्यों को इस प्रकार जैन मतावलम्बी बनाये जाते हुए देखकर भी हिन्दू कवि स्वयंभू की विचार-धारा को मान्यता देते या उसे ग्रहण करते? काव्य-रूप-छंद और प्रबन्ध-रूढ़ियों का अपनाया जाना तो समय की माँग थी, किन्तु उनके द्वारा अभिव्यक्त धार्मिक विचारों और भावनाओं की बात नितान्त भिन्न है। वस्तुतः इस धार्मिक व्यवधान के कारण अपभ्रंश-साहित्य की भाव-धारा का पूरा मर्म हिन्दी-साहित्य तक नहीं पहुँच पाया। नामवर सिंह का यह कथन यथार्थ है कि "चौदहवीं शताब्दी के सांस्कृतिक पुनर्जागण के कारण अपभ्रंश से आती हुई भावधारा में इतना परिवर्तन हो गया कि हिन्दी-साहित्य में उसने जो संत-भक्ति काव्य का रूप लिया उससे अपभ्रंश साहित्य की धार्मिक चेतना का सीधा सम्बन्ध नहीं दिखाई पड़ता।[1]" चौदहवीं शताब्दी का सांस्कृतिक पुनर्जागरण मध्य देश की अपनी सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों की उपज है, यह वह प्रदेश है जिसमें जैन धर्म का जोर कभी नहीं था। अपभ्रंश की रचनाएँ भी इस भू-भाग में नहीं हुई। इसलिए अपभ्रंश के अधिकांश साहित्य का इस प्रदेश की साहित्य-साधना से सीधा सम्बन्ध कभी नहीं रहा। संत और भक्त कवियों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि जैन कवियों से नितान्त भिन्न होने के कारण दोनों के काव्य में भाव-साम्य की आशा नहीं करनी चाहिए।

इसलिए हिन्दी के प्राचीन अथवा मध्य युगीन एक-एक कवि को लेकर उस पर स्वयंभू के प्रभाव को ढूंढ़ने का प्रयत्न यहाँ नहीं किया गया है। अलंकारों में या किन्हीं वस्तु-वर्णनों में कुछ साम्य मिल भी जाय तो उसे भावधारा का प्रभाव नहीं कहा जा सकता। स्वयंभू के तो उपमान भी प्रायः जैन-वातावरण से ही गृहीत हैं। उनका अप्रस्तुत-विधान जैन धर्म और दर्शन के तत्वों से अभिभूत है।

इधर डा० प्रेमसागर जैन के प्रयत्नों के फलस्वरूप "हिन्दी जैन भक्ति-काव्य और कवि"[2] नामक पुस्तक के रूप में हिन्दी की कुछ ऐसी सामग्री प्रकाश में आई है जिस पर स्वयंभू के प्रभाव का अध्ययन उपादेय सिद्ध हो सकता है। भाव-धारा के साम्य के कारण सम्भव है कि स्वयंभू का प्रभाव मध्य-कालीन जैन हिन्दी कवियों पर लक्षित किया जा सके। जैसा कि गत अध्याय में दिखाया जा चुका है स्वयंभू ने कुछ स्थलों पर भक्त जैसी भाव-प्रवणता दिखाई है।

१—नामवर सिंह, पृ० २९८।
२—दे० अध्याय ९, पृ० ३१८।

यह सर्वथा संभव है कि मध्यकालीन जैन भक्त कवियों ने स्वयंभू से इस दिशा में बहुत कुछ ग्रहण किया हो, किन्तु प्रस्तुत साक्ष्य के आधार पर स्वयंभू को भावाधारा का हिन्दी के सन्त और भक्ति काव्य पर कोई प्रभाव नहीं दिखाई देता। यह प्रभाव केवल काव्य रूप, छंद-विधान और प्रबन्धात्मक रूढ़ियों तक सीमित है।

* * * *

उपसंहार

पिछले कुछ अध्यायों में स्वयंभू के समय के निश्चय से आरम्भ करके उनके काल की परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में उनकी प्रधान कृतियों के काव्य-गुणों के अध्ययन का यत्किंचित् प्रयत्न किया है। "पउमचरिउ" और "रिट्ठणेमिचरिउ का अवगाहन करने के परिणामस्वरूप एक बड़े ही प्रतिभा-सम्पन्न और व्युत्पन्न-मति कवि का चित्र सामने उपस्थित होता है। परम्परा की रूढ़ियों को तोड़कर अपभ्रंश के नाम से जो एक नई भाषा उस समय जन्म लेकर रूप ग्रहण कर रही थी स्वयंभू जैसे शक्तिशाली व्यक्तित्व के कवि का आश्रय पाकर अल्पकाल में ही वह पूर्ण यौवन के उत्कर्ष पर पहुँच गई। अभिव्यक्ति की नई शैलियों से समन्वित कर स्वयंभू ने अपभ्रंश को इस योग्य बना दिया कि वह एक पूरे युग की मनोवृत्तियों को प्रतिबिम्बित करने में समर्थ हो सकी।

ओज स्वयंभू की कविता का सबसे बड़ा गुण है। किसी बात को लचर या शिथिल ढंग से कहना वह जानते ही नहीं। पर्वतीय निर्भर की भाँति उनकी वाक्यावली जब किसी भाव, विचार या तथ्य के स्पष्टीकरण में आवृत्तिमय ढंग से बह निकली है तो पाठक का विस्मय-विमुग्ध मन उसमें आप्लावित हुए बिना रह नहीं सकता। चाहे किसी धर्म-तत्व का निरूपण हो, या किसी कोमल-कान्त भावना का, स्वयंभू के शक्तिशाली, ओजमय व्यक्तित्व का अनुभव किए बिना रह सकना असम्भव है। जिनेश्वर की वन्दना में भी, जहाँ साधारणतः विनम्रता अपेक्षित होती है स्वयंभू के कथन की भंगी में विशेष परिवर्तन नहीं लक्षित होता। उनकी भाव-प्रवणता में भी विचित्र ओज है।

काव्य-प्रेमियों को सीता का चित्र स्वयंभू की अनुपम भेंट है। विरागमूलक धर्म का जीवन भर प्रचार करने वाला जो कवि स्त्री-विषयक आसक्ति की निन्दा करते कभी नहीं थकता वह एक स्त्री की इतनी भव्य, ओजस्विनी और प्रभावपूर्ण मूर्ति गढ़ सकता है, यह देखकर आश्चर्य होता है। स्त्री-रति के प्रति स्वयंभू के पास निन्दा के अतिरिक्त कुछ नहीं है। पर अपने स्त्री-पात्रों को उन्होंने सदैव ऊँचाई पर रखा है। यह उस व्यक्ति के स्त्री-सम्मान के भाव का सूचक है।

हिन्दी के लिए दुर्भाग्य की बात यह रही है कि जिस भाषा से उसका इतने निकट का सम्बन्ध है उसकी एक सर्वोत्कृष्ट प्रबन्धात्मक प्रतिभा से उसका सामान्य परिचय तक बहुत दिनों तक नहीं हो सका। यह निश्चित है कि पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ की रचना के पश्चात् बहुत दिनों तक उनका अध्ययन और रसास्वादन जन-सामान्य में होता रहा होगा। जैन-समाज में उनका धार्मिक महत्व था तो इतर सम्प्रदायों में काव्य-सौष्ठव के कारण उनका आदर रहा होगा। जब इतिहास ने करवट बदली और मध्यकालीन राजनीतिक उथल-पुथल के झंझावात से भारतीय संस्कृति की कितनी ही निधियाँ तितर-बितर होकर नष्ट हो गईं उस समय कौन जाने पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ की कितनी पाण्डुलिपियाँ भस्मसात् न हुई होंगी। आज के लिए उनकी तीन-चार प्रतियाँ ही शेष बची हैं।

अब समय बदल गया है और आशा है कि एक महान् कवि की महान् काव्य-कृतियों के अध्ययन का नये सिरे से उपक्रम होगा।

सहायक पुस्तकों की सूची

१.	कामिल बुल्के	रामकथा, १९६२।
२.	गणेश वासुदेव तगारे	अपभ्रंश ग्रामर।
३.	गौरीशंकर हीराचन्द ओझा	मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, १९२८।
४.	चन्द्रधर शर्मा गुलेरी	पुरानी हिन्दी सं० २००५ वि०।
५.	जगदीश चन्द जैन	प्राकृत साहित्य, १९६१।
६.	जयचन्द विद्यालंकार	भारतीय इतिहास का उन्मीलन १९५६। भारत भूमि और उसके निवासी, १९३१।
७.	जिनसेन	हरिवंश पुराण।
८.	दंडी	काव्यादर्श।
९.	नरेन्द्रनाथ	प्राकृतिक भाषाओं का रूप-दर्शन, १९६२।
१०.	द्वारिका प्रसाद मिश्र	कृष्णायन।
११.	नामवर सिंह	हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग।
१२.	नाथूराम प्रेमी	जैन साहित्य और इतिहास, १९५६।
१३.	पुष्पदन्त	हरिवंशपुराण।
१४.	प्रेमसागर जैन	जैन भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि। हिन्दी-जैन भक्ति काव्य और कवि, १९६४।
१५.	भरत	नाट्यशास्त्र।
१६.	भागवत शरण उपाध्याय	सांस्कृतिक भारत, १९५५।
१७.	भामह	काव्यालंकार।
१८.	मुरलीधर श्रीवास्तव	हिन्दी तद्भव शास्त्र, १९६१।
१९.	रविषेण	पद्मचरित।
२०.	रामकुमार वर्मा	हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास।
२१.	रामगोपाल भंडारकर	वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलीजंस ऑफ इंडिया।
२२.	राजबली पाण्डेय	भारतीय इतिहास का परिचय।
२३.	रामचन्द्र शुक्ल	जायसी-ग्रंथावली।
२४.	रामदास गौड़	हिन्दुत्व।
२५.	राहुल सांकृत्यायन	दोहा-कोश।
२६.	विपिन विहारी त्रिवेदी	रेवातट।
२७.	विमलसूरि	पउमचरिय।
२८.	वीणा पाणी (श्रीमती)	हरिवंश पुराण का सांस्कृतिक अध्ययन।
२९.	शम्भूनाथ सिंह	हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास।
३०.	शकुन्तला दुबे (श्रीमती)	काव्य-रूपों के मूल स्रोत और उनका विकास।
३१.	शिवप्रसाद सिंह	कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा।
३२.	हरिवंश कोछड़	अपभ्रंश-साहित्य।
३३.	हजारी प्रसाद द्विवेदी	हिन्दी साहित्य की भूमिका। हिन्दी साहित्य का आदिकाल।
३४.	हिरण्मय	हिन्दी और कन्नड भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन।
३५.	हीरालाल जैन	भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योग।